

नोंदणी क्रं. एफ.१६०९४(मुंबई)



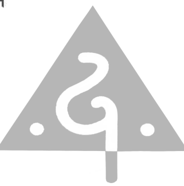


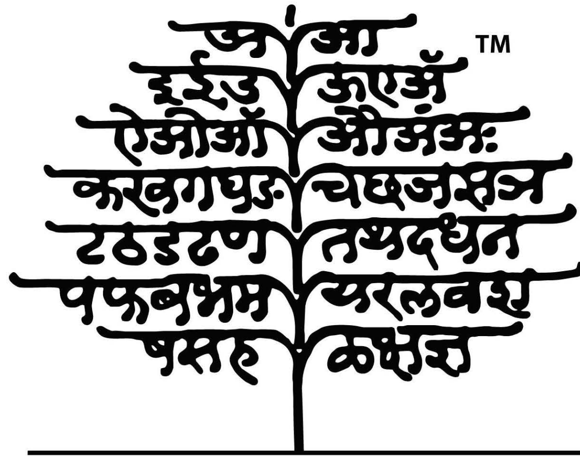
महाराष्ट्र शासन
मराठी भाषा विभाग
राज्य मराठी विकास संस्था
एल्फिन्स्टन तांत्रिक विद्यालय, ३, महापालिका मार्ग,
धोबीतलाव, मुंबई - ४००००१ दूरध्वनी : (०२२) २२६३१३२५ / २२६५३९६६
संकेतस्थळ https://rmvs.marathi.gov.in इ-पत्ता rmvs_mumbai@yahoo.com

निवेदन

अनुक्रमणिका







मराठीचा विकास : महाराष्ट्राचा विकास

राज्य मराठी विकास संस्थेद्वारे
संगणकीकृत



राज्य मराठी विकास संस्थेद्वारे
संगणकीकृत



दीपावली

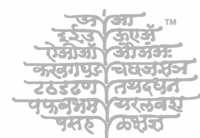
दिवाळी वार्षिक

१९६१

दलाल आर्ट स्टूडिओ प्रकाशन

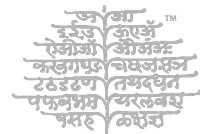
मूल्य ३ रुपये

अनुक्रमणिका





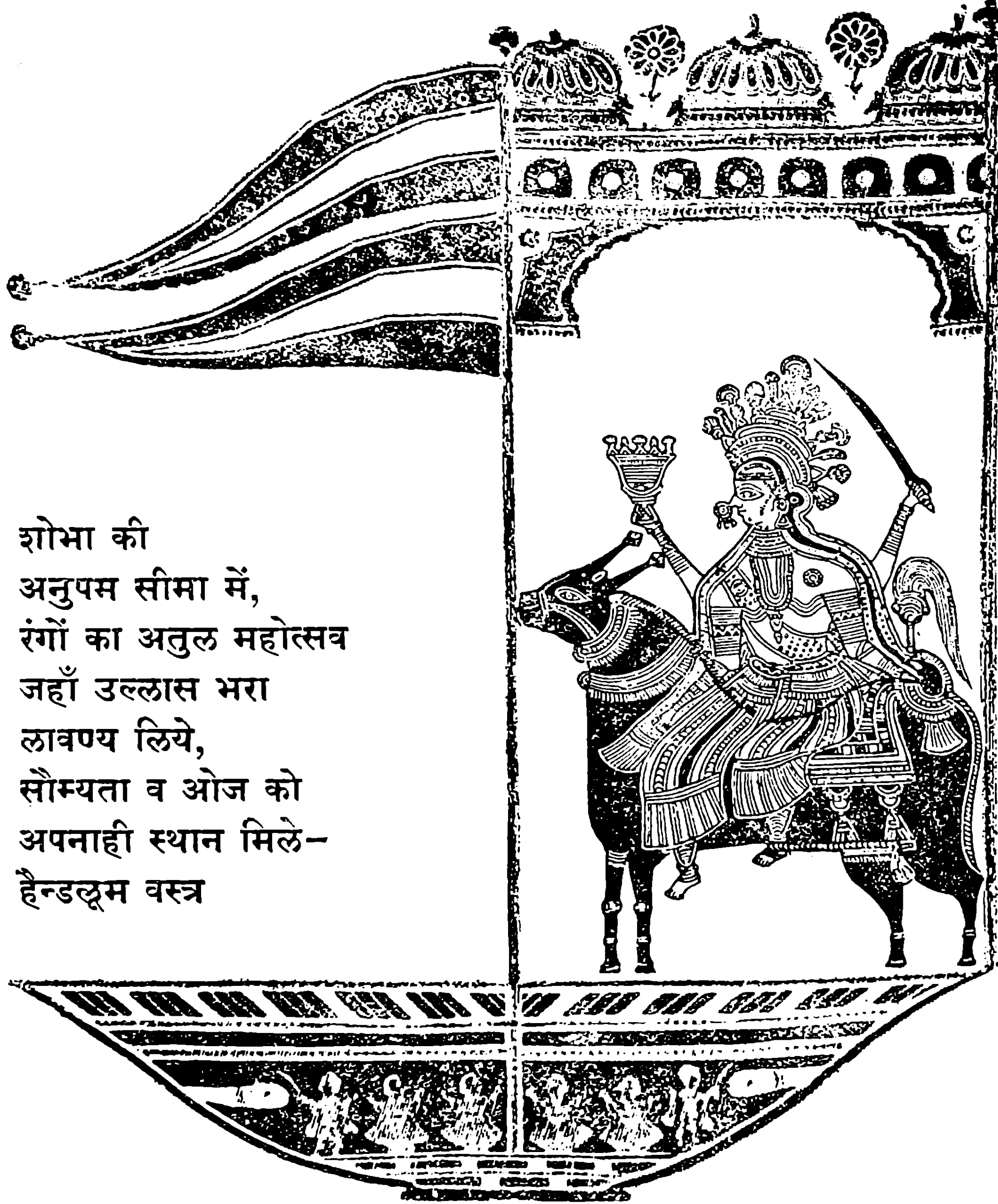
अनुक्रमणिका





बॉम्बे प्रोसेस स्टुडिओ तर्फे भेट

अनुक्रमणिका


शोभा की
अनुपम सीमा में,
रंगों का अतुल महोत्सव
जहाँ उल्लास भरा
लावण्य लिये,
सौम्यता व ओज को
अपनाही स्थान मिले–
हैन्डलूम वस्त्र

अनुक्रमणिका









राष्ट्रीय हिंदी वार्षिक

वर्ष नौवाँ : १९६१

श्रेयनामावलि

दलाल आर्ट स्टुडिओ प्रकाशन

संपादक : दीनानाथ दलाल
कार्य. संपादक : सुधाकर तोरणे

अनुक्रमणिका

ह द् ग त !

दीपावली राष्ट्रीय हिंदी वार्षिक के इस नौवें संकलन को हमारे रसज्ञ पाठकों के सामने प्रस्तुत करते समय हमें असीम आनन्द हो रहा है ।

'नित्य नूतन !' यही दीपावली का नारा है । और उसी के मुताबिक दीपावली का यह संकलन अधिक सुंदर तथा समृद्ध करनेका हमारा विनम्र प्रयत्न इस साल भी रहा है ।

इस वर्ष दीपावली को हिंदी तथा मराठी साहित्य के सर्व श्रेष्ठ साहित्यिकों की श्रेष्ठ कृतियों से और साथ साथ उदयोन्मुख साहित्यिकों की उत्कृष्ट रचनाओं से हमने सजाने का भरसक प्रयत्न किया है ।

प्रति वर्ष के अनुसार ही भारत विख्यात ऑफसेट मुद्रक श्री शिवराज फाईन आर्ट लिथो वर्क्स, नागपूर के संचालक और हमारे दोस्त श्रीमान बाबूराव धनवटे तथा धनवटे बंधुओंने इस वर्ष की चित्रमाला उत्कृष्ट पद्धति से छपवायी है । इस अंक की मुद्रण की जिम्मेदारी कर्नाटक मुद्रणालय के व्यवस्थापक साथी कृष्णा करवार तथा अन्य कामगार साथियों पर थी । उन्हों ने अपना काम बेहद लगन से किया है इस बात का सबूत है यह अंक । हम उनके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करते हैं ।

मेसर्स टॉम ॲण्ड बे के साथी गणेशराव ताम्बे तथा साथी दाभोलकर हमें प्रतिवर्ष सहयोग देते आये हैं । हम उनके कृतज्ञ हैं ।

बॉम्बे प्रोसेस के संचालक साथी कामत तथा प्रभात प्रोसेस के संचालक साथी कडव इन्हों ने ही इस अंक की शोभा दुगुनी की है ।

संपादन-कार्य में साथी मनोहर चंदावरकर का सहयोग शब्दों में अंकित करना असंभव है । साथी कृष्ण कुमार गौर, बाबा परुळेकर तथा कु. सुरेखा तोर्णे इनकी सहायता भी बहुमोल है । इनके प्रति हम अपनी कृतज्ञता कैसे प्रकट करें ?

यह दीपावली तथा नूतन वर्ष हमारे रसिकों, पाठकों, लेखकों, विज्ञापनदाताओं, तथा हितैषियोंको सुखसमृद्धिप्रद हो ।

—सम्पादक



प्रकाशन स्थल : दलाल आर्ट स्टुडिओ ४०-४२ केनेडी ब्रिज, बम्बई ४	ऑफसेट छपाई : श्री शिवराज फाईन आर्ट लिथो वर्क्स, नागपूर	मुद्रण स्थळ : कर्नाटक मुद्रणालय कर्नाटक हाऊस, चिरा बझार, बम्बई २	ब्लॉक्स: बॉम्बे प्रोसेस स्टुडिओ प्रभात प्रोसेस स्टुडिओ बम्बई

१९५५ का चित्रसंकलन :	मूल्य रु. १–५० न. पै	१९५९ का चित्रसंकलन :	मूल्य रु. २–५० न. पै
१९५८ का चित्रसंकलन :	मूल्य रु. २–०० न. पै	१९६० का चित्रसंकलन :	मूल्य रु. २–५० न. पै

चारों एक साथ : मूल्य रु. ७–०० अधिक रजिस्ट्री खर्च रु. १–००

Printed by B. G. DHAWALE at Karnatak Printing Press, Karnatak House, 542 BC, Girgaum Road, Chira Bazar Bombay-2 and Published by D. D. DALAL at Dalal Art Studio, 42, Kennedy Bridge, Bombay-4.



इति एक अदा!

और केतकी ने बड़ी नज़ाकत से अपना हाथ हिलाया। अल्ताफ़ उल्लसित स्वर में इतना ही कह पाया – 'आदाबर्ज़'! उसी अल्ताफ़ को आते देखकर श्यामा खिल उठी। वह बोला, "आप बुलायें और मैं न आऊँ...

केतकी ने अदब से कार का पिछला द्वार खोल कर कहा – 'आइए।'

अल्ताफ हुसेन ने यंत्रवत कहना चाहा – 'पहले आप।' पर फिर न जाने क्या सोच कर वह अन्दर जा बैठा। कार का पूरा चक्कर काट कर केतकी ड्राइवर के स्थान पर आ गयी। तब जैसे अल्ताफ को किसी नई बात का पता लगा हो – 'आप ड्राइव करेंगी?'

केतकी ने सैल्फ दबाते हुए कहा – 'आपकी इच्छा है।'

'मेरी।' अल्ताफ हँस पड़ा – 'मुझे तो अलिफ के नाम बे भी नहीं आता।'

'सीखिएगा।'

'जहे किस्मत आप सिखाएंगी!'

'क्यों नहीं, शुरू कीजिए। बड़ा अच्छा वक्त है। न भीड़ न शोर।

अल्ताफ ने सहसा अविश्वास से केतकी की ओर देखा। बोला – 'क्या अभी! इतनी रात को!'

'जी, हाँ। ड्राइविंग के लिए आधी रात से बढ़ कर अच्छा वक्त नहीं होता।'

कार तब तक नई दिल्ली के धूमिल अंधकार और निर्जन मौन पर प्रहार करती हुई कर्जन रोड होकर इंडिया गेट की दिशा में तेज़ी से दौड़ने लगी थी। गति ५० मील से कम न होगी। अल्ताफ को लगा जैसे वह उड़ा जा रहा है। उसने यह भी अनुभव किया कि कार बढ़िया है क्योंकि ड्राइविंग बड़ा स्मूथ है। सहसा वह बोल उठा – 'इंडिया गेट बहुत सुन्दर जगह है।'

शब्द मुँह से निकले ही थे कि कार की रफ़्तार कम होती चली गई। उस समय वहाँ अपूर्व शान्ति छा रही थी। धूमिल अन्धकार के आवरण में छिपा हुआ प्रशस्त मैदान, दूर एक कोने में मौन-मंद

विष्णु प्रभाकर

छोटा-सा गोलाकार बाजार, विद्युत दीपों के प्रतिबिम्ब से झिलमिलाते जलाशय और लान की रविश पर मौन मन्थर गति से चहलकदमी करते हुए एक-दो प्रेमी युगल। कार तब तक सम्राट जॉर्ज की प्रतिमा के पास से इंडिया गेट में प्रवेश करके राष्ट्रपति भवन की ओर जानेवाली सड़क पर आ गई थी। निरन्तर ऊपर उठते हुए विद्युत-दीप उस विपुल स्निग्ध मौन के मानों प्रहरी थे। अल्ताफ ने विशाल भवनों की ओर देखा जो अंधकार में झिलमिलाते दीप-स्तम्भों के समान थे। फिर धीरे से कहा – 'इन्सान ने कुदरत को पालतू बनाने की कितनी कोशिश की है।'

केतकी ने कोई जवाब नहीं दिया। लौट कर गेट के पास आई और बाईं ओर पार्किंग के लिए जो स्थान था वहीं लाकर गाड़ी रोक दी। फिर घूम कर अल्ताफ के द्वार के पास आई। उसे खोला; कहा – 'आइए। कुछ देर लान में बैठेंगे।'

'देर न हो जाएगी।'

'इस शान्त-मौन वातावरण के सामने समय की कोई क़ीमत नहीं है, शायर साहब।'

अल्ताफ को लगा जैसे यह नारी उसे पराजित करने पर तुली हुई है। उसने दृढ़ता से कहा –' अभी तो कई दिन हूँ। फिर आ सकता हूँ।'

'पर मैं नहीं आ सकती।'

'बाहर जा रही हैं?'

'जी हाँ। काश्मीर जा रही हूँ। मेरे हस्बेंड वहीं पर हैं।'

'आपके हस्बेंड!'

'जी हाँ, मेरे। कोई शक़ है।'

'जी नहीं। माफ कीजिएगा। शायद कवि हैं, घूमने गए हैं।'

केतकी हँस आई। बोली – "आप भी खूब हैं। कवि होते तो मैं यहाँ रहती। व्यापारी हैं। स्वास्थ्य सुधारने के लिए गये हैं।'

अल्ताफ तब तक न जाने किस क्षण उतर कर केतकी के साथ लान में चहलकदमी करने लगा था। हर कदम के बाद उनके बीच का फासला कम होता जा रहा था। चलते-चलते उस अंधकार में, जहाँ उन्हें कोई नहीं देख सकता था, और वे सब को देख सकते थे, सहसा केतकी बैठ गई। बैठ क्या गई, उसने अपने-आप को मुक्त भाव से भूमि से तादात्म्य स्थापित करने दिया। अल्ताफ भी यंत्रवत् अचकन संभालता हुआ पास ही मानों गिर पड़ा। यह अच्छा था कि उस अंधकार में वे एक दूसरे को प्रयत्न करनेपर भी ठीक-ठीक नहीं देख पा रहे थे। इसलिए समझने की कोशिश कर रहे थे। कुछ क्षण मौन रह कर केतकी बोली – " आपने देखा कि गोष्ठी में कैसे कुछ लोग बीसवीं सदी में भी मशीन की शक्ति से इन्कार कर रहे थे। माना मनुष्य ने मशीन का आविष्कार किया है; परन्तु उसकी उपयोगिता और शक्ति के कारण ही तो अन्तरिक्ष यान के इस युग में आप उससे भैंसा गाड़ी या बैल गाड़ी का प्रयोग करने को कहें तो क्या वह निरी मूर्खता नहीं होगी?"

'परले सिरे की मूर्खता। निहायत भद्दी मूर्खता। बेवकूफ़ी!' अल्ताफ ने केतकी की हाँ-में-हाँ मिलाई – 'भला बताइए तो, हमें नई दुनिया तामीर करनी है और लौटना चाहते हैं बाबा आदम के जमाने में। यानी फिर नए सिरे से शुरु करें। अब तक इन्सान ने जो तरक्की की है, उस पर पानी फेर दें।'

फिर एक क्षण रुक कर बोला – 'यह श्यामाजी कौन हैं?'

'मेरा तो कोई परिचय नहीं। रमानाथ ने बताया था कि गाती बहुत अच्छा हैं। स्वतंत्र हैं। सरकारी नौकरी करती हैं।'

'शादी तो क्या की होगी।'

'वही कहता था–शादी को बन्धन मानती हैं।'

'अजीब बात है, फिर भी मशीन की मुखालफ़त करती हैं। मालूम होता है बुर्जुआ तहज़ीब की औलाद हैं। खूब खेलना और फिर उस पर तमद्दुन का भड़कीला पर्दा डाल कर मासूमियत से बातें करना, उन्हें खूब आता है।'

एक क्षण फिर रुक कर बोला–'लेकिन पढ़ी-लिखी जान पडती हैं।'

'खाक पढ़ी हैं। सोसाइटी में घूमती है। पिकअप कर लिया।'

अल्ताफ मुस्कराया–'जी, हाँ। आजकल इसी तरह आलिम बनने का फैशन है। कैपिटलिस्ट सोसाइटी की यह ख़सूसियत है।'

फिर चारों तरफ़ देख कर धीरे-से बोला– 'चलें। सन्नाटा गहरा हो गया है।'

'डर लगता है।'

'सन्नाटे से?'– अल्ताफ हँसा – 'लगता भी है और नहीं भी। सन्नाटा कैपिटेलिस्ट सोसाइटी की पनाहगाह है। अधियातम (अध्यात्म) का ढोंग यहीं तो चलता है। पर हम ठहरे कश्मकश में यक़ीन करने वाले। यहाँ रम जाएं तो क्लास स्ट्रगल कैसे हो!'

'आप बिल्कुल ठीक कहते हैं।'

'पर केतकी जी, जब ख़यालात को बाँधना होता है तो मुझे भी ऐसा लगता है कि मेरे चारों ओर सन्नाटा हो।'

'ठीक कहा आपने। मेरा भी कभी-कभी एकान्त में गाने को जी करता है।'

'यूँ कहिए, अपनी आवाज़ आप ही सुनने को जी करता है।'

'जी हाँ।' कह कर केतकी ने हँसना चाहा लेकिन एक दीर्घ निःश्वास खींच कर रह गई। फिर कई क्षण तक कोई नहीं बोला। उस विपुल मौन में जैसे उन्हें ग्रस लिया। उस समय प्रकृति, विशाल भवन, विद्युत दीप, इंडिया गेट, सम्राट जॉर्ज की प्रतिमा यहाँ तक कि आकाश और उसके प्रहरी मेघ सभी मौन थे। पर केतकी और अल्ताफ का अन्तरमन वह तब जैसे रौख नाद से काँप रहा था। बाहर का समस्त स्वर जैसे सिमट कर उनके अन्तर में समा गया हो। सहसा व्याकुल-व्यथित केतकी बोल उठी – 'चलिए, आपको छोड़ आऊँ। बारह बज चुके हैं।'

अल्ताफ चौंक पड़ा – 'इतनी जल्दी।' फिर उठता हुआ गुनगुनाया– 'इधर आँख झपकी उधर ढल गई वह, जवानी भी थी धूप एक दोपहर की।'

'क्या, क्या?' केतकी ने ठिठक कर पूछा–' क्या फरमाया आपने। जोर से कहिए।'

अल्ताफ ऐसे ही हँसा–'कुछ नहीं। एक बुर्जुआ शायर का क़लाम याद आ गया था।'

और उसने शेर दोहरा दिया। केतकी मुस्काई। बोली – 'जी हाँ, वह रात क्या जो एक कहानी में कट जाए।'

अल्ताफ तड़प उठा। देखता तो पाता कि एक रहस्यमयी मुस्कान केतकी के ओठों पर नाच रही है। लेकिन उसने शीघ्रता से कार स्टार्ट





करके उसको बेतहाशा दौड़ा दिया। फिर कई मिनट मौन छाया रहा। कार तेज़ी से दौड़ती रही। उस मौन को चीरती-कुरेदती रही। वह उनके मन में कसकता, तड़पता रहा और एक-एक करके सूनी सड़कें, मौन भवन, निद्रालु पार्क सब पीछे छूटते रहे। अन्धकार को तेज़ी से चीरती हुई कार की रोशनी के समान केतकी की विचारधारा भी उसके मस्तिष्क के किसी अन्धकार को चिरती जा रही थी। पर जैसा कि सड़क पर था प्रकाश वहाँ टिकता नहीं था। पानी में तैरते हुए जैसे एक मार्ग बनता है पर दूसरे ही क्षण सब कुछ समतल हो जाता है। सहसा उसने कार की गति कम की। ५० से ४५ फिर ४०, ३० पर होती हुई सुई १५ पर आकर रुकी। कुछ क्षण बाद केतकी ने विजय गर्व से कहा—'मशीन कितनी शानदार है।'

अल्ताफ चौंका—'क्या फरमाया?

'कहती हूँ मशीन कितनी शानदार है।'

'इसमें क्या शक है।'

केतकी ने दोनों हाथ चक्के पर रख कर अपने को ढीला छोड़ते हुए उल्लसित स्वर में, मानों वह कार उसीने बनाई हो, कहा—'श्यामाजी होती तो कहती—ऊहूँ मशीन की इसमें क्या शान है। मनुष्य चाहे जैसे उसे घुमाता है।'

फिर अल्ताफ को उत्तर का अवसर न देते हुए उसने एकाएक कार रोकी। अल्ताफ ने अचरज से देखा और कहा—'आहो, हम तो आ गए।'

'जी हाँ। मशीन की कृपा है।'

केतकी वैसे ही चक्के पर हाथ रखे बैठी रही। अल्ताफ घूम कर खिड़की के पास आया। बोला—'शुक्रिया।'

'कल का क्या प्रोग्राम है?'

'सवेरे कुछ जरूरी काम है। दोपहर तक फ़ुर्सत मिलेगी।'

'तो खाना मेरे साथ खाइएगा। एक बजे कार लेकर आऊँगी।' और उसने कार स्टार्ट करते हुए कहा—'कुछ और मित्र भी आएँगे। रमानाथ, श्यामा....'

अल्ताफ एकाएक बोला—'मुझे कोई एतराज़ नहीं। पर शाम को रखें तो।'

केतकी ने कहा—'मुझे मंजूर है। पर खाने से पहले महफिल भी जमेगी और बाद में लास्ट शो भी देखा जायगा।'

'जी।'

'जी हाँ।'

इस संक्षिप्त शब्दावली के पीछे अच्छा ख़ासा अर्थ गांभीर्य था। केतकी ने कार घुमा दी और ग्रीवा बाहर निकाल कर मुस्काई—'सो लोंग।'

और उसने बड़ी नज़ाकत से अपना हाथ हिलाया। अल्ताफ उल्लसित स्वर में इतना ही कह पाया—'आदाबर्ज।' तब तक केतकी की कार की रोशनी अन्धकार में गायब हो चुकी थी। एक गहरी साँस लेकर वह बोला—'दिल्ली में ज़िन्दगी है।'

केतकी जब घर लौटी तो क्लाक ने टन करके एक बजने की सूचना दी। घर में सन्नाटा था। केवल उसके कमरे से छन-छन कर रोशनी लान में बिखर रही थी। कार को गैराज में खड़ा करके उसने दरवाज़ा बन्द कर दिया। फिर अपने कमरे के पास वाली बालकनी में झाँक कर देखा। बहुत हल्का प्रकाश है। उसके पलंग के पास एक छोटे-से पलंग पर सोई है उसकी बेबी। कोई तीन साल की होगी। उसके प्रणय की प्रथम कली है। बाल भूरे—घुँघराले, नयन लम्बे, कुछ नील वर्ण लिए हुए। रंग रक्तिम गौर। मुख कुछ बड़ा। मस्तक ऊपर को झुकता हुआ जैसे बहुत-सी बातें बंगाल से होकर इस देश में फैली हैं। ऐसे ही कुछ उसके रूप के बारे में कहा जाता है। माँ कहती है—कि बिल्कुल मुझ पर गई है।... सहसा केतकी ने पाया जैसे कहीं तो लौटी हो। इस विचार ने उसे गुदगुदा दिया। वह कपड़े बदलने लगी। सामने उसके पति का चित्र लगा था। जैसा एक व्यापारी का हो सकता है। कभी कपड़े का व्यापार होता था। पर अब तो मोटर के पुर्जों की दूकान है। ख़ूब चलती है। अपनी मोटर है। नौकर-चाकर हैं। सोसायटी में घूमने की आदत है और केतकी के कारण कला के प्रति अनुराग भी पैदा हो रहा है।......न जाने क्या हुआ केतकी सहसा उदास हो आई। आँखों में वेदना उभरी। देखा, दाहिनी ओर दो पेंटिंग लगे हैं। उधर सितार टँगा है। तबले की जोड़ी भी है।... केतकी ने सहसा गर्दन को झटका दिया। फिर स्विच आफ़ कर दिया। बाहर आकर तेज़ी से पलंग पर गिर पड़ी। तभी न जाने कैसे घर की दासी जमना जाग आई। बोली—'मेम साहब आ गईं'

केतकी ने उस अंधकार में ही उखड़े स्वर में कहा—'हाँ।'

'खाना ले आऊँ?'

'नहीं।'

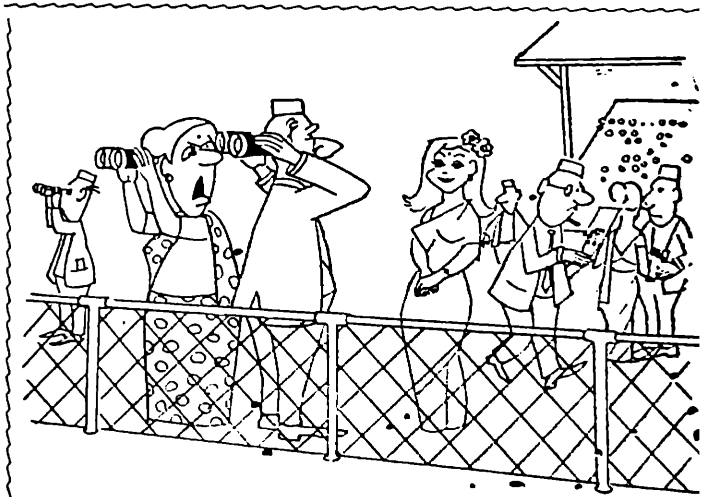
यह कह कर केतकी ने जम्हाई ली और फिर अलस भाव से शरीर को पलंग पर बिखर जाने दिया। कई क्षण बाद जैसे वह चौंकी, बोली—'मंगल को काश्मीर जाने का विचार है।'

जमना ने कहा—'जी, अच्छा।'

'और देख, कल शाम को आठ-दस व्यक्तियों का खाना है।'

'जी अच्छा।'

केतकी चाहती थी कि कोई उससे बातें करे। लेकिन इस जमना से वह क्या बात कर सकती है। विवश-व्याकुल उसने करवट बदल ली। लेकिन उसे नींद नहीं आ रही थी। कभी श्यामा की मूर्ति सामने आ



वा ऽ! शानदार! हमारा घोड़ा ही जितेगा!

अनुक्रमणिका

अनुक्रमणिका





जाती, कभी अल्ताफ की। कभी काश्मीर की बात सोचने लगती तो कभी नयनों में पति की मूर्ति उभर आती। बहुत भले आदमी है। केतकी की कोई बात नहीं टालते। उसका गाना सुन कर, उसके चित्र देखकर खूब प्रशंसा करते हैं। उसके नेत्रों का मुक्त मन से स्वागत करते हैं। पर फिर भी उसका असन्तोष बढ़ता ही जाता है। रिक्तता उभरती ही जाती है।

वह प्रशंसा ही तो करते हैं। कोई सुझाव नहीं दे पाते। सब कुछ अच्छा ही होता है क्या। उसका आशय है कि सब कुछ बुरा है। बुरा तो है ही। 'वह' मुझे प्रसन्न करने को अच्छा कहते हैं। उन्हें स्वयं कुछ अच्छा बुरा नहीं लगता। बस अपना व्यापार अच्छा लगता है। पैसा अच्छा लगता है।...... केतकी अतिशय विह्वल हो आई। पैसा ही तो जीवन का ध्येय नहीं है। पैसा पैदा करने का यह तरीक़ा शोषण को जन्म देता है। कालेज में जिस पूँजीवादी व्यवस्था की वह धज्जियाँ उड़ाया करती थी, आज वह उसी का अंग है। उसीके कारण उसके चारों ओर यह ऐश्वर्य है, यह चकाचौंध है।

उसे नींद आने लगी। पर जब तक वह सुषुप्ति की अवस्था में नहीं पहुँच गई, तब तक श्यामा की मुक्त मूर्ति उसके उलझे हुए मस्तिष्क को और भी उलझन में डालती रही। परिणामस्वरूप सवेरे जब वह उठी तो उसका हृदय शान्त नहीं था। जैसे वह रात भर दुःस्वप्न देखती रही हो। जैसे उसने कोई भयंकर पाप कर डाला हो। पर ऊपर से वह सदा की भाँति मुस्करा रही थी। वही अलस भाव, मुक्त केशराशि, मुस्कान विभूषित क्लान्त नयन, यह भी एक सौंदर्य है। निशान्त का सौंदर्य।

कार तैयार करके ठीक ८ बजे रामसिंह ने सूचना दी तो केतकी बेबी से उलझ रही थी। बेबी बज़िद थी कि वह भी साथ जायगी और केतकी का निश्चित मत था कि बच्चों को सोसाइटी में ले जाना अहितकर है। इसीलिए किसी तरह एक मोटर और तस्वीर वाली किताब लाने का वायदा करके केतकी उठ खड़ी हुई। उसने कार में बैठ कर रामसिंह से पूछा – 'तुम्हें कहीं जाना है?'

'जी नहीं।'

'तो बैठो।'

कार चल पड़ी तो सहसा उसे लगा कि जैसे रामसिंह को कोई काम निकल आता। न जाने क्या सोच कर उसने कार लोदी रोड की ओर मोड़ी लेकिन जा पहुँची बाराखम्बा की ओर। कनाट सर्कस का एक चक्कर काटा और रमानाथ के मकान के सामने कार रोक दी। रामसिंह उतर कर ऊपर चला गया कि सहसा उसकी दृष्टि एक युवक पर पड़ी। उसने हॉर्न बजाया। एक साथ कई दृष्टियाँ उसकी ओर उठीं। उन्हीं में वह बांसुरी – वादक भी था। इकहरा बदन, लम्बे बाल, लम्बी कमीज और महीन धोती। नेत्रों से बिखरता मधुर आह्लाद। सब उसे सुधीर कह कर पुकारते हैं। शीघ्रता से पास आकर उसने केतकी को नमस्कार किया। प्रत्युत्तर में केतकी ने मुस्करा कर हाथ जोड़े और बोली–'शाम को ७ बजे मेरे गरीबखाने पर आने की कृपा कीजिए। संगीत गोष्ठी है और उसके बाद'... सुधीर कुछ झिझका। केतकी की मुस्कराहट और गहरी हुई। मृदु मादक स्वर में बोली–' न, न, मना



किसानों का कोरस

नी र ज

धरती का जोबन जागे,
दुनियाँ से दुख सब भागे,
खुशियाँ हों आगे-आगे—
कुटिया महल बन जाय, हलों की फाल तेज करो!

जिसके हाथ कुदाली उसके हाथों में तकदीर है,
दुनियाँ सारी क्या है–केवल मेहनत की तस्वीर है,
धरती ही है अन्नपूर्णा औ' श्रम ही भगवान् है,
मन्दिर-मस्जिद तो मज़हब के पंडों की दूकान है,
दूकानें ये सब टूटें,
मानव के बंधन छूटें,
जी भर कर सब सुख लूटें,
कोई दुखी न रह पाय, हलों की फाल तेज करो।
धरती का जोबन जागे॥

तट-पनघट-बंसीवट सूने सूनी हर चौपाल है,
ऐसी घिरी उदासी जैसे खुशियों की हड़ताल है,
पड़े न भाँवर, होय न गौना, सजे न कोई पालकी,
रूठी है किस्मत ज्यों रूठे लड़की सोलह साल की,

दुखड़ों की उमर घटा दो,
आँसू का ब्याह करा दो,
मरघट को बाग़ बना दो,
फूलों की रित फिर आय, हलों की फाल तेज करो।
धरती का जोबन जागे॥

राज बढ़ा पैसे का ऐसा बिके कफ़न तक लाशों का,
हो नीलाम आँखका पानी जेले टिकट तमाशों का,
कुत्ते जैसे मरें, आदमी मरे गटर में, खानोंमें,
जुल्मों का यों जोर, सचाई बन्द हो गई थानों में,
सारे ये ताश बदल दो,
धरती आकाश बदल दो,
पूरा इतिहास बदल दो,
कोई कहीं न बच पाय, हलों की फाल तेज करो।
धरती का जोबन जागे॥

कोड़े खाकर जिये पसीना पूँजी के दरबार में,
बादल को डँटे डंडूरा सावन के त्यौहार में,
पालिश करता हुआ बूट पर घूमे सड़कोंपर बचपन,
बेकारी इस कदर कि कल पटरी पर सोया 'चन्द्रवदन,'
रस की बारात बुलाओ,
प्यासों की प्यास बुझाओ,
भूखों की भूख मिटाओ,
अब न ग़रीबी सही जाय, हलों की फाल तेज करो।
धरती का जोबन जागे॥

बदले ज्यों तारीख़, रोज़ बदलें चेहरे कानूनों के,
गांधीजी बस बने रह गये शीर्षक कुछ मज़मूनों के,
ऐसी घोर विषमता फैली, ऐसे घने-तने जाले,
इसपर नशा चढ़ा दारू का, उसे जहर तक के लाले,
धरती को समतल कर दो,
आँसू गंगाजल कर दो,
खाली हर आँचल भर दो,
फिर न अँधेरी कहीं छाय, हलों की फाल तेज करो,
धरती का जोबन जागे॥

जीने का हक़ बस दिल्ली को सकल देशको फाँसी है,
ऐसा आया वक्त कि सूरज जुगनू का चपरासी है,
मोती चुगे काग औ' बगुले, हँस सजाए चिड़ियाघर,
मालिक बने भिखारी डोलें, ठग बैठे सिंहासनपर,
आँधी को पत्र पढ़ाओ,
बिजली को क़सम दिलाओ,
ऐसा तूफ़ान उठाओ—
दिल्ली की किल्ली हिल जाय, हलों की फाल तेज करो॥

न कीजिए। रात आपकी बाँसुरी नहीं सुन सकी। मेरा घर तो आप जानते ही हैं, राह देखूँगी।'

तब तक रामसिंह आ गया था। उसने बताया—'साहब रेडियो स्टेशन गए हैं।'

केतकी ने कार का द्वार खोलते हुए कहा—'तो आइए ना, आप भी तो वहीं जा रहे हैं।'

विवश-सा सुधीर केतकी के पास आ बैठा। उसने कुछ कहने के लिए ही कहा—'अच्छा, आप रेडियो पर क्यों नहीं आतीं? आप तो इतना सुन्दर गाती हैं।'

केतकी ने कार की गति धीमी कर दी थी। लजीली मुस्कराहट के साथ बोली—'रमानाथ ने कई बार कहा परन्तु......'

बात अधूरी रह गई। रेडिओ स्टेशन आ गया था। सुधीर शीघ्रता से उतरा और बोला—'मैं अभी-अभी रमानाथ को भेजता हूँ।'

दो मिनट में ही रमानाथ आ गया। बोला—'आइए न, यहाँ क्यों बैठी हैं।'

'मुझे श्यामाजी के पास जाना है। आज शाम को...'

'वह तो मैं सुन चुका हूँ। आपने व्यर्थ ही कष्ट किया। कुछ व्यक्तियों को कष्ट उठाने में आनन्द आता है।'

केतकी हँस पड़ी। बोली—'श्यामाजी के पास चल सकते हैं?'

'चल सकता हूँ, पर आप मुझे दस बजे यहीं छोड़ दें, इस शर्त पर!'

'मंजूर है।'

'तो चलिए।'

रमानाथ सुधीर की जगह आ बैठा। कार फिर चल पड़ी तो रमानाथ ने कहा—'मैंने आज बातें की थीं।'

'किससे?'

'संगीत-निर्देशक से। आपको टेस्ट देना ही होगा।'

'देना ही होगा?'

'जी हाँ। आपका गला इतना सुन्दर है फिर भी आप लजाती हैं। नहीं, नहीं; अब आप मना नहीं कर सकेंगी।'

केतकी ने कनखियों से रमानाथ को देखा। ओठों को कुछ उपेक्षा से भींचा। बोली—'श्यामाजी को बुलाइए।'

रमानाथ चौंका—'श्यामाजी को?'

'आप ही तो कहते थे कि वह बहुत अच्छा गाती हैं।'

रमानाथ ने अनजाने ही गहरी साँस ली—'जी हाँ, वह बहुत ही सुन्दर गाती है, पर वह उतनी ही स्वतंत्र है।'

'ओह।' केतकी इतना ही कह सकी। कोई कार के सामने आ गया था। उसे बचाने के लिए तेज़ी से हाथ पैरों का प्रयोग करना पड़ा और तभी आ गया श्यामाजी का मकान। मन की बात मन में ही रह गई।

• • •

श्यामा ने सहसा हेमचन्द्र की ओर देखा। किसी आशंका से उसके नयन पलक मारना भूल गए। जो प्याला ओठों की ओर बढ़ रहा था उसे उसने मेज़ पर रख दिया। रखने में जो 'ठक' शब्द उठा वह

जैसे उन दोनों पर वज्राघात हुआ। एक दुःस्वप्न के बाद जैसे दोनों की नींद खुल गई। श्यामा ने दृष्टि झुका ली। यह सब निमित्र मात्र में हो गया। अनजाने और अनचाहे। दूसरे ही क्षण हेमचन्द्र ने अपने को पा लिया। मुस्कराया, बोला—'श्यामाजी, आप क्या कहती हैं। मोटर तो आपकी ही है।'

'मेरी।' श्यामा ने दृष्टि उठाई और अपने को पाने की चेष्टा की। बोली—'हेम बाबू! इस तरह अपने को भुलावा नहीं दिया जा सकता।'

हेमचन्द्र ने एकाएक कोई जवाब नहीं दिया। अपलक श्यामा की ओर देखता रहा। उसके मन में कई प्रश्न उमड़-घुमड़ रहे थे, पर वह उन सबको दबा देना चाहता था। इसलिए श्यामा पर से दृष्टि हटाकर वह प्लेट में रखे बिस्कुटों से खेलने लगा। लेकिन उठाकर खा न सका। पहला ग्रास अटक गया था। यद्यपि अब तक वह नीचे उतर चुका था फिर भी उसके स्थान पर खराश हो जाने के कारण वहीं अटका जान पड़ रहा था। कई बार वह खाँसा लेकिन सन्नाटा केवल कम्पित होकर रह गया। भंग नहीं हुआ। तब तक श्यामा पूर्ण स्वस्थ हो आई थी। चुपचाप उसने चाय के दो प्याले तैयार किए। एक को हेमचन्द्र की ओर सरकाया। जैसे मुक्ति मिली। शान्त स्वर में बोला—'श्यामा, कार तुम्हारी है।'

श्यामा ने दृष्टि उठाई—'लेकिन मुझे जरूरत नहीं है।'

और ठीक इसी समय द्वार पर आहट हुई। फिर हुई। श्यामा ने उठकर किवाड़ खोल दिए। सबसे पहले दृष्टि रमानाथ पर पड़ी। मुस्कराना चाहा कि देखा—केतकी भी है। सहसा मुख विवर्ण हो आया। चाहा की लौट चले लेकिन दूसरे ही क्षण उसने अपने को संभाल लिया। फिर मृदु मन्द स्वर में बोली—'आप आई हैं। नमस्कार।'

रमानाथ ने हँसते हुए क्षमा के स्वर में कहा—'केतकी जी आपका घर नहीं जानती थी इसलिए मुझे भी आना पड़ा।'

श्यामा बोली—'तो आइए न, मैंने आपसे जवाब तो नहीं तलब किया।'

चाय की मेज पर हेमचन्द्र को देखकर रमानाथ गद्गद् हो आया। बोला—'अहाहा! आप हैं हेम बाबू। भई खूब मिले। तुम तो यार ईद के चाँद बने रहते हो। कल की मीटिंग में भी नहीं आए। लखनऊ से तरक्की पसन्द शायर अल्ताफ हुसेन आये थे। सुधीर थे, केतकी थी, श्यामाजी भी थी। अगर तुम आ जाते तो बिचारी केतकी जी को मुसीबत न उठानी पड़ती। रातको बारह बजे शायर साहब को लोदी रोड़ छोड़कर आना पड़ा। और हाँ, तुम तो इनसे मिले ही नहीं। अपनी मित्र हैं। जितना सुन्दर गाती हैं उतनी ही सुन्दर इनकी तूलिका है। चित्रोंपर से दृष्टि हटती ही नहीं। हृदय और मस्तिष्क दोनों मुक्त हैं। गरज कि इनकी मित्रता पर किसी को भी गर्व हो सकता है।'

और फिर केतकी को सम्बोधित करते हुए बोला—'केतकीजी, ये हैं श्री हेमचन्द्र। प्यार से हम इन्हें हेम बाबू कहते हैं। वाणिज्य विभाग में अन्डर सेक्रेटरी हैं। कुमार हैं और श्यामाजी के परम मित्र हैं।'

जब तक रमानाथ बोलता रहा। केतकी और हेमचन्द्र मन के भावों को दबाए नाटक के पात्रों की तरह खड़े रहे। फिर दोनों ने शिष्टाचार का अभिनय पूरा किया। परन्तु न जाने क्यों श्यामा का मुख रक्तहीन

होता आ रहा था। किसी तरह अपने को संभाल कर उसने नौकर को चाय लाने के लिए कहा। फिर केतकी की ओर मुड़ अतिशय विनम्रता से बोली– 'मेरा घर पवित्र हुआ। आपने मुझ पर कैसे कृपा की?'

केतकी उत्तर दे इससे पूर्व ही रमानाथ बोल उठा– 'क्षमा कीजिए, मुझे दस बजे रेडिओ स्टेशन पहुँचना है। श्यामाजी, देर न कीजिए। केतकीजी ने आज अपने मकान पर सांस्कृतिक सन्ध्या मनाने का आयोजन किया है। संगीत, भोज और फिर अन्तिम शो। विशिष्ट मित्रों को ही निमंत्रित किया गया है।'

केतकी ने मधुर स्वर में कहा–'उसी के लिए आई हूँ। श्यामाजी, हेम बाबू आप दोनों...'

रमानाथ फिर बोल उठा– 'हाँ, भाई, मैं सिफ़ारिश करता हूँ जरूर आना होगा। घर नहीं जानते तो मेरे पास चले आना।'

हेमचन्द्र ने हँस कर कहा– 'मैं आऊँगा ...'

और वाक्य मानों अधूरा रह गया। यह सोच कर वह बोला– 'श्यामा के साथ आऊँगा। वह घर जानती होंगी।'

श्यामा ने तुरन्त कहा– 'मैं भी नहीं जानती। कभी ऐसा सौभाग्य मिला ही नहीं।'

केतकी बोली –'यह मेरा दुर्भाग्य है। इससे पूर्व आपसे परिचय नहीं हुआ। रमानाथ कहते थे आप बहुत सुन्दर गाती हैं। रात गोष्ठी में क्यों नहीं गाया?'

सहसा एक सिहरन ने श्यामा को आलोड़ित कर दिया। वह कुछ कहती कि रमानाथ तुरन्त बोल उठा–'आपको जाने को देर जो हो रही थी केतकीजी। वर्ना यह तो...'

श्यामा सहसा तिलमिला उठी। उसने कुर्सी के हत्थे को कस कर पकड़ लिया। पर सौभाग्य से हेमचन्द्र के अतिरिक्त ओर किसीने इस ओर ध्यान नहीं दिया। वह तुरन्त बोला– 'कल नहीं गाया तो क्या हुआ, आज गायेंगी और कल की कसर भी पूरी कर देंगी।'

श्यामा ने चिल्ला कर कहना चाहा–'मैं नहीं गाऊँगी। मैं आऊँगी भी नहीं। तुम सब मुझे अकेला छोड़ दो।' परन्तु वाणी ने साथ नहीं दिया। वह जड़ बनी बैठी रही। हेमचन्द्र ने उसकी ओर देखकर कहा– 'क्यों शामा जी।'

श्यामा कुछ उत्तर दे कि उसकी दृष्टि केतकी से जा मिली। नारी ने जैसे नारी को पहचान लिया। दृष्टि झुक गई। एक क्षण केतकी ने उसे देखा, रमानाथ को देखा, हेमचन्द्र को देखा फिर उठ खड़ी हुई। बोली–'तो मैं आशा करूँ कि आप सब आ रहे हैं। कई जगह जाना है। क्षमा चाहती हूँ।'

अब जैसे श्यामा की वाणी खुली–' नहीं, नहीं, अभी रुकिए; चाय आ रही है।'

'क्षमा चाहती हूँ श्यामाजी, फिर आऊँगी।'

रमानाथ भी उठ खड़ा हुआ। श्यामा उन्हें द्वार तक छोड़ने आई। निमंत्रण के लिए धन्यवाद दिया। मुस्करा कर हाथ जोड़े और जैसे ही वे लौटे ले तीव्र वेग से किवाड़ों को बन्द कर दिया। मुख विवर्ण हो आया। हेमचन्द्र के पास आकर बोली–'मेरी तबीयत खराब है हेम। लेटना चाहूँगी।'

'लेटेंगी। इस समय! रविवार का दिन और यह मेघाछन्न आकाश। किसको पागल कुत्ते ने काटा है, जो घर में बैठेगा। चलो, ओखले चलते हैं।'

'मैं कहीं नहीं जाऊँगी हेम। मेरी तबीयत खराब है।'

'और मैं कहता हूँ ओखला पहुँचने से पूर्व ही तुम्हारी तबीयत ठीक हो जाएगी।'

'नहीं, नहीं।' श्यामा ने कहा और वह अन्दर जाने को मुड़ी। तब हेमचन्द्र ने पूछा–'तो क्या डाक्टर के यहाँ जाना होगा?'

'आप चिन्ता न करे। आवश्यकता हुई तो मैं चली जाऊँगी।'

'अच्छा।' हेम उठ खड़ा हुआ। बोला– 'तुम अपनी मर्जी की मालिक हो। तुमने कब किसका कहा किया है।'

श्यामा मुड़ी। तीव्र स्वर में उसने कहना चाहा, पर कुछ कह न सकी। नयनों की कोरों में तप्त जलकण चमक आए थे। उसी तरह वह हेम के पीछे द्वार तक आई। दूसरे ही क्षण उसने देखा–कार तेजी से दौड़ी और मोड़ पर जाकर आँखों से ओझल हो गई। पीछे रह गया धुआँ। काला और बदबूदार धुआँ। मशीन का बल, मशीन का प्रसाद ... लेकिन सहसा उसी धुएँ के भीतर से उसने देखा कि अल्ताफ हुसैन बड़ी शीघ्रता से उसकी ओर चले आ रहे हैं। वह खिल उठी। हिमालय जितना भार, निमिष मात्र में मन से उतर गया। हर्ष से चिल्ला कर बोल उठी–'आप आ गए।'

अल्ताफ हुसैन ने निहायत तकल्लुफ़ से जवाब दिया– 'आप बुलाएं और मैं न आऊँ।'

श्यामा हँसी। बोली–'तो फिर चलिए। ओखला चलते हैं।'

'इसी वक्त!'

'शायर साहब यह दिलकश मौसम और आपका यह एतराज .... न जाने यह कब बदल जाए।'

'तो चलिए। आप तो......'

और दोनों हँस पड़े। क्षण भर के लिए दोनों की हँसी एक होकर वातावरण को गुदगुदाती रही; गुदगुदाती रही।



सौंदर्य ही वह उपहार है जो प्रकृति नारी को देती है और सर्व प्रथम ही लेती है।



सभी शुभ अवसरों के लिए

दिवाली, विवाह, वर्षगांठ या इस प्रकार के अन्य कोई भी शुभ अवसर पर जब आप भेंट देना चाहते हैं तो डाकघर बचत भेंट कूपन ही दीजिए। यह ऐसी भेंट है जो बढती है तथा दीर्घकाल तक याद में रखी जा सकती है।

आपको डाकघरों से ५ रु., १० रु. ५० रु., १०० रु., एवं १,००० रु. के कूपन प्राप्त हो सकेंगे एवं १२ वर्षीय राष्ट्रीय योजना बचत प्रमाणपत्रों में उन्हें परिवर्तित करना चाहिए।

भेंट के रूप में इनामी बांड भी दिये जा सकते हैं।



अल्प बचत

सुअवसरों को और भी सुखदायक बनाती है

अल्प बचत संचालनालय, महाराष्ट्र सरकार, सचिवालय, बम्बई ३२

अनुक्रमणिका



—और फिर वह वड़ी रानी गला फाड़कर रोने लगती है। वह मुझे धोका देने आई है। वह मुझसे वच्चा चाहती है! —मगर......

हर रोज ठीक इसी समय धूप आकर सामने के छज्जेपर वैठती है। उसके हाथ में कभी पीले रंग का आईसफ्रूट रहता है, कभी हरे रंग का तो कभी लाल रंग का ! मैं यहाँ स्टूल पर अकेला वैठा करता हूँ और उस धूप का तमाशा देखता रहता हूँ। आईसफ्रूट खतम होते ही वह आईसफ्रूट की लकड़ी ही चूसती रहती है। भरी दोपहर के समय चिल-चिलाती धूप में घण्टों तक वैठने पर भी उसे कुछ भी क्यों नहीं होता भगवान् जाने ! फिर उसका ध्यान मेरी ओर आता है। दाहिने आँख की भौंह ऊपर उठाती वह मुझसे पूछती है—"क्यों दामू अण्णाजी! तुम्हारा पागलपन क्या कहता है?" यह सवाल जव वह मुझसे पूछती है, तव मेरे तलवों को आग लगती है। घर के लोग तो कहते ही हैं, तो क्या रास्ते की धूप भी मुझे पागल कहे ? मैं पास के ही कोयले के पीपे से एक कोयला उठा कर उस पर फेंकता हूँ। इतने में माँ वाहर आती है और पूछती है—"दामू क्या वात है?" मैं जवाव देता हूँ—"कोयले से मार रहा हूँ मैं उस धूप को!" माँ 'अच्छा-अच्छा' कहती है और चुपचाप भीतर चली जाती है। मैं एक कोयला फेंकता हूँ। दो फेंकता हूँ। तीन फेंकता हूँ। लेकिन वह धूप ठहाका मारकर हँसती रहती है और अपनी पेंट की जेव से मानो पेपरमिंट की टिकियों जैसा गहरे पीले रंग का गिरगिट निकालकर उसे वार-वार चूमते हुए वोलती है—"पगले कहीं के ! मुझे कोयलों से मारकर क्या होगा ? मुझे चोट थोड़ी ही लगने वाली है। क्या मेरे शरीर भी है, या हड्डियाँ या चमडा है?" याने यह धूप ही पागल वनी हुई दिखायी देती है। सिर्फ़ जाँघिया पहनकर इस छज्जे पर वैठी है, मुझसे वातचीत कर रही हैं, उस गिरगिट का चुम्वन ले

रही है। (क्या वह गिरगिट उसका पति है ?) आईसफ्रूट खा रही है और तिसपर पूछ रही है कि मेरे शरीर भला कैसे हो ? वाह...खूब ! क्या शरीर के बिना कोई अपने पति को चूम सकेगी ? अगर मैं माँ से ये बातें कहने जाऊँ तो वह मुझी को टाँगने की बात करने लगती है। मैं झट उससे पूछता हूँ—" माँ, क्या तू धूप की शादी के समय गयी थी ?" वह मेरा सवाल अनसुना करके बोल उठती है—" बेटा बाहर जाकर उस स्टूल पर चुपचाप बैठ जाओ। इस प्रकार लगातार बकवास करना ठीक नहीं !" मैं जानता हूँ, वह ऐसा क्यों कहा करती है। वह समझती है कि मैं पागल बनता जा रहा हूँ। शायद इस धूप ने ही कान भर दिये होंगे ! नहीं तो मेरी माँ इस प्रकार पागल की तरह बातें क्यों भला करेगी ? इतने में एक झींगुर वहाँ से जाता रहता है। उस धूप के हाथमें जो गिरगिट है, वह धूप के चुंबनों से गीले बने होंठ साफ़ करते हुए उस झींगुर से पूछता है—" क्या तेरे पास माचीस है ?" झींगुर पल भर रुक जाता है और जेबसे माचीस निकालकर उस गिरगिट के हाथ में थमा देता है। गिरगिट अपनी पर्स से एक पनामा सिगरेट निकालता है (याने यह गिरगिट सिगरेट वाह...बड़ी अजीब बात है। मैं भी सिगरेट पीनेवाली स्त्री से ही शादी करूँगा। बड़ा मजा आता है।) और झींगुर की दी हुई माचीस से एक तीली निकालकर बड़ी शानसे सिगरेट जलाता है।



सदानंद रेगे

फिर चले आते हैं तीसरी मंजिलपर नल के पास के कमरे में रहनेवाले वायंगणकर मास्टर जी। जब वे आते हैं तब मैं हमेशा की तरह स्टूलपर ही बैठा रहता हूँ। सीढ़ी चढ़ते-चढ़ते वे मुझसे पूछते हैं—" क्यों दामोदरपंत ? क्या चला है ?" वायंगणकर मास्टरजी मुझे बहुत पसंद आते हैं। दामोदरपंत के सिवा अन्य किसी नाम से वे मुझे कभी पुकारते ही नहीं। मैं उन्हें पास बुला लेता हूँ और उनसे कहता हूँ—" ज़रा कान इस ओर कीजिये।" वे झुक जाते हैं और अपना एक कान मेरे मुँह के पास लाते हुए धीमी आवाज़ में पूछते हैं— " क्या है ?" मैं जवाब देता हूँ— " वहाँ देखिये !" वे फिर से पूछते हैं— " कहाँ, क्या है ?" मैं कह देता हूँ— " वह धूप देखिये !" वे झट बोलते हैं— " वाह, बहुत अच्छी... खूब फैली है ! ऐसी धूप हमने कभी देखी नहीं थी।"

" वही धूप थोड़ी ही देर पहले आईसफ्रूट खा रही थी।"

" यह बात है। वाह दोस्त ! क्या कहते हो ? धूप आईसफ्रूट खा रही थी।"

" हाँ...हाँ......धूप आईसफ्रूट खा रही थी। क्या उसे आईसफ्रूट नहीं खाना चाहिए ?"

" छिः छिः, वैसा नहीं दामोदरपंत ! धूप आईसफ्रूट ज़रूर खाये... अजी धूप न खाये तो क्या बर्फ़ खाये ?"

" तो फिर ?"

" ऐसे ही पूछा ! हमने कभी धूप को आईसफ्रूट खाते हुए नहीं देखा था...इसीलिए मैंने......"

" और उसके हाथ में गिरगिट देखा आपने ?"

" किसके हाथ में ? क्या उस धूप के हाथ में ! वाह...वाह... बहुत सुंदर...ऐसा गिरगिट कहीं भी देखने को नहीं मिलेगा।"

" वह सिगरेट पी रहा है—।"

" अच्छा जी......ठीक ! उससे कहो कि अधिक सिगरेट मत पिओ वर्ना व्यर्थ खाँसते रहोगे !"

" और सुनिये ..." बोलते-बोलते मैं उन्हें और झुकने के लिए कहता हूँ।

" क्या कहा ?"

" वह गिरगिट उस धूप से शादी करनेवाला है।"

" ओह। अरे, क्या कह रहे हैं दामोदर पंत आप यह ? गिरगिट उस धूपसे शादी करेगा ?"

" जी ! किसी से न कहिये ...बिल्कुल गुप्त रखो यह बात।"

" ना ... ना... मैं क्यों कर किसी ऐरेगैरे से कहूँ ये बातें ? क्यों जी, दामोदर पंत ? आपको कैसे पता चला इस बातका ?"

" उससे आपका भला क्या मतलब ? चाहे जिस मार्गसे पता चला हो।"

" नहीं, नहीं। मेरा मतलब... तुम गुस्सा क्यों करते हो इस प्रकार ?"

" आप भरोसा जो नहीं कर रहे हैं इस बातपर ? क्या आपको लगता है कि मैं झूठ बोल रहा हूँ ? क्या आप भी मुझे पागल समझते हैं ?"

" बुद्दू कहीं का ..."

वायंगणकर मास्टर जी मुझे बुद्दू कहते हैं। लेकिन वे मुझे पागल नहीं कहते। मेरा धूप के साथ बातचीत करते बैठना उन्हें पसंद आता है। एक बार मैंने उनसे कहा था —" मास्टर जी, आपकी चोटी तो गिलहरी की पूँछ जैसी ही है न ?" उसपर वे अपने आपसे खुश होकर खिलखिलाकर हँस पड़े थे। मेरी पीठ पर चपत मारते हुए वे बोल उठे थे — " दामोदरपंत, अगर बीच ही में यह विपरीत घटना न घटी होती तो तुम अवश्य एक भले कवि बन जाते !" यह विपरीत ... विपरीत ... का मतलब क्या है ?

फिर मास्टरजी जाने लगते हैं। चलते समय वे प्यार से मेरी पीठ थपथपाते हैं।

उनकी आँखों के भीतर बसी गीली मछली मेरी ओर देखती रहती है। मैं उससे कहता हूँ — " हॅलो !" लेकिन मास्टर जी की आँखों की यह गीली मछली कुछ भी बोलती नहीं ! मैं फिर उसे 'हॅलो' करता हूँ। तब वह

सदानन्द रेगे :

आप सर्वप्रथम कवि और बाद में कहानीकार हैं। आपके 'गंधर्व' नामक कविता-संग्रह पर हालही में महाराष्ट्र सरकार ने पुरस्कार प्रदान किया है।

आपकी कहानियाँ मनोविश्लेषणात्मक हुआ करती हैं। आपकी कहानी पहली बार पाठकों के सामने प्रस्तुत की जा रही है





अनुक्रमणिका





रागिणी तोडी-

अनुक्रमणिका

मेरी ओर मुड़कर बोलती है — " अरे, मैं नहीं बोल पाती। मेरे सारे शब्द समुद्र के राजा ने खींच लिए हैं मुझसे। मेरी वाणी नष्ट हो चुकी है। और इसीलिए मैं यहाँ इस प्रकार किसी आदमी की आँखों से तुम्हारी ओर मजबूर बनकर देख रही हूँ।" मैं उससे पूछता हूँ — "वाह, तुम बोल नहीं पाती हो, तो फिर यह सवाल तुम कैसे पूछ रही हो?" (कैसा ठीक सवाल पूछा था!)

और फिर वह कुछ भी नहीं बोलती! मुझसे अभी बातचीत करते समय जितने शब्दों का उसने प्रयोग किया, उतने ही शब्द शायद उस बेचारी के पास बचे हुए थे।

मास्टर जी कहते हैं — "दामोदरपंत, बैठे रहो; मैं चलता हूँ। अभी खाना खाया नहीं है मैंने। और सुनो, अपनी धूप से कहो कि मुझे अपनी शादी का बुलावा भेजना न भूले। समझे न?"

वे एक-दो सीढ़ियाँ चढते हैं कि इतने में मेरे दिमाग में कबुतरों का एक पूरा झुंड दाने चुगने लगता है। पता नहीं, उस नुक्कड़ पर का बनिया मेरे ही दिमाग में कबूतरों के लिए दाने क्यों डालता है? भगवान् ही जाने यह!

एक कबूतर दूसरे से पूछता है — "कहते हैं, अभी धूप और गिरगिट की शादी होनेवाली है!"

"ओह! अरे, मगर भादों में शादियाँ थोड़े ही हुआ करती हैं?"

"अरे, रजिस्टर होनेवाली होगी शादी! जमाना पलट गया है! जो उठता है सो रजिस्ट्रार के दफ़्तर में जाकर शादी करके चला आता है!"

फिर थोड़ी देर के बाद दूधवाला दूध लिए आता है। मैं तब भी स्टूलपर बैठा रहता हूँ। यह स्टूल तो मेरा घोड़ा है। जगह से न हिलते हुए भी वह हमेशा चलता रहता है। टप्... टप्... टप्......

दूध के बरतन की आवाज सुनते ही मेरी कमीज की जेबसे नौ बिल्लियाँ निकल आती हैं और सारा दूध चट्कर जाती हैं। दूधवाला सीधे नल की ओर भाग जाता है और अपना बरतन पानी से भरकर ले आता है।

"कितना?"

"आधा सेर।"

फिर वह माँ के लाये बरतन में आधा सेर पानी डालता है। मुझे सब कुछ मालूम है लेकिन मैं कुछ नहीं बोलता। मैं माँ से कुछ नहीं कहूँगा। पानी ही लेने दो उसे। देखो, भली फजीहत हो गयी एक व्यक्ति की, याने मेरी माँ की। अब पागल भला कौन है, तुम या मैं?

इतने में सामंत की बेटी सुषमा छज्जे पर आती है और बैठती है। उसके हाथोंके रंगीन चूड़ियों के टुकड़े मुझे खूब पसंद आते हैं। मैं अपनी माँ से हमेशा कहा करता हूँ कि चूड़ियों के टुकडों का साग बनाओ। लेकिन वह मेरी बात मानती ही नहीं। नीरी पागल ही है वह।

सुषमा के मुँह में आँवला होता है और मुझे पूरा विश्वास है कि उसने एक-दो आँवले अपनी कुर्ती में छुपा रखे होंगे। वह तो केवल पाँच साल की बिलकुल छोटी लड़की है लेकिन बड़ी ही नटखट!

कभी भी देखें वह आँवले तथा इमली खाती-चबाती रहती है। मैं उसे कई बार अपने पास बुलाता हूँ। लेकिन वह नहीं आती। मुझे उसके बाल बहुत पसंद आते हैं। कुछ समय पहले एक बार सीढ़ियों के नीचे मुझसे एक अप्सरा मिली थी। बिलकुल उस अप्सरा के बालों की तरह ही सुषमा के बाल हैं। एक दिन मैं सुषमा को धोका देकर पकड़ूँगा और उसके बालों में मुँह छिपा कर दो बरस तक रोता रहूँगा। इस प्रकार मैं रोता रहूँ तो सागर का राजा डूब जायेगा और मास्टरजी की आँख में बसी वह गीली मछली बोलने लगेगी। सागर के राजा ने उसके शब्द जो निगल डाले हैं, वे उसे वापस मिल जायेंगे।

सुषमा हमेशा आँवले और इमली खाया करती है। इससे ऐसा लगता है कि वह गर्भवती होगी। मैं एक बार उसके पेट को हाथ लगाकर देखना चाहता हूँ। एक बहुत सुंदर, भूरे बालोंका गुड्डा जैसा नन्हा उसके पेट में बैठा होगा और वह मुझे देखते ही बोल उठेगा— "मा......मामा..." मैं उस नन्हे को लेकर धूप की शादी में शरीक हो जाऊँगा। वहाँ उसे काफ़ी आईस्क्रीम खाने को मिलेगा। सुषमा के बेटे का नाम 'दामू' रखूँगा मैं! दाम्या... दामोदरपंत... पागल... मेंड... बावला......

आज अण्णाजी घर आते ही मैं उनसे पूछने वाला हूँ। साफ़-साफ़ पूछने वाला हूँ। धूप की शादी हुई, सुषमा के बेटा हुआ, मेरी शादी कब कराओगे? क्या आप के अक्ल भी है या नहीं? या मैं ज़िन्दगीभर बाहर के स्टूल पर बैठा रहूँ? अगर वे नहीं सुनेंगे तो मैं एक दिन घर से भाग जाऊँगा और सामने के पेड़पर चढ़ बैठूँगा। कोई कुछ भी करे मैं नीचे उतरूँगा ही नहीं।

अबतक धूप गिरगिट को लेकर छज्जेपर से नीचे उतरी रहती है। मैं जानता हूँ। अब वे दोनों हाथ में हाथ डाले समुद्र के किनारे जाएँगे। एक दूसरे की जूठी भेल खायेंगे और अंधेरा होते ही वे मरघट की दीवार के सहारे बैठकर शृंगार करने लगेंगे। उन दोनों की शादी होगी; तब धूप गर्भवती बनेगी और उनका मधुचंद्र उस मरघट के पीपलपर बैठकर उल्लूकी तरह चिल्लाते रहेगा। मुझे आइस्क्रीम नहीं मिला,...मुझे आइस्क्रीम नहीं मिला......

लेकिन मैं उसे कुछ नहीं दूँगा। शादी के समय दिया जानेवाला सारा आईस्क्रीम मैं सुलभा के बेटे के लिए बचा रखूँगा। सहजन के पेड़ पर सारा आईस्क्रीम रह सकेगा।

स्टूलपर मेरा चुपचाप बैठना मेरी दुष्ट माँ से सहा नहीं जाता। वह भीतर से चिल्लाती है—"दामू चाय नहीं लोगे?"

जब देखो तब चाय की बात! अक्षतों की टिकियाँ या नारियल की मिठाई बनानेका नाम तक नहीं लेती! वे अपनी शादियाँ चाय के बगीचे में मनाएँगे। इनकी शादी मनाने वाला पुरोहित चाय पी-पी कर मस्त बना रहता है। इनकी शादियों में चाय की पावडर के ही अक्षत डाले जायेंगे।

लेकिन हम भला क्या करें? दामू ठहरा पागल! अगर कुछ कहने जायँ तो ऐसे ही टाँगनेपर बन जाती है।

मैं चुपचाप उठता हूँ और अंदर चाय पीने जाता हूँ।

कमली की लायी एक किताब खटिया पर पड़ी हुई दिखायी देती है। मैं वह किताब उठा कर चाय पीते-पीते पढ़ने लगता हूँ। इतने में उसके भीतर से एक औरत बाहर आती है और सिसकियाँ भरती हुई मेरी गोद में आ बैठती है। मैं उससे पूछता हूँ — "कौन हो तुम?"

वह कहती है — "मैं राजाकी रानी।"

"अच्छा, तो तुम रानी हो?"

"हाँ...हाँ...यह देखो मेरा मुकुट!"

" तुम राजा की प्रिय रानी हो या अप्रिय ? "

" प्रिय रानी हूँ ! "

" तो फिर मेरी गोद में आकर क्यों रो रही हो ? "

" न रोऊँ तो और क्या करूँ ? "

" हँसो। नहीं तो चुप बैठो। रोती क्यों हो ? "

" दामू, तुम इतने भोले कैसे ? "

" क्या मतलब ? मैं पागल नहीं हूँ ! "

" पगले नहीं तो बावले हो ! "

" बावला भी नहीं। "

" तो मॅडकॅप हो। "

" लेकिन तुम क्यों रोती हो, जरा बताओ तो सही। "

" राजा मुझे बच्चा नहीं होने देता। "

" क्यों ? "

" वह कहता है कि हमें प्लानिंग करना चाहिए। हम एक जनतांत्रिक राज्य के प्रतिनिधि हैं। हमें बच्चों को जन्म नहीं देना चाहिए। "

" तुम्हारा राजा पागल हुआ होगा। अधिक बच्चों को भलेही जन्म न दे, लेकिन एकाध बच्चे को जन्म देने में क्या हर्ज है ? "

" वह कहता है कि अप्रिय रानी को उससे ग्यारह बच्चे हुए हैं। अब इससे अधिक नहीं चाहिए। "

" लेकिन मुझे तो कोई और ही शक है कि ... "

" बताओ, कौनसा ? "

" अप्रिय रानीको और किसीसे बच्चे हुए होंगे। "

" तो फिर तुम भी क्यों नहीं वैसा करते ? "

" क्या तुम तैयार हो ? "

" छिः-छिः ! हम इस झमेले में नहीं पड़ेंगे। अगर मुझसे तुम्हें बच्चे हो जायें तो तुम मुझे जेल में भेजोगी या मेरी गरदन उड़ा दोगी। "

और वह रानी जोरसे रोने लगती है। वह मुझे ठगाने आयी है।

वाह ! वह मुझसे बच्चा चाहती है ...

वह रोती हुई चुपचाप किताब में जा बैठती है। सुषमा के बेटा पैदा होते ही मैं जरूर एक बार उसे लेकर रानी के पास जाऊँगा। उससे कहूँगा अगर तू मुझसे बच्चा चाहती है, तो इसे बहुत से खिलौने दे। और खिलौने मिलते ही नौ दो ग्यारह। वैसे तो वह किताब की ही रानी। वह भला करे भी तो क्या करेगी ?

रोते हुए वह मेरी गोद में बैठेगी—बैठने भी दो !

और फिर वह किताब में जा बैठती है। उसके रोनेसे किताब गीली होती है। हमारी पगली माँ मुझपर व्यर्थ बिगड़ती है।—" दाम्या, कमली की किताब चाय गिराकर क्यों खराब की ? क्या ठीक तरह से चाय भी नहीं पी सकते ! "

मैं फिरसे छज्जे में आकर स्टूलपर बैठ जाता हूँ। इस दुनिया में मेरा अपना यह अकेला स्टूल ही रहा है।

थोड़ी देर के बाद सीढ़ियों के अंधेरे में से एक औरत आती है और मुझे इशारे से अपने पास बुलाती है। देखता हूँ। वह तो क्षीरसागर की नीरा दीदी है। शादी के बाद छः महीने या वर्ष में ही बेचारी विधवा होकर घर लौटी है।

मैं उसके पास जाता हूँ। वह मेरे गलेमें हाथ डालकर बड़े प्यार से बोलने लगती है—

" दामू, ... माय डार्लिंग "... अंग्रेजी की पहली कक्षा से वह फर्राटे की अँग्रेजी बोलती है।

बोलते-बोलते वह मेरा चुम्बन ले रही थी। मैं भी वही चाहता था। चाहता न भी था। चाहता था और न भी।

नीरा दीदी के स्पर्श से ... सिर्फ स्पर्शसे ही मेरी देह में आग लग जाती है। जिनेपर ही मैं उसकी छोटी कुर्ता ढीली करता हूँ।

नीरा दीदी धीरे से मेरे कानों से सटकर मुझ से कहती है—" मेरे पेटको हाथ लगाकर तो देखो ! "

अब हम दोनों एकही चादर के नीचे रहते हैं। नीरा दीदी का पेट पक्के चकोतरे की तरह लगता है।

" कान लगाकर देख। " वह कहती है।

मैं अपना कान उसके पेट के पास ले जाता हूँ। सुषमा का बच्चा अब नीरा दीदी के पेट में आकर बसा हुआ है। और राजाकी प्रिय रानी वह बच्चा लेकर भागने लगती है। मैं उसे देखता हूँ और सीधा उसका पीछा करता हूँ। वह महल में प्रवेश कर रही है। मैं उसके हाथोंसे वह मासूम बच्चा छीन लेता हूँ। उस बच्चे को लेकर मैं फिर धूप की शादी में चला जता हूँ। वहाँ हमें गोल्डस्पॉट मिलता है। कोका-कोला मिलता है। आईस्क्रीम मिलता है। पानसुपारी मिलती है। नारियल मिलता है और ईत्र-गुलाब भी मिलता है।

नीरा दीदी मुझसे पूछा करती है—" दामू, तुम मुझसे शादी करोगे ? इस बच्चे को अपना मानोगे ? "

मैं कहता हूँ—" जरूर... " नीरा दीदी फिर मुझे आलिंगन देती है और मैं चादर के भीतर-ही-भीतर पिघले जाता हूँ।

... मैं फिरसे आकर स्टूलपर बैठता हूँ तब धूप और गिरगिट दोनों समुद्रके किनारे घूमने गये रहते हैं और मरघट के पीपलपर उल्लू की तरह चिल्लानेवाला वह चाँद नीरा दीदी के पेट के भीतर के गर्भ पर अपनीही एक भयंकर आकृति बनाता रहता है...... • •

अनु. : **कु. सुरेखा तोंणे**



मॉडर्न आर्टिस्ट

बार-बार ससुराल जाना और जल्दी-जल्दी तक़ाज़े का पत्र लिखना समान है। अतः तीन महीने बीते........
और मुक़दमे का फैसला सुनाया गया कि पांडे जी ग़रीब आदमी हैं, दो रुपया महीना करके देंगे।



बेढ़ब बनारसी

लोग कहते हैं मित्रों में लेन-देन नहीं करना चाहिए। फिर बैरियों में लेन-देन कैसे हो यह किसी धर्मशास्त्री ने नहीं बताया। दुश्मनों में गालियों का आदान-प्रदान सरलता से हो सकता है, अधिक बढ़ जाने पर लाठी का आपसी प्रेमालाप भी हो सकता है; पर रुपये-पैसे का लेन-देन कैसे हो सकता है इसके लिए गीता से लेकर महात्मा ईसा की शिक्षा भी पढ़ा पर कहीं लाभदायक बात मिली नहीं। 'लव दाइन एनिमी' का तो पालन किया जा सकता है। किन्तु किसी बैरी से रुपया लेना वैसा ही कठिन है जैसे ग्वाला से आशा करना कि दूध में पानी न मिलाये। मित्र ही उधार माँगते हैं और उन्हींको देना होता है। जैसे पुत्र को पढ़ाने के लिए कालेज भेजना ही पड़ता है चाहे वह वहाँ सिनेमा की पत्रिका ही पढ़ता हो।

मैं धनी नहीं हूँ। मेरे मित्र भी जानते हैं। पड़ोसी भी और नाते-रिश्ते के लोग भी। दिसम्बर का महीना था, एक पुस्तक की रायल्टी एक प्रकाशक ने कृपा करके भेज दी। यद्यपि उसके लिए चालीस पत्र लिखने पड़े थे। इतने पर भी मैं कृपा ही समझता हूँ। हर साल जो प्रकाशक रायल्टी के रुपये दे देता है, उसे मैं कर्ण से कम नहीं समझता। छः सौ रुपये रायल्टी के थे। मेरे मित्र पं० परसू पांडे को न जाने कैसे इसका पता लग गया। चींटे को कहाँ चीनी रखी है इसका पता, तथा मित्रों को इसका कि किस मित्र के पास कितना रुपया है न जाने कैसे लग जाता है। वह मेरे पास एक दिन तड़के आये, बोले आशीर्वाद।

मैंने प्रणाम किया; बोला—"आज इतने सबेरे कैसे आपने कष्ट किया?"

उन्होंने उत्तर दिया—"कष्ट की क्या बात है। आपके दर्शन से सब कष्ट कट जाता है। आप जैसे साहित्य के विद्वानों से मिल कर आत्मा को वही सुख होता है जो छान्दोग्य उपनिषद पढ़ने से।"

आज पहले-पहल मैंने समझा कि मैं इतना महान् साहित्यकार हूँ। मैं बोला—"यह तो आपकी उदारता है। मैं क्या और मेरी साहित्य-रचना क्या। कलम घसीटा करता हूँ। कहिये चाय मँगाऊँ।"

पांडेजी ने कहा—"आजकल वायु का प्रकोप है इस लिए चाय तो बन्द कर दिया है। रात को एक प्रकार भोजन बन्द है। केवल छः पराठे और आध पाव मलाई खाता हूँ।"

मैंने कहा—"हाँ, शरीर को तो जीवित रखना ही होगा। आध-पाव के बजाय मलाई पावभर कर दे तो कमजोरी नहीं बढ़ेगी।" परसू पांडे बोले—"सो तो ठीक है। आजकल पैसे की तंगी है। आपने तो सुना ही होगा एक मकान छोड़ दिया है।"

मैंने कहा—"हाँ सुना है। यह तो आपने अच्छा किया। यदि आदमी ने मकान नहीं बनवाया और अपने पुरखों को स्वर्ग में गया जी में न बैठा दिया तो जीवन ही बेकार है। देखिये बंगले के डिजाइन का हो। घर बनवाने में हम लोगों का आदर्श अकबर और शाहजहाँ होना चाहिए। न आगरे के क़िले के बराबर हो, चार ही कमरे हों मगर कमरे हों। मांद न हों। न संगमरमर या लाल पत्थर हो तो तीसरे दर्जे की ईंटें ही हों मगर लोग देखें तो कम-से-कम आध घंटे तो तारीफ़ करें।"

पांडेजी ने कहा—"देखिये हौसला तो यही है। लखनऊ से नक़शा बनवाया था। अब तो पूरा हो चला है। एक दिन पधारिये। छोटा तो है मगर सुन्दरता में कम नहीं है। बस समझिये नवरत्न की अँगूठी है। इसी सिलसिले में तो आपके पास आया हूँ।"

मैंने कहा—"मैं इंजीनियर क्या ओवरसियर भी नहीं। ठीकेदार भी कभी नहीं रहा। हाँ, कुछ कविता आदि अंकित करना हो तो अवश्य लिख दूँगा।"

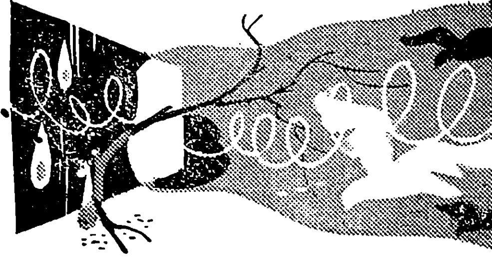
पांडेजी मुस्कुराते हुए बोले—"सो तो होगा ही। इस समय आप कुछ रुपये उधार दे देते तो मकान पूरा हो जाता।"

मैंने घबराते हुए कहा—"मैं और रुपया। जैसे रूई में तेल, समुद्र पर रेल, और सिंह तथा गाय में मेल हो सकता है, उसी प्रकार मेरे पास रुपया होगा।"

पांडेजी ने कहा—"यों तो आज किसीके पास रुपया नहीं है। इतनी बड़ी सरकार है सो सब काम कर्ज लेकर चला रही है। कुछ लोग इनकमटैक्स के कारण कहते हैं कि रुपया नहीं है। हमें क्या लाख-दो लाख चाहिए आपको अभी रायल्टी के छः सौ रुपये आए हैं उसीमें से पाँच सौ दे दीजिये। नौ परसेन्ट हम सूद दे देंगे।"

मैं झूठ बोलना पाप नहीं समझता; क्यों कि बहुत बड़े-बड़े लोगों का उदाहरण मेरे सामने है। परन्तु ऐसा झूठ बोलना कि तुरंत पकड़ा जाये मूर्खता समझता हूँ। यह समझ गया कि किसी प्रकार उन्हें पता लग गया है कि मेरे पास रुपये आये हैं। ऐसे समय छिपाना वैसा ही होगा जैसे कागज जलाकर धुएँ को छिपाना। बोला—"हाँ रुपये तो आये हैं। अभी चेक भुनाना है। एक सप्ताह तो उसमें लग जायेगा, बाहर का चेक है। फिर मैंने पत्नी से कुछ रुपये लिए

अनुक्रमणिका



बान

नरेन्द्र शर्मा

चाहों की बाँहों के रोके, रुका न वह; मचला जाने को !
खींचा जितना पास, गया वह उतना दूर, न फिर आने को !
और न कुछ, वह बान; काम जो मन में, तन में विकल प्रान है;
जाते जाते बान कान में कहता कुछ मन समझाने को !

छोड़ प्रतिध्वनि शेष, बान जो दूर गया फिर पास न आया !
बान काम का, नहीं राम का; इसलिये वह रास न आया !
किंकर्त्तव्य-विमूढ़ धनुष्य-तन, व्यर्थ सव्यसाची मन मेरा;
बाहर नहीं, लक्ष्य भीतर था; पर मुझको विश्वास न आया !

लांछन छोड़ बाहु पर, टूटी ताँत कान तक पहुँची ज्या की;
दोष देखने लगी गगन के आत्मग्लानिरत दृष्टि घृणा की !
तन की आँख अकेली, मन की आँखें खुली रहीं अनगिनती;
स्वेद देह पर, खेद हृदय में लक्ष्यभ्रष्ट निर्वेद पिनाकी !

मेरुदंड का कमठ, डोर इच्छा की, कोटि मरण-जीवन की;
हाथ स्वार्थ के, अहंबुद्धिवश बंद मुट्ठियाँ दंभीपन की !
अवसर का वह बान; हाथ से निकल गया, फिर हाथ न आया;
होती है गति यही राम से विमुख काम के अनुशीलन की !

खींच-तान की बहुत, स्वप्न-सा बान हुआ देखा-अनदेखा;
पाँव न धर पाये मन जिस पर, सम्मुख थी विस्मय की रेखा !
उदयाचल को अस्ताचल तक छाया लुंठित विश्वासों की,
हारे मन के अंधकार में खिली प्रतिपदा की शशिलेखा !

बहिर्मुखी थी वृत्ति चित्र की, वही बनी अन्तर्मुख चिन्तन;
बाघम्बर-धारी के सम्मुख लिये चला मन को मृगवाहन !
काम-बान, माया-मृग, दोनों बिला गये माया-कानन में;
शनैः-शनैः हो गया क्षीणतर माया-कानन का सन् सन् सन् !

• •

थे, उसे दे डालना चाहता हूँ। पत्नी का उधार और बिजली का बिल समयपर न देने से घर में अंधेरा छा जाता है।"

पांडेजी ने कहा—"पत्नी का उधार तो देना चाहिए, मैं मना नहीं करता, किन्तु उसके लिए जल्दी क्या है। कहीं भागी जाती हैं।"

मैंने कहा —"भागने से अधिक घर को पानीपत बनाना दुःखदायी होगा।" पांडेजी ने कहा—"अच्छा जी, बचे वही दे दो। घर चाहे लिखवा लो।"

शालीनता की सीमा अनन्त होती है और उस सीमा को तोड़ना उतने ही साहस का काम है, जितना प्रेमिका को उपहार देने का वादा तोड़ना। मैंने कहा—"अच्छा देखूँगा, क्या बचता है।" उन्होंने कहा—"देखना नहीं है। ढाई सौ तो दे ही दीजिये। मैं आठ दिनों के बाद आऊँगा।"

आठ दिनों के बाद ठीक हाथ में एक काग़ज़ लिए हुए पांडेजी पहुँचे। उस पर हैंड नोट उन्होंने लिखा। सूद की बात मैंने नहीं लिखने दी। मैंने कहा—"मैं महाजन नहीं हूँ। यह तो मित्रता की बात है ! जहाँ तक जल्द हो आप रुपये लौटा दीजिएगा।" पांडेजी ने कहा —"अरे साहब, कर्ज़ तो मुझे ऐसा लगता है जैसे चारपाई में खटमल। जब तक है कभी चैन नहीं। रुपया हुआ और आपको लौटाया।"

पांडेजी का मकान बन गया। वह उसीमें रहने भी लगे। एक भाग उन्होंने किराये पर दे दिया था जिससे चालीस रुपये मासिक उन्हें मिलते थे। साल भर मैंने उस ओर ध्यान नहीं दिया। कोई रुपया यदि उधार ले जाय, और वह भी आप का मित्र हो तो साल-भर क्या तक़ाज़ा किया जाय। साल भर तो उसे याद ही नहीं रहता कि किसीसे रुपया लिया था। जब डेढ़ साल बीत गया, तब मैंने सोचा कि उनसे कुछ कहूँ। प्रेम की बातें तथा रुपये का तक़ाज़ा जितना पत्र द्वारा व्यक्त हो सकता है उतना ज़बानी नहीं। जब तक कोई घुटा हुआ राजनीतिक नेता न हो मौखिक कहने में न तो वह शब्दावली जिह्वा पर आती है न सुन्दर वाक्य बनते हैं। मैंने एक रात बैठ कर पत्र तैयार किया। बहुत सावधानी से लिखना पड़ा। यह न समझ सके कि तक़ाज़ा कर रहा हूँ। यह तो लिखना ही था कि अतीव आवश्यकता आ जाने के कारण

अनुक्रमणिका

ही पत्र लिखना पड़ा। मकान सुन्दर बन जाने की आशा व्यक्त करनी पड़ी। अपने हाथ से लिफ़ाफ़ा डाक में छोड़ा। एक सप्ताह, दो सप्ताह, तीन सप्ताह बीत गये। उत्तर उसी प्रकार नहीं आया जैसे मरने के बाद आदमी लौटकर नहीं आता। सन्देह हुआ कि पत्र नहीं मिला होगा। डाक विभाग की गड़बड़ी के सम्बंध में इतना नित्य पढ़ता हूँ कि पत्र न मिलने पर विश्वास हो रहा था। फिर भी जल्दी-जल्दी तक़ाजे का पत्र लिखना बीसवीं शती की शिष्टता के विरुद्ध जान पड़ता था। महीने में बार-बार ससुराल जाना और जल्दी-जल्दी तक़ाजे का पत्र लिखना समान है। कुछ इस ख्याल से, कुछ अवकाश न मिलने के कारण तीन महीने बीत गये। उधर से कुछ सुध-बुध न ली गयी। मन में सोचा निश्चय ही पत्र न मिला होगा। पत्नी के कहने से चौथे महीने रजिस्टरी से पत्र भेजा। परन्तु पांडेजी के लिए रजिस्टरी और बिना रजिस्टरी सब बराबर। जैसे जमे हुए पीनेवालों के लिए ठर्रा और व्हिस्की में कोई अन्तर नहीं होता। दो महीने के बाद फिर एक पत्र लिखा। अब तो रजिस्टरी ही से पत्र डालता था। अब तो कुछ चिन्ता होने लगी। दो साल के लगभग बीते थे कि एक दिन चौक में पांडेजी से भेंट हो गयी। प्रणाम–नमस्कार के बाद बहुत संकोच करते हुए मैंने पूछा—"पांडेजी, मेरे पत्र तो मिले होंगे।"

पांडेजी ने आश्चर्य से पूछा—"पत्र, कौन-सा पत्र? हमारे यहाँ पत्रों की बड़ी गड़बड़ी होती है। कितनी बार घरपर लोगों से कहा कि जो पत्र आवे संभालकर रखा करो। कोई सुनता ही नहीं।"

मैंने कहा—"रजिस्टरी द्वारा कई पत्र भेजे गये थे।"

पांडेजी ने कहा–"अच्छा, हाँ याद आया। एक तो मिला था। अरे भाई रुपये की क्या बात करते हो। जैसे तुम्हारे पास वैसे मेरे पास। इसीलिए सूद के लिए मैंने कहा था। जो बैंक में मिलता है वह हम देंगे। और ज्यों ही हाथ में रुपया आता है, मैं घरपर पहुँचा जाऊँगा।"

मैंने कहा—"बैंक में जमा करने के लिए नहीं माँगता हूँ। ससुराल में विवाह पड़ा है, बहुत आवश्यकता है नहीं तो न माँगता।"

पांडेजी बोले—"देखिये मैं बताता हूँ। इस सब फज़ूल-ख़र्चों में मत पड़िये। पुराने ढकोसलों को छोड़िये।"

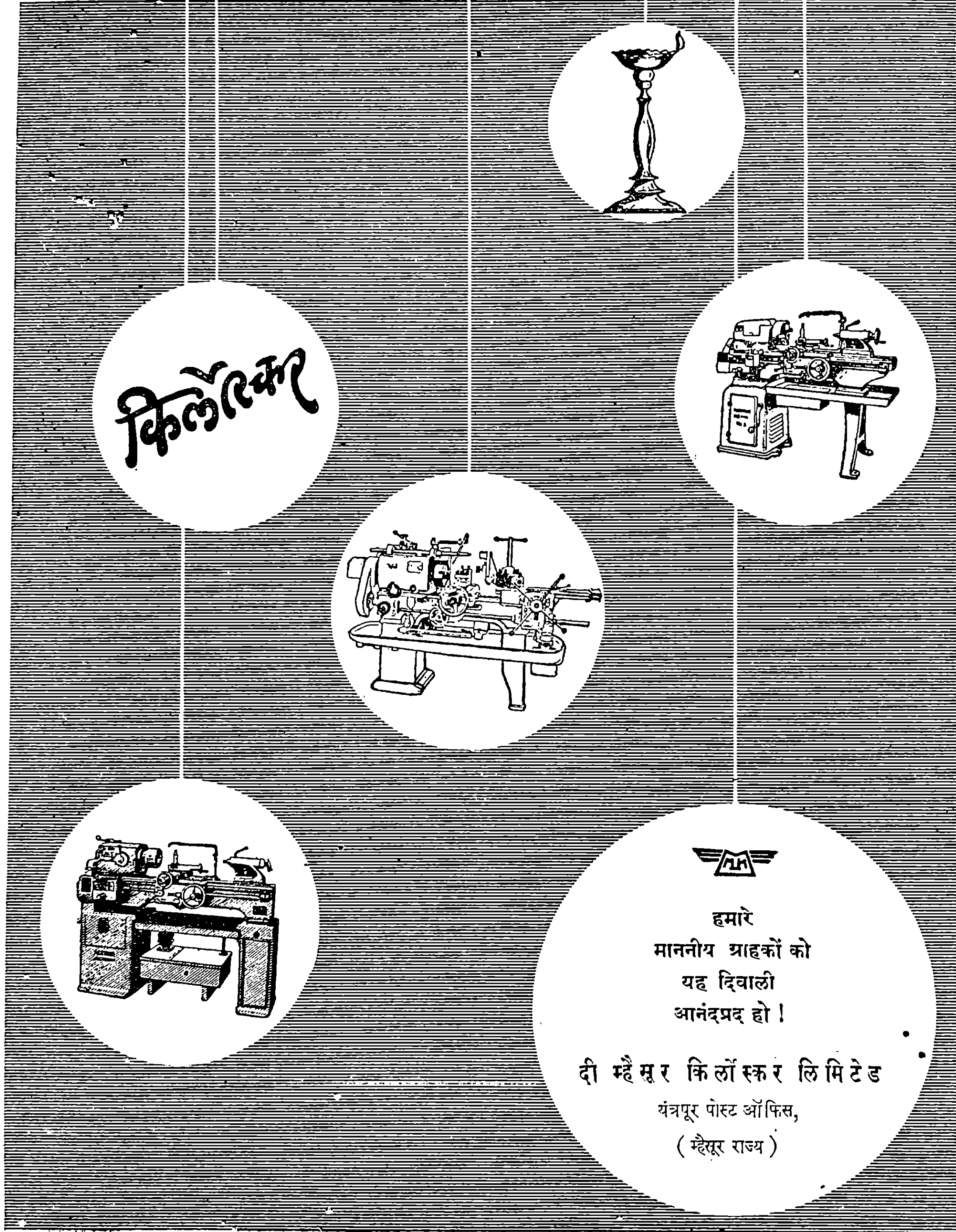
मैंने कहा—"सो तो ठीक है। परन्तु रुपयों की और भी आवश्यकता है। इसलिए उसका प्रबन्ध कर दें तो कृपा होगी।"

पांडेजी ने कहा—"रुपये आपके कहाँ जाते हैं। आप चिन्तित न हों।"

राह में मैंने अधिक बात करना उचित नहीं समझा। दिये थे मैंने रुपये और लज्जा भी मुझे ही आ रही थी। उन्होंने चिन्तित न होने के लिए कहा था और मेरी चिन्ता प्रतिदिन बढ़ती जाती थी। मेरे जैसे व्यक्ति के लिए ढाई सौ ढाई लाख के समान थे। साहित्यकार का पैसा, पैसा ही होता है, जैसे पहाड़






किर्लोस्कर
हमारे
माननीय ग्राहकों को
यह दिवाली
आनंदप्रद हो !
दी म्हैसूर किर्लोस्कर लिमिटेड
यंत्रपूर पोस्ट ऑफिस,
(म्हैसूर राज्य)

का अनाज बडी मुश्किल से पैदा होता है जैसे निष्फल प्रेमी का: समय कविता करने में कटता है उसी प्रकार मैंने लगभग तीन साल का समय तक़ाज़े के पत्र लिखने में काटा। पंद्रह दिन तीन साल बीतने में रह गये। मित्रों ने सलाह दी कि दावा कर दो नहीं तो रुपये गये। कचहरी से मैं उसी प्रकार घबड़ाता था जिस प्रकार वैष्णव माँस से घबड़ाता है। वकील से सलाह ली। वह मानों मेरे लिए तैयार बैठे थे। उन्होंने मुझसे अधिक उत्साह दिखलाया। और अन्त में मैंने दावा कर ही दिया। वकील मेरे परिचित थे इस लिए उन्होंने केवल दस रुपये लिए। बोले—"मैं तो कुछ नहीं लूँगा। पाँच अरज़ी-दावा लिखनेवाले के लिए, चार पेशकार के लिए और एक चपरासी के लिए।"

पहली तारीख़ पड़ी। वकील साहब ने कहा—"एक और वकील रख लेना उत्तम ही होगा।" उस दिन पचीस रुपये लगे। पांडे जी ने जवाब लगाया था। फिर तारीख़ पड़ी। किन्तु किसी कारण टली और दूसरी तारीख़ पड़ी।

उस दिन बहस के लिए--एक और पुराना—सीनियर—वकील रखना पड़ा जिसने पचास रुपये लिये। उधर के और इधर के वकील ४ घंटे न जाने क्या-क्या बहस करते रहे। मुंसिफ साहब कभी-कभी जाग जाते थे और गर्दन हिला दिया करते थे। दो-दो घंटे दोनों ओर के वकीलों ने विवाद किया। बीच-बीच में जब थक जाते थे, तब मोटी-मोटी पुस्तकें उठाकर उसमें से कुछ पढ़ने लगते थे। जब वे दोनों वकील थककर चुप हो गये, तब अदालत ने बताया कि फैसला दूसरे दिन सुनायेंगे। मुझे ऐसा जान पड़ा कि उस दिन वह अधिक भोजन करके आये थे और नींद का वेग अधिक था।

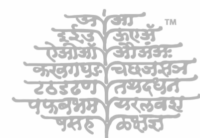
घर पर रात में सब हिसाब जोड़ा तो अबतक तीन सौ पछत्तर रुपये मेरे इस मुक़दमे में खर्च हो गये। यदि पहले ऐसा जानता तो कचहरी गया ही न होता। ढाई सौ कर्ज़ दिया आर तीन सौ पछहत्तर मुक़दमे में व्यय हुआ। सवा छ: सौ खर्च हो गये। फिर भी सोच रहा था कि कागज़ सब ठीक हैं ही। ढाई सौ तो मिलेंगे ही। वकील ने विश्वास दिलाया था कि मुक़दमे का खर्च भी मिलेगा। दस दिनों के बाद फैसला सुनाया गया कि पांडे जी गरीब आदमी हैं। एक साथ इतना रुपया नहीं दे सकते। दो रुपया महीना करके देंगे। • •

[अनुक्रमणिका](#)





अनुक्रमणिका









अरविंद गोखले

.....और उसी अवस्था में वह उस सिगरेट के धुएँ के पार्श्व में बाळासाहब की अस्पष्ट आकृति देखने लगी। फिर पारिजातक का एक-एक फूल निकालकर धीरे-धीरे गूँथने लगी।

सहेलियाँ या स्कूल की अध्यापिकाएँ घर आ जायें तो उन्हें चिवड़ा दिया जा सकता है, वर्ग की ही लड़कियाँ आ जायें तो घर में रखे हुए बिस्कुटस् या पास ही के बाग के पारिजातक के फूल उन्हें दिये जा सकते हैं, मौसेरा भाई धुमकेतु की तरह आ धमके तो उसके लिए एक कप गरमागरम चाय के साथ-साथ एक सिगरेट का पॉकीट देने से वह खुश हो सकता है; लेकिन अपनी प्यारी सहेली के पति पहली ही बार आ रहे हों तो उस समय उनके सामने क्या पेश करूँ? इन्हीं चीज़ों में से कुछ उन्हें दूँ या और कुछ नयी चीज़ बनाऊँ? सुधा के पति अपने घर आज आनेवाले हैं इस खबर से ही काशी गड़बड़ा गयी थी। शनिचर था। स्कूल से घर लौटी तो सुधा का कार्ड उसे मिला — बाळासाहेब कॉन्फ्रेन्स के लिए सोलापूर गये हुए हैं। शनिचर दोहपर को लगभग तीन बजे तुम्हारे घर जानेके लिए मैंने उनसे कहा है — यह खबर काशी ने पढ़ी तो उसका दिल धड़कने लगा और उत्कंठा से वह बावली-सी हो गयी।

सुधा उसकी खास सहेली थी। जब से स्कूल में पढ़ती थी तबसे सहेलियाँ थीं वे दोनों। मगर दोस्ती तब बढ़ने लगी जब वे दोनों एस. टी. सी. के वर्ग में आयीं और विशेषतः सोलापूर में नौकरी लगनेपर जब उन दोनों ने कमरा ले लिया एक साथ। तीन साल तक दोनों एक ही शाला में पढ़ने जातीं और एक ही कमरेमें रहती थीं। एक दूसरेके लिए रसोई बनाना, पेपर्स जाँचना, नींद न आनेपर रातभर जागते रहना, दिल के सुख-दुख एक दूसरे को बताना ... ऐसी जो खास सहेली सुधा थी, उसके पति का स्वागत करना अपना परम कर्तव्य है यही मानकर काशी काम में जुट गयी थी। सारे कमरे की चीजें उसने व्यवस्थित रखीं। बहियों तथा पेपरों के गट्ठर और धुलाई के कपड़े खटिया के नीचे रखकर छिपा डाले। शेल्फपर रखी किताबों को साफ़ किया। दीवारपर की तस्वीरें कपड़ेसे पोंछी। कृष्णगोपी की रासक्रीड़ा के चित्र का कॅलेंडर निकालकर रखा। एक फ्रेम खटियाके सामने उसने टाँग दी जिसमें सुधा और काशी के चार-पाँच फोटो लगाये गये थे। खटियापर धुलाई से आयी हुई एक चादर बिछा दी; जिसपर 'स्वीट ड्रीम' लिखा हुआ था। पोहे बनानेके लिए आवश्यक चीजें और बिस्कुटोंका एक डिब्बा ला रखा। चाय के लिये कपोंका नया सेट भी पड़ोसी से ले आई। सिगरेट? वह नहीं जानती थी कि बाळासाहेब सिगरेट पीते हैं या नहीं। उसने शादी में लोगों को तमाखु और पान खाते और सिगरेट पीते देखा था। मगर बाळासाहब इसके आदती हैं या नहीं यह काशी ठीक नहीं जानती थी।

बाळासाहब सिगरेट नहीं पीते होंगे; पीनेकी आदत पहले हो तो भी अब उन्होंने वह आदत छोड़ दी होगी। और पोहों की प्लेट जब उनके सामने पेश की जायगी, तो वे अपनी सुधाकी याद से हर्षविभोर हो जायेंगे — पोहों की प्लेट हाथ में लिए अपने पतिदेव के सम्मुख खड़ी सुधा का चित्र उसके मानस-पटल में साकार होने लगा... और इतने में एक गर्म लहर उसके ठंड शरीर को स्पर्श-सी कर गयी। "उनका सिगरेट पीना मुझे जरा भी नहीं जँचेगा... जरा भी नहीं...।" कहते हुए खिड़की से पारिजातक के पेड़ की तरफ़ देखते खड़ी सुधा की याद उसे आई।

काशी ने बावली की तरह आइने में देखा। हरे रंगका ब्लॉउज पहनी सुधा उसे आइने में दिखने लगी। फिर बगैर कुछ पहने हुए सुधा को भी उसने आइने में देखा। एक दिन की बात है। रविवार था। सुधा के स्नान के बाद काशी गुसलखाने में गयी; मगर पानी गरम नहीं हुआ था; इसीलिए वह बाहर चली आई। कमरे का दरवाजा सुधा ने ऐसा ही लगा लिया था। उस दरवाजे से उसने भीतर देखा तो सुधा स्नान के बाद आइने के सामने आँचल को संभाले बीना ही खड़ी थी। अपनी लहलहाती हुई उन्नत शरीराकृति वह आइनेमें देख रही थी। काशी ने सुधा की अनावृत्त आकृति को देखा। और सुधा ने काशी को

अरविंद गोखले :

मराठी साहित्य में अग्रगण्य नव-कथा-लेखकोंमें से आप एक हैं। आपके अनेक 'कथा-संग्रह' प्रकाशित हो चुके हैं। आपकी कई कहानियाँ गुजराती तथा अँग्रेजी भाषामें भी अनुवादित हुई हैं। ...ही में 'वेश्या व्यवसाय' पर छपी आपकी किताब में एक नया दृष्टिकोण ...त होता है। आपकी विशिष्ट तथा प्रभावी भाषाशैली की एक कथा हम यहाँ प्रकशित कर रहे हैं।

दरवाज़े के पास खड़ा पाया। दोनों शरमा गयीं...आज वही शर्मिला चेहरा, उन्नत शरीर काशी को याद आने लगा। और वह आइने के आर-पार देखने की चेष्टा करने लगी। बाळासाहब को देखने की कोशिश करने लगी। शादी के बाद, फोटो खिंचते समय सुधा के शरीर से सटकर खड़े बाळासाहब की याद आई उसे। अपनी खास सहेली की वह अनावृत्त आकृति सिर्फ़ काशीने ही देखी थी। वह उसकी रहस्यमय बात थी। अधिकार भी था उसका...और अब बाळासाहब......

काशी भौंचक्की-सी रह गयी। उसने खाट का सहारा लिया। सामने कोच था। वहीं पहले सुधा की खाट रहा करती थी। बिछी चादर हमेशा साफ़सुथरी रहा करती थी। किसी का उसकी खटियापर बैठना पसंद नहीं करती थी वह। अब उस कोचपर बाळा-साहब आकर बैठेंगे। जल्दी से काशी ने बाल सँवार लिये और वह गैलरी में गयी दौड़कर।

धूप लगने लगी; इसीलिए काशी भीतर चली आई। अपने कमरे में जो कुछ है वह सारा सुधा का ही बनाया हुआ था। उसे ऐसा लगा मानो यह सारी सुधाकी ही गृहस्थी है। आईने के सामने सुधा खड़ी थी और उसीसे सटकर बाळासाहब खड़े थे। फोटो में सुधा और बाळासाहब हँस रहे थे। वे कोचपर बैठे हुए थे और वह पौहोंकी प्लेट लिए खड़ी थी—काशी ने थोड़ासा सुख अनुभव किया — थोड़ी सहमी। उसे भूख लगी। बाळासाहब के आनेके पहले ही भोजन करनेके इरादे से वह उस छोटे रसोईघर में चली गयी। उसकी आँखों के सामने जनवासे के भोजन का प्रसंग आया। बाळासाहब को बड़े आग्रह से उसने परोसा था—सुधा को पहेली सुझाने को वह सुधाके पीछे ही खड़ी थी — बाळासाहब ने जब 'हाँ' कहा तब वह और सुधा दोनों मध्यरात्री तक बातें करती रही थीं; और गौने के समय वह बाळासाहब से कह चुकी कि मेरी सुधा को अच्छी तरह संभालिए — रोटी का छोटा-सा टुकड़ा ही वह खा चुकी थी कि उसका पेट भर गया और आँखें तर हो गयीं। सुधा को नापते कदमों से जाते उसने देखा — उसके दिलमें उफ़ान-सा आया और वह दरवाज़े के पास आयी — तो बाळासाहेब सामने खड़े थे।

"आइये" चौंककर काशी ज़रा पीछे हट-सी गयी और अपनेको संभालते हँसकर बोली। उन्होंने धोती और रेशमी कमीज़ पहनी थी और अब वे सूट-बूट पहने हुए थे। कितने उम्दा और नाटे वे दीख रहे थे।

"सुधा ने कार्ड भेजा था न? तुम्हारे घर जानेके लिए बार-बार कहा था उसने मुझसे। समय न होनेपर भी मैं आया —" बाळासाहब सारे कमरे का अवलोकन करते हुए बोले—"कान्फरेन्स की इस गड़बड़ीमें भूल ही गया था मैं यहाँ आना —" हमेशा आनेवाले व्यक्ति की तरह वे सीधे कोचपर जा बैठे। काशी खटिया के सहारे खड़ी रही। आज काफ़ी लंबे अर्से बाद उसे अपना घर भरा-भरा-सा नज़र आया। पूछा — "हमारी सुधा ठीक तो है न?"

"तुम्हारी?"—अपने हाथ में पकड़े टाइम्स को पंखे की तरह हिलाते हुए बाळासाहब मुस्कराये। उनके चेहरेपर खुशी की छाया छा गयी। बड़ी उत्सुकता से बोले — "अच्छा पूछ रही हो तुम—तुम्हारी तो हमेशा याद करती है वह। तुम्हारे बारे में, इस कमरे के बारेमें हमेशा बहुत कुछ बड़बड़ाती रहती है वह —" फिर कुछ क्षण ऐसे ही बीते।

"रात की गाड़ी कितने बजे छूटती है?" बाळासाहेब ने एकाएक पूछा।

"क्या आज ही जायेंगे?" काशीने आश्चर्य से पूछा।

"जी। कॉन्फरन्स का काम तो सुबह ही खतम हुआ — यहाँ गरमी कितनी है और यह गाँव भी कितना भद्दा है।" फ़िर से अखबार का पंखा करते हुए परेशानी में बोले। हो सके तो अभी कोई गाड़ी होती तो उसीसे जानेकी तैयारी थी उनकी। सुधा ने बताया था इसीलिए काशी से मिलने के लिए वे शायद रुके होंगे! बस्! काशी ने वह अनुभव किया और वह निराशा-सी हो गयी। उसकी यही इच्छा थी कि वे दोनों सुधा के बारेमें बहुत-बहुत बातें करें। पर वह योंही कह बैठी—

"कुछ खानेके लिए बनाती हूँ —"

"अजी, नहीं चाहिए — आज पार्टी थी हमारे यहाँ। भूख तो बिल्कुल नहीं।"

"पौहे बनाती हूँ —" काशी ने मुस्कुराते कहा और बाळासाहब भी हँसे।

रसोई के कमरे में जानेवाली काशी की आकृति, पीछे की तरफ़ से देखते हुए बाळासाहब कोच पर बड़े आराम से बैठ गये। तीन दिन वे हॉटेल की चीजें खाकर तंग आ गये थे। अब घरकी बनी चीज़ खानेको मिलनेवाली थी और वे भी पौहे — बाळासाहब को सुधाकी हठात् याद आयी। सुधा जब खुश रहती तब पोहे बनाने का आयोजन किया करती थी; बाळासाहब के मुँह में अपने हाथों से वह पौहे डालती। बाळासाहब खुशीसे फूल गये; और बाद उन्हें मालूम हुआ कि सुधाको उसकी सहेली ने रसोई बनाने को सिखाया। उनमें पौहेका शौक सुधाने निर्माण किया और सुधा में वह शौक निर्माण किया था काशी ने।

अब वे ध्यानपूर्वक कमरे की सब चीजोंकी ओर देखने लगे। बगलमें ही तिपाईपर पारिजातक के फूल थे और उनके घरमें सुधाके तकीयेके नीचे पारिजातक के फूलोंकी माला थी। यहीं के फूल थे वे। शायद काशी ने ही बनाकर दी थी वह माला! संभव है सुधाने उन फूलोंकी सुवास सूँघते अनेक रातें बिना नींदकी गुजारी होंगी सिर्फ़ बाळासाहब की यादमें। उनसे मिलनेकी इच्छासे। लेकिन अब उन्हें महसूस हुआ कि उनकी पत्नी जब रातके समय अपलक जागरण करती थी उस समय उसके साथ यही सहेली रहा करती थी। सामने की खटियापर काशी और जहाँ कोच रखा है, वहाँ सुधा सोती थी।

दीवारपर लगे हुए आइने में उन्हें मानो अस्तव्यस्त स्थिति में सोयी हुई सुधा नज़र आने लगी और फिर वे अपने आपको भूल कर आईने में ही लगातार देखते रहे। रातदिन एकसाथ रहनेवाली इन दो युवा सहेलियोंने एक-दूसरे के देह भी देखे होंगे-स्नान करते समय, कपड़े बदलते समय और बिछौनेपर लेटते समय। जो सिर्फ बाळासाहब को ही मालूम था और जहाँ सिर्फ़ उनका स्पर्श हो सकता था, उसे भी काशी ने देखा

[अनुक्रमणिका]





होगा। बाळासाहबके दिल में काशी के प्रति तीव्र ईर्ष्या निर्माण हुई; और तुरन्त उसके प्रति अपनापन भी उन्होंने अपने दिलमें महसूस किया। उन्मत्त की अवस्था में जब वे चुपचाप बैठा करते थे, तब सुधा उनके बालोंको अपनी उँगलियों से सहलाते हुए अनेक बातें कहा करती थी, जो सोलापूरमें रहते हुए उसने अनुभव की थीं। 'बहुत बारिश हुई उस रोज... पार्कसे मैं और काशी दोनों वसंतसेना की तरह भिगतीं आयीं......।' 'रोज मध्यरात्रीके समय मैं सपने देखा करती थीं। तब डरकर उठती और काशी को आलिंगन देती थी......।' 'आपके घरसे आया हुआ जवाब जब पिताजीने मुझे बताया, तब मैं घबरा गयी, काशीनेही उस समय मुझे हिम्मत दिलायी......।' उस समय सुधाकी वह सारी बकबक मामूली लगती थी; लेकिन आज उसीने बाळासाहबके दिलको बोझिल बना दिया। उस बकबक की पार्श्वभूमि मानों उनकी आँखोंके सामने दिखाई देती थी।

पौंहे से भरी प्लेट और चायकी किटली-कप आदि लेकर काशी बाहर आई। पौहे बनानेमें कुछ देरी हो गयी इसलिए वह कुछ कहनेवाली थी। बाळासाहेब ने अभी-अभी गाड़ी छूटनेका समय पूछा था, लेकिन वे ही अपनी टायकी गाँठ ढिली किये तकिये के सहारे आराम से बैठे हुए थे। मानों वे यहाँ रहने के लिए ही आये हों

पौहे मुँहमें डालते ही काशी ने उनसे पूछा—"पौहे पसंद आये आपको?"

"इतने दिनों तक मैंने सिर्फ़ सुना ही था; मगर आज प्रत्यक्ष —"

बाळासाहेब ने और कुछ पौहे मुहँ में डाल लिये।

"उसमें भला कौन बड़ी बात है। वह मुझसे अच्छा बनाती है रसोई —"

"तुम्हींने सिखाया न उसे। पौहे से लेकर पुराणपोळी तक की चीजें बनाने के लिए—"

"आपके कानोंतक खबर पहुँची है तो——"

"नहीं तो किसके कानोंमें पहुँचेगी यह बात —?" मुस्कुराते हुए बाळासाहब ने पूछा और धीरे-धीरे खाते हुए पौहों की प्लेट खत्म की।

—"वह टेबल लेम्प छठी की लड़कियोंने भेंटस्वरूप दिया न?—वह फ्रेम के बीच का फोटो पार्क में तुम्हारे मौसेरे भाई ने खिंचा था न?— और साड़ी के गट्ठर अब भी तुम खटिया के नीचे डालती हो या नहीं?—" और एक-एक सवाल, कमरे में चारों ओर देखते हुए बाळासाहब काशी से पूछे जा रहे थे। मानों छः महीने पहले वे यहाँ इसी कमरेमें रह चुके थे काशीके साथ! सुधा के जीवन से समरस हो चुके थे और अब सुधा की स्मृतियोंसे एकरूप बन रहे थे।

फिर बाळासाहब काशी की ओर देखने लगे। काशी पान-सुपारी तश्तरीमें रख रही थी और बाळासाहब की नज़र थी काशी की लंबी मगर पतली उँगलियों की ओर, खोंसे हुए आँचल की ओर, केशकलाप की ओर, मोटे कुंकुमकी ओर, पतले शरीर की ओर। और उनका दिल, मानो कह रहा था काशी, मैं और तुम दोनों किसी अटूट बंधनसे जकड़े हुए हैं। एक ही सिक्के के दो बाजू हैं हम। मेरी प्रियतमा तुम्हारी सखी है। तुम्हारे सहवास में सुधाका भावजीवन खिल उठा; और उन्हीं आकाशपुष्पों की मेरी गृहस्थी में वर्षा हो रही है। एक ही व्यक्ति के सुखदुख के हम दोनों हिस्सेदार बने हुए हैं। एक बार उन्होंने सोचा कि काशीसे बिलकुल खुले दिलसे बातें करूँ; दिल की बातें करूँ!—मगर उस समय वे चुप बैठ गये। काशी एक पर-स्त्री थी। शादीमें कुछ घंटे और अब कुछ मिनटोंका सहवास जिसका हुआ है, वह मेरी पत्नीकी सहेली ही तो थी।

"सुपारी लेंगे आप?" काशी ने मृदुता से पूछा।

"लौंग ले लेता हूँ एक—"

"सुधा मेहमानों के लिए भी सुपारी लाया नहीं करती थी। यह सुपारी मैं लाई हूँ परसों —"

"शादी में खाया हुआ मेरा अंतिम पान था, बस।" बाळासाहब लौंग मुँहमें डाले चुप बैठ गये। कुछ मिनटोंके बाद बाळासाहेब बोले—

"इस कमरेमें दूसरे किसी पार्टनर को नहीं लिया तुमने?"

"नहीं रखा, बस ...।" काशी बोल उठी। मेरे मनमें बाळासाहब के बारेमें जो विचार आ रहे हैं उनको उन्होंने भलीभाँति समझ लिया है ऐसा काशीने समझा, उनके चेहरेके परिवर्तित भावोंसे, उनकी आवाज़से। वह और गड़बड़ा गई। वह बाळासाहबकी ओर टकटकी लगाये देखने लगी।

"तुम हमारे घर कब आओगी? स्कूल जब बंद हो जायगा छुट्टीमें तब तुरंत आ जाओ...सुधा बड़ी खुश होगी।" उन्होंने पूछा। यकायक उनको कहीं पढ़ी हुई बात याद आयी कि पति में भी ईर्ष्या करने जैसी मित्रता दो स्त्रियोंमें हुआ करती है।

"छुट्टियाँ शुरू होनेके लिए अभी कई दिन हैं। उसके पहले आप दोनों मिलकर सोलापूर में आ जाइये—" सूखे कण्ठ से काशीने कहा। उसको कहीं सुनी हुई बात याद आई कि पुरुष अपने दोस्तों को सुहागरात की सारी बातें बताया करते हैं।

अब बाळासाहब विदा लेंगे, इस कमरे के बाहर चले जायेंगे, इस ख़्यालसे काशी बड़ी उदास बन गयी। उन्होंने जब कोचसे उठनेकी कोशिश की, तब वह विदाई लेनेके इरादे से बोली—

"तो कह दीजिये बाबीको—"

"बाबी को?"

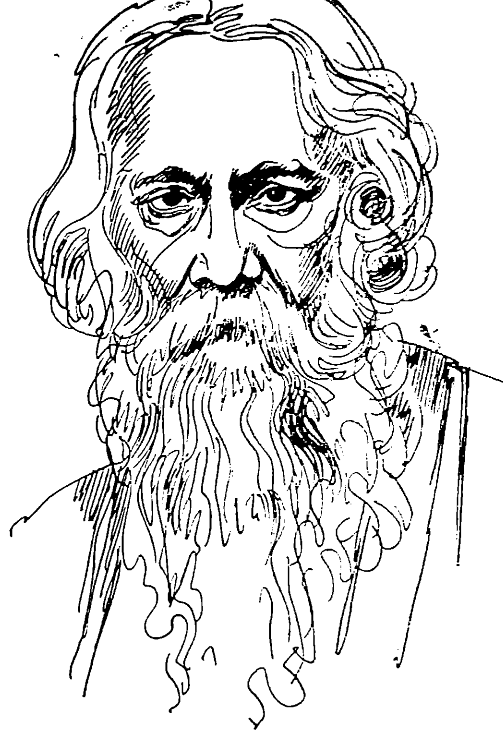
बाळासाहब विस्मित रह गये। काशी भी गड़बड़ा गयी। काशी अपनी सहेली को खास प्रिय नाम से पुकारा करती थी—बाबी। काशी ने रखा था यह नाम। काशी को ही पुकारने के लिए था वह नाम! और शादी के समय सुधाका नाम बदलने के बारे में काफ़ी चर्चा हुई थी, तब बाळासाहब ने अकेले में सुधासे कहा था कि दूसरे लोग तुम्हें कोई भी नाम रखें और किसी भी नाम से पुकारें, मैं तो तुम्हें बाबी ही कहूँगा।

चुप्पी की अवस्था में जब समय बीतने लगा, तब बाळासाहब को याद आयी कि उनकी जेबमें सिगरेट का पाकिट है। शादी के बाद उन्होंने सिगरेट हाथमें नहीं ली थी। वह सिगरेटका पाकिट उन्हें कॉन्फरेन्स की पार्टी में मिला था। दिलमें जो एक अजीब सी खलबली मच गयी थी, उसे शांत करनेका अब एक ही उपाय था सिगरेट पीना।

काफ़ी समय था और पाकीटमें दस सिगरेट थे। एक सिगरेट जलाकर वे मुँह-नाकसे धुआँ छोड़ने लगे। काशीके मनमें भी खलबली मच गयी थी और उसी अवस्थामें वह उस धुएँके पार्श्वमें बाळासाहबकी अस्पष्ट आकृति देखने लगी। फिर पारिजातका एक एक फूल निकालकर धीरे-धीरे उसे गूँथने लगी।

• •

अनु.: **मधुकर अमृते**



रवीन्द्र–जयन्ती का वर्ष : एक दृष्टि

धर्मवीर भारती

जिनके विक्षुब्ध मनों को टैगोरकी गहन अनुभूतियों से आश्वासन और दिशाऐं मिली हैं उनका यह गहनतम दायित्व हो जाता है कि वे इस बात की कोशिश करें कि इन अगणित आवाजों में कहीं से रवीन्द्र की आवाज़ भी उठे।

अखिल भारतीय वंगीय साहित्य परिषद् के मंच से उद्घाटन भाषण देते हुए हमारे देश के नियंता और संसार के एक श्रेष्ठ बुद्धिजीवी पंडित जवाहरलाल नेहरू ने रवीन्द्र जयन्ती के प्रसंग में रवीन्द्र को स्मरण किया। जिस व्यक्ति ने समस्त संसार के अन्याय और मिथ्या के प्रति युद्ध करते हुए अपना सारा जीवन कारागार में विता दिया और कारागार में भी जिसकी अन्वेषिकी आत्मा निष्क्रीय नहीं बैठी, बल्कि इतिहास की हजारों वर्ष पुरानी पगडंडियों पर पीछे लौट कर जिसने भारत की आत्मा की खोज करनी चाही। जब उस श्रेष्ठ बुद्धिजीवी पंडित नेहरू ने रवीन्द्रनाथ टैगोर को श्रद्धांजलि दी तो कानों पर विश्वास नहीं हुआ कि यह रवींद्र के काव्य का रसिक बोल रहा है या अरसिक। पंडित नेहरू ने अपने उस भाषण में जिस बात को बहुत जोरशोर से कहा था वह यह थी कि "टेगोर महान् कवि थे। क्यों कि वे अत्यंत जन सुलभ वाणी में लिखते थे और आज हिन्दी वाले जो राष्ट्रभाषा-पद के लिए इतना शोर मचा रहे हैं, वे उस सरल सहज जन भाषा में लिखना नहीं सीख पाये जिसमें टैगोर लिखे गये हैं।" उसदिन मुझको यह लगा कि कवि की प्रशंसा या अप्रशंसा का मानदंड इस आधुनिक युग में आकर बदल चुका है। कोई आवश्यक नहीं कि कवि की प्रशंसा आप कवि को समझ कर करें। यदि कवि को अपनी नीतियों के समर्थन के लिये आप अस्त्र के रूप में इस्तेमाल कर सकते हैं तो वहीं आपको रसिकत्व का अधिकारी बना देता है। यदि आगे चलकर प्रशंसा कवि की व्याज निंदा ही साबित हो तो इसमें इस नये मानदंड वाले बुद्धिजीवी प्रशंसक को रत्ती भर असमंजस नहीं होता।

रवीन्द्र के परवर्ती या रवीन्द्र के यश से विक्षुब्ध उनके कतिपय समकालीन कवियों ने अक्सर इस बात की घोषणा बार-बार की है कि रवीन्द्र अतिशय भाग्यशाली थे; उनको विदेशों में सन्मान मिला, नोबुल पुरस्कार मिला और उनकी महानता का बहुत कुछ श्रेय इन चीज़ों को है। मैं नहीं जानता कि यदि इस दूसरे संदर्भ से देखा जाय तो क्या सचमुच नोबुल पुरस्कार का मिलना विश्व में उनकी प्रतिष्ठा का संवर्धन सचमुच रवीन्द्र के लिए इतने बड़े सौभाग्य की बात थी। अगर यह सब कुछ न मिलता तो भी रवीन्द्र का काव्य जिस स्तर पर जिन कारणों से जिन संदर्भों में महान् है उसमें कोई कमी न आती। संसार के कितने ही श्रेष्ठ लेखक हैं जिनको नोबुल पुरस्कार नहीं मिला, लेकिन इससे उनकी महानता में कोई कमी नहीं आई। और कितने ही ऐसे कवि हैं जिनको नोबुल पुरस्कार मिला लेकिन आठ-दस वर्षों के अन्दर संसार उनको भूल भी गया। इस संबंध में नोबुल पुरस्कार का मिलना रवीन्द्र के लिये कोई अप्रत्याशित सौभाग्य की बात नहीं कही जा सकती। सच तो यह है कि नोबुल पुरस्कार के मिलने ने उनके व्यक्तित्व को ऐक एसी परिधि में खींच लिया जिसमें उनके इर्दगिर्द ऐसे तत्व ज्यादा बढ़ते गये जिनमें काव्य रसिकत्व कम था जो यदि जय जयकार करते थे, तो उस जय जयकार के पीछे अभिप्राय दूसरा हुआ करता है। बात बाद में उठाई जाय। पहले विदेश की ही स्थिति लें।

जिस समय टैगोर को नोबुल पुरस्कार मिला उस समय तक नोबुल पुरस्कार स्वतः एक व्यापक विवाद का विषय बन चुका था। यदि नोबुल पुरस्कार के इतिहास को ध्यान से देखें तो कई मनोरंजक तथ्य ज्ञात होते हैं। सबसे पहला नोबुल पुरस्कार १९०१ में दिया गया एक फ्रेंच कवि को जिसका आज कोई नाम भी नहीं जानता। क्या कभी आपने सलि प्रु

sully prodhomme का नाम सुना है ! स्वयं फ्रांस में इस पुरस्कार मिलनेके पाँच वर्ष बाद १९०६ में जब एक फ्रेंच साहित्यिक पत्रिका ने देश भर के कवियों से पूछा कि उनका सबसे प्रिय कवि कौन है तो लगभग दो सौ कवियों ने अपने अनेक प्रिय कवियों का नाम लिया पर विचित्र था कि उनमें से नोबुल पुरस्कार विजेता किसी का भी आदर्श या प्रिय कवि नहीं था। यह पुरस्कार जिस समय दिया गया था उस समय टाल्सटाय जीवित था और समस्त संसार के लेखक और पाठक एक स्वर से टाल्सटाय को संसार का महानतम लेखक मानते थे। उसके बाद से आजतक कितने ही ऐसे लेखकों को नोबुल पुरस्कार मिला जिनकी स्थिति प्रथम पुरस्कार विजेता से ज्यादा अच्छी नहीं थी। १९१३ में जब टैगोर को नोबुल पुरस्कार मिला उस समय समस्त संसार में उसकी व्यापक चर्चा हुई। लेकिन दुर्भाग्य यह था कि समस्त पश्चिमी देशों में चर्चा टैगोर के कथ्य की नहीं हुई, टैगोर जो संदेश देना चाहते थे उसकी नहीं हुई। चर्चा इस बात की हुई कि यह पुरस्कार काले लोगों के लिए वर्जित नहीं है। "देखो, एक गुलाम एशियाई देश के बहुत कम लोगों द्वारा बोली जानेवाली भाषा के कवि ने इतना बड़ा पुरस्कार जीता है।"

जो चर्चा करते थे उनमें कुतूहल अधिक था, कवि की रचना के लिए जिज्ञासा कम। वह भावना आज इतने दिनों बाद भी बहुत अधिक नहीं बदली है। अभी कुछ दिन हुए जब नोबुल पुरस्कारों पर सिंहावलोकन करते हुए वैलेस ब्राकवे ने लिखा था—"जब सन् १९१३ में पुरस्कार के लिए टैगोर का चुनाव हुआ तो बहुतों के मन में पहली बात यह जगी कि गैर योरोपीय साहित्यिक को भी पुरस्कार मिल सकता है। टैगोर पहले ऐशियाई पुरस्कार विजेता थे और अभी तक अंतिम भी। टैगोर बंगाली में लिखते थे और जो लोग इस भाषा को जानते हैं उनका कहना है कि वे महान् कवि थे। हो सकता है कि वे रहे हों! यीट्स जो बंगाली बिल्कुल नहीं जानता था, उन्हें महान् कवि मानता था।" जरा इस अंतिम वाक्य में छिपे हुए व्यंग पर ध्यान दीजिए। सन् १९१३ में टैगोर को नोबुल पुरस्कार मिला था। यह लेख सन् १९५७ में निकला। नोबेल पुरस्कार मिलने ४४ वर्ष बाद।



स्वर्ग में दुष्ट
सताना छोड़
देते हैं और
थके हुए विश्राम
करते हैं।

लेकिन इन ४४ वर्षों में भी पश्चिम को इतना अवसर नहीं मिल सका कि वह एक एशियाई भाषा को जानता या टैगोर की रचनाओं के आंतरिक महत्त्व को ग्रहण कर उनकी महानता पर [illegible] करता। वह पहले कहता है कि केवल बंगाली जाननेवाले टैगोर की महानता के साक्षी हो सकते हैं। फिर संकेत करता है कि यीट्स जो टैगोर की महानता का सबसे बड़ा साक्षी रहा वह बंगाली जानता ही नहीं था। इस तरह खुद तो वह टैगोर के काव्य को प्रत्यक्ष रूप से जानता ही नहीं। जो साक्षी है, यीट्स–उसकी साक्षी को भी अप्रामाणिक चेष्टा बताने का सूक्ष्म संकेत करता है।

ऐसा नहीं कि पश्चिम या पूर्व में ऐसे काव्य रसिक नहीं रहे जिन्होंने टैगोर के काव्य के मर्म को और उसके संदेश को सचमुच समझने की कोशिश की–लेकिन ऐसे लोगों की संख्या बहुत कम है। पश्चिम की अधिकांश चर्चा एक दूसरे स्तर पर हुई कि टैगोर एशियाई थे और फिर भी उन्होंने पुरस्कार जीता।

पूछा जा सकता है कि यदि ऐसा भी था तो उसमें हानि क्या ? उपर से देखने पर इसमें कोई विशेष हानि भी नहीं लगती। लेकिन अगर ध्यान से देखें तो बिना समुचित मानदंड का आधार लिए वह समस्त चर्चा गलत दिशाओं में जा सकती है या टैगोर की स्थिति का गलत उपयोग कर सकती है। यह बात केवल इस देश के अन्दर ही नहीं, इस देश के बाहर भी सच है। संदेह होता है कि टैगोर के बारे में विदेशों में स्थान–स्थान पर जो आयोजन हो रहे हैं, उत्सवों की धूमधाम है, उसमें से कितने मानदंडों के लिए है जिसको कवि ने देश और काल की सीमा भूलकर मनुष्यमात्र के लिए प्रतिष्ठित किया है और कितना उन गैर साहित्यिक अभिप्रायों के लिए है जिनका कविसे कोई संबंध नहीं रहा है या जो अभिप्राय अक्सर कवि के द्वारा स्थापित मानदंडों से सर्वथा विपरीत भी पड़ते हैं। यह संदेह आज काफी लोगों के मन में जागता प्रतीत होता है।

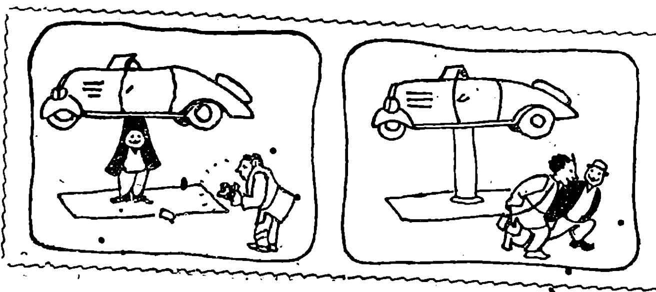
अभी पिछले दिनों समस्त संसार में होने वाली रवीन्द्र जयंती की तैयारियों का विवरण देते हुए 'लिंक' के संवाददाता ने लिखा था कि ऐसे विचित्र से [illegible]तावरण में दोनों शिविर रवीन्द्र-जयंती मनाने की तैयारी कर रहे हैं; कि मालूम होता है कि इसे भी दोनों मुकाबले और जोर-आजमायश का आखाड़ा बना लिया है। लगता है कि शीत युद्ध के लिए रवीन्द्र जयंती भी एक अस्त्र बन गयी है।

आश्चर्य की बात नहीं है। जब लोग कवि की महानता का सही मानदंड न अपनाकर गलत मानदंडों पर: जयजयकार करते हैं और गैर साहित्यिक अभिप्राय से करते हैं तो यह विडंबनाजनक स्थिति देश के अन्दर भी कवि के यश गान को एक अस्त्रमात्र बना देती है और विदेश में भी वह एक अस्त्रमात्र बन कर रह जाता है। कवि के सामाजिक क्षेत्र में पिछड़ जाने, उसको महत्त्व न मिलने और यांत्रिक युग में उसके अपदस्थ हो जाने की विडंबना बहुत बार कही गई है लेकिन रवीन्द्र जयंती के प्रसंग में हम आधुनिक युग की एक बिलकुल दूसरी विडंबना को अपने समक्ष पाते हैं जिसमें कवि को महत्त्व देकर उसे प्रतिष्ठा के पद पर आसिन करके भी उसके काव्य की वास्तविक महानता के मानदंड नितांत उपेक्षित किये जा रहे हैं।

स्थिति की जटिलता और भी अधिक बढ़ जाती है जब हम यह पाते हैं कि इस सारी धूमधाम में रवीन्द्र के पाठक का उसके प्रति सहज उमगाव है, उनको श्रद्धा देने का वास्तविक उत्साह है। उस पवित्र धारा में रवीन्द्र के यश को अस्त्र बनाने की सत्तालोलुप विषैली धारा इस तरह घुलमिल गई है कि दोनों को अलग कर पाना कठिन प्रतीत होता है। डर यह लगता है कि यह जो कवि यश को अस्त्र बनाने का विष हमारे सांस्कृतिक जीवन में आया है वह कहीं बहुत–सी ऐसी चीजों को भी विषैला करके न छोड़ जाय जो अभी तक सहज और बुनियादी रूप से पवित्र है।

शायद इसी विडंबना का तकाजा है कि जो वर्ग किसी दलगत, वर्गगत या राजनीतिगत अभिप्राय से नहीं बल्कि अपने सहज काव्यप्रेम के कारण गुरुदेव का भक्त है, जिसने उनके उदात्त मानववाद से प्रेरणा पाई है, जिनके विक्षुब्ध मनों को टैगोर की गहन अनुभूतियों से आश्वासन और दिशाएँ मिली हैं उनका यह गहनतम दायित्व हो जाता है कि वे इस बात की कोशिश करें कि इन अगणित आवाजों में कहीं से रवीन्द्र की आवाज भी उठे। अपने–अपने चढ़ावे और मानता–मनौतियों के लिए जोर–जोर से घंटाघड़ियाल और शंख बजानेवाले भक्तों के कोलाहल में बेचारे देवता की आवाज भी सुनाई पड़े। नहीं कह सकता कि रवीन्द्र जीवित होते तो जिस विधान के अनुसार उन्होंने यह कहा था कि जिस देवता को तुम मंदिर में खोज रहे हो वह तुम्हारे खेतों में और धूल– मिट्टी में मिलेगा, उसी विधान के अनुसार वे इन भक्तों से कहते कि बिना देवता का संकेत समझे हुए देवता की जयजयकार करने के बजाय धूल–मिट्टी में मिले हुए सत्ता के पैरों से रौंदे हुए उन अगणित ठोंकरों और प्रस्तर–खंडों को फिर से प्राण देने की चेष्टा करो जिनमें सजीव बन सकने का सामर्थ्य है।

जयंती की सबसे महान् उपलब्धि यह होती कि हम देश में ऐसा वातावरण उत्पन्न कर सकते, ऐसी व्यवस्था ला सकते जहाँ बुद्धि कुंठित न होती, चित्त भयभीत न होता, मनुष्य का मस्तक स्वाभिमान से ऊंचा होता; ऐसी भूमिका बन सकती कि देश के प्रत्येक बुद्धिजीवी के अन्दर जो महान् कलाकार अन्तर्निहित है वह पूर्णरूप से बिना किसी कुंठा के विकसित हो सकता और उसकी समुचित प्रतिष्ठा हो सकती। शायद वही रवीन्द्र जयंती मनाने की सच्ची सार्थकता होती।




मराठीचा विकास: महाराष्ट्राचा विकास



इस संसार में प्रेम का अस्तित्व ही नहीं।

सतत उद्योग व्यक्ति निर्माण की कुंजी है।

प्रतिभा का प्राण है प्रयत्न, परिश्रम !

परिस्थिति अेक बड़ासा अश्रुकुंड है।

साहित्य से एकनिष्ठ रहो !



"सर ये पेड़े।" – सखाराम गटणे ने मुझे एक पुड़िया थमाई।

"काहे के हैं?"

"प्राज्ञ परीक्षा में पास हो गया हूँ।"

"बहुत अच्छा।" प्राज्ञ परीक्षा का स्तर झट–से मेरे ध्यान में आया। "कितने परसेंट मार्क मिले?"

"अभी तक गुणों के प्रति शत का पता नहीं लगा। ज्ञात होने पर बता दूँगा। परंतु पैंसठ प्रतिशत तो कम-से-कम मिलने चाहिए।"

सखाराम गटणे प्राज्ञ भाषा बोलता है। बरसात में सड़क पर कोई भीगा हुआ मलिन कुत्ता पड़ा हो और उसे उठाकर हम घर ले आएँ उसी तरह गटणे का और मेरा संयोग हुआ। वह उन कारुण्य-भाजनों में से एक है जिनकी ओर देखने से अतीव करुणा के सिवा दूसरी कोई भी भावना जाग्रत नहीं होती। मगर मनुष्य भी चेहरे पर कैसे-कैसे भाव लेकर जन्म लेते हैं! किसी के चेहरे से सदा ऐसा भाव टपकता रहता है जैसे अनाथालय के लिए चंदा माँग रहा हो, किसी के चेहरे से हमेशा यह नज़र आता है जैसे बस चूक गयी हो, किसी की मुद्रा निरंतर विस्मय-चकित ही रहती है, कोई सदा आसमान की ओर ही ताकता रहता है और कोई नाहक ही अपने माथे पर सिलवटों का आड़ा चंदन लगाये रहता है। सखाराम गटणे के चेहरे पर फुटबाल से हवा निकल गयी हो, ऐसा भाव है। जब मुझे उसका प्रथम दर्शन हुआ, उस समय भी यही भाव उसके चेहरे पर था। सच पूछा जाय तो यह लड़का मेरा कोई नहीं। मेरे एक भाषण के बाद उसकी और मेरी पहचान हुई। यह उस समय मैट्रिक में था। हाफ-पैंट में सफेद शर्ट खुसा हुआ, नाक के सामने गांधी टोपी, छोटी-सी भावशून्य आँखें, काला रंग, थोड़े टेढ़े दाँत–इस ठाट में सखाराम सभा-भवन के द्वार पर खड़ा हुआ था। मैं हार लिये बाहर निकला और उस पर मेरी निगाह पड़ गई। उसने अत्यंत आदर से मुझे नमस्कार किया।

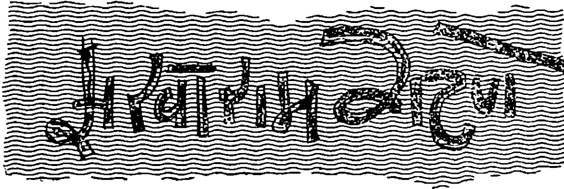
"आपके हस्ताक्षर सर!" अपनी नोट-बुक आगे बढ़ाता हुआ वह बोला।

"नहीं–नहीं! मैं किसी को हस्ताक्षर-वस्ताक्षर नहीं देता–" मैं नाहक ही बरस पड़ा।

"जैसी आपकी इच्छा–" उसने दोनों हाथ जोड़कर मुझे नमस्कार किया–ठीक उस तरह जिस तरह भगवान को किया जाता है। दूसरा कोई मुझसे उस प्रकार का नमस्कार करता, तो मैं चिढ़ ही उठता। परन्तु सखाराम गटणे का नमस्कार इतना सच्चा था कि वह नमस्कार कहीं जाकर मुझे चुभ गया। हस्ताक्षर देने से इंकार करने का वह मेरा कोई पहला प्रसंग न था। वह बात भी नहीं कि हस्ताक्षर देने से मैं हमेशा

मुझे लगा कि उस लड़के से चिल्लाकर कह दूँ—"लड़के ज़रा मनुष्य की तरह बातें कर। तेरी जीभ पर ये छपे हुए शब्द किस गधे ने रख दिये ?"

...और गटणे के नेत्रों में छप्पन खरगोशों की व्याकुलता संचित हो गयी...जीवनको रोकने वाला साहित्य के चीथड़ों का गोला निकल गया—पानी बहने लगा।



—पु. ल. देशपांडे

ही इंकार करता हूँ। परन्तु कभी–कभी इन छोटे–छोटे बालकों के सामने यूँ ही श्रेष्ठता दिखाने की मुझे सनक आ जाती है। यह सच है कि हस्ताक्षर देने में कोई मतलब नहीं होता, पर न देने में भी कोई खास मतलब होता हो, ऐसा भी नहीं। सखाराम गटणे कोने में सिमटा खड़ा हुआ था। इसी समय संस्था के मंत्रीजी हाथ में एक बड़ा–सा रजिस्टर लिए मेरे पास आये। बोले,–

"जो बड़े–बड़े लोग हमारी संस्था देखने आते हैं उनके इस रजिस्टर में हम हस्ताक्षर लेते हैं। पूना में रहते हुए भी हमारी संस्था में आपके आगमन का संयोग आज ही आया है। यह हम लोगों का बड़ा सौभाग्य है।" इतना कहकर मंत्रीजी ने वह रजिस्टर मेरी तरफ बढ़ा दिया। मैं उसे खोलकर देखने लगा। अनेक लोगों ने संस्था को देखकर अपना संतोष व्यक्त किया था। मैं असंतोष व्यक्त करूँ ऐसी कोई बात नहीं हुई थी। इसलिए दो–चार पंक्तियों में अपना संतोष व्यक्त कर मैं ने रजिस्टर में हस्ताक्षर कर दिये। इसके बाद कार्य-कारिणी-सभा के सदस्यों के साथ चाय पान (ग्लेक्सो बिसकुट, चिवड़ा और केले!!) हुआ। सभासदों का परिमित विनोद भी मैं सहन कर रहा था–पर खिड़की के बाहर अपनी नोट-बुक लिये खड़ा सखाराम गटणे मुझे यों ही बैचैन करने लगा था। अनिमिष दृष्टि से वह भीतर देख रहा था। उस इमारत के लंबे-चौड़े बरामदे के एक कोने में वह चार-साढ़ेचार फुट की उँचाई का जीव ऐसा लग रहा था जैसे वहाँ एक झाड़ू रखी हो। मैंने दस–बारह बार निश्चय किया कि उस लड़के की ओर अब नहीं देखूंगा। पर दृष्टि लगातार वहीं मुड़ पड़ती थी। कुछ समय के बाद उस लड़के का वहाँ उस तरह खड़ा रहना मुझे असह्य हो उठा और मैं ने मंत्री से उसे बुला लेने के लिए कहा।

"किसे? सख्या को?"–मंत्री आश्चर्य से बोले।

"मुझे उस का नाम नहीं मालूम। पर वह जो वहाँ खड़ा है–"

"जी। वह सख्या ही–है अरे ओ गटण्या–"

सखाराम चौंक पड़ा। इतने जोर से चौंका कि इतनी दूर से भी मुझे उसका चौंकना दिख सका। किसी गुनहगार की तरह वह मेरे सामने आकर खड़ा हो गया।

"तुम्हारा क्या नाम है?"–अपने स्वर में जितनी कोमलता मैं भर सकता था उतनी भरकर मैंने पूछा।

"सखाराम आप्पाजी गटणे।"

इसी समय मंत्री महाशय बीच में बोल उठे–"इसके हस्ताक्षर बड़े सुंदर हैं, साहब! हमारी व्याख्यान–माला के कार्यक्रम और विज्ञापन बोर्ड पर यही लिखता है। इसका बाप पेन्टर जो है। [illegible] चौक में इस के बाप की पेंटर की दूकान ही है।"

"तुम्हारे हस्ताक्षर जब इतने सुंदर हैं, तो तुम दूसरों के हस्ताक्षर क्यों बटोरते फिरते हो?" इस वाक्य में बड़े जोर से हँसने के लिए कोई खास बात नहीं थी। पर कार्य-कारिणी-सभा के सभी सभासद बड़े जोर से हँस पड़े।

"किन–किन के हस्ताक्षर इकट्ठा किये हैं तुमने–देखूँ?–"

"मैं केवल साहित्यिकों के ही हस्ताक्षर लेता हूँ।"–

हस्ताक्षरों की अपनी नोट-बुक मेरे हाथ में देते हुए सखाराम गटणे ने कहा। मैं उसकी नोट-बुक के पन्ने उलटने लगा। प्रत्येक साहित्यिक की किसी रचना से कोई वाक्य चुनकर उस ने नोट-बुक में लिख रखे थे और उन–उन वाक्यों के नीचे उस उस साहित्यिक के हस्ताक्षर उसने लिए थे। मैं ने अपना अंतिम पृष्ठ खोला। वहाँ एक वाक्य लिखा हुआ था। पर उसके नीचे हस्ताक्षर नहीं थे।

"यह वाक्य किसका है?"

"आप ही के एक नाटक का है।"–सखाराम अत्यंत आदरपूर्वक बोला। संदर्भ छोड़कर चुने गये अपने उस वाक्य को पढ़ते हुए मुझे अपने आप पर ही रहम हो आया।

"तुमने यह वाक्य क्यों चुना?"

"यह वाक्य मुझे अपना जीवनविषयक सूत्र लगता है।"

"बाप रे!"–मैंने मन-ही-मन कहा। उस चार–साढ़ेचार फुट उँचाई की दुबली पतली देह से 'जीवनविषयक सूत्र' इत्यादि शब्दों की आशा नहीं थी। मैं सखाराम के चेहरे की ओर देखता ही रह गया। कार्य-कारिणी सभा के एक वृद्ध सभासद पर गटणे के 'जीवनविषयक सूत्र' शब्दों का कोई प्रभाव पड़ा होगा। उन्होंने गटणे से कुर्सी पर बैठने के लिए कहा।

"किस कारण तुम इसे ऐसा समझते हो? तुम ने क्या मेरी पुस्तकें पढ़ी हैं?"

"आपकी छपी एक-एक पँक्ति मैंने पढ़ी है। आप और सानेगुरुजी मेरे आदर्श लेखक हैं।"

पु. ल. देशपांडे :

आप मराठी भाषा के सर्वश्रेष्ठ विनोद लेखक तथा नाटककार हैं। साथ साथ आप उत्कृष्ट अभिनेता और दिग्दर्शक भी हैं। भारत के टेलिव्हिजन पर आप काम कर रहे थे। फिल हाल नौकरी छोडकर आप बम्बई में आये हैं।

'दीपावली' के रसिक पाठक आपको भलीभाँति पहचानते हैं। दीपावली का जो सुविज्ञ पाठक इस 'सखाराम गटणे' को भूल सकेगा उसे पुरस्कार दिया जायगा!

"अरे, पिछली बार यहाँ जो एक महाशय आये थे, उनसे भी तूने यही कहा था कि वे और सानेगुरुजी तेरे आदर्श लेखक हैं!" – सेक्रेटरी बोल उठे। मुझे लगा सेक्रेटरी नाम की मनुष्य की जो एक खास किस्म होती है, उसमें अक्ल नहीं होनी चाहिए ऐसा कोई अलिखित नियम होगा। हो सकता है गटणे ने किसी दूसरे लेखक को भी सानेगुरुजी की बराबरी में बिठाया होगा। यह भी हो सकता है कि दो–तीन सप्ताह के बाद अगर कोई तीसरा साहित्यिक आये, तो उसे भी वह सानेगुरुजी की बराबरी में बिठा देगा। इसका मुख्य कारण यह था कि गटणे अभी तक सानेगुरुजी की कक्षा से बाहर नहीं निकला था – पर खिड़की के बाहर के अन्य दृश्यों में भी अब उसे रस मिलने लगा था।

सेक्रेटरी की बात से सखाराम उदास हो गया। विषय बदलने की गरज से मैं बोला, – "किस क्लास में पढ़ते हो?"

"इस वर्ष 'एस्. एस्. सी.' में बैठनेवाला हूँ।"

"ऐसा?" – मैं उसकी वह अनेक साहित्यिकों के जीवनविषयक सूत्रों की लच्छियों से भरी नोट–बुक को देखता हुआ बोला। हस्ताक्षर प्राप्त करने के लिए डरते–डरते आगे आनेवाला सखाराम गटणे – यह कोई पहला ही नमूना नहीं था। अमुक अमुक व्यक्ति के हस्ताक्षर प्राप्त करने योग्य हैं, यह ग़लतफ़हमी किसी अफवाह की तरफ फैल जाती है। परंतु हस्ताक्षर एकत्रित करनेवाले लड़कों और लड़कियों के चेहरों पर बहुधा एक शरारती भाव परिलक्षित होता है। नोट–बुक आगे बढ़ाते समय उनके चेहरे पर आदर का बड़ा कुशल अभिनय होता है! निपुण और चालाक हस्ताक्षर करनेवाले उसे पहचान लेते हैं। परंतु सखाराम गटणे के चेहरे की एक–एक रेखा बिल्कुल सच थी। उसकी वे छोटी–छोटी आँखें किसी भी प्रकार का झूठा या छिपाकर रखा हुआ चालाक भाव व्यक्त करने के लिए बिल्कुल असमर्थ थीं।

"आप यदि अपने हस्ताक्षर दे दें तो मैं आपका आजन्म ऋणी रहूँगा।"

सखाराम गटणे के मुँह से यह वाक्य सुनते समय मुझे लगा जैसे दाँतों के बदले उसके मुँह में छापखाने के टाईप जमा दिये गये हैं। यह लड़का विलक्षण रूप से छपा हुआ बोलता है। पर उसकी भाषा का वह छपा रूप कमाल का सच लगता है। मैं ने उस की नोट–बुक खोली और अपने उस वाक्य के नीचे जो गटणे के लिए उसका जीवनविषयक सूत्र था, चुपचाप हस्ताक्षर कर दिये। इसके बाद सखाराम गटणे ने मुझे जो नमस्कार किया उस से तो मैं बिल्कुल व्याकुल हो उठा। साढ़ेसाती की चपेट में आये हुए लोग शनी का काँटा निकालने के लिए हनुमानजी को भी इतना करुण और भावुक नमस्कार न करते होंगे। जीवन में मैं इतना कभी नहीं झेंपा था।

सखाराम गटणे, यह व्यक्तिविशेष उस दिन मेरे जीवन की खाता-बही में दर्ज हो गया। इसके बाद बहुत वर्ष बीत गये। सखाराम गटणे मेरे घर आने लगा था। प्रथम आया था दशहरे के दिन मुझे 'सोना' देने के लिए। उस दिन मेरे कुछ मित्र भी मेरे घर आए थे। उनमें से किसी ने भी मेरे द्वारा लिखी गयी एक पंक्ति भी कभी नहीं पढ़ी थी और न इससे आगे भी वे उसे कभी पढ़ेंगे। इसी कारण उनकी मित्रता अबाधित है। मेरे ये सभी मित्र फाल्तू गप्पें हाँकने में बड़े माहिर हैं और जागरण करने की असीम शक्ति रखते हैं। इसी पुख्ता नींव पर हमारी मित्रता खड़ी है। कुल मिलाकर साहित्यिकों की ओर मेरा आकर्षण बहुत ही कम है। अगर इक्का–दुक्का हो तो मैं बरदाश्त कर सकता हूँ। परंतु अपने इन खास दोस्तों की महफ़िल में अपने किसी पाठक की तो बात ही क्या, अपना प्रकाशक भी मुझे गवारा नहीं होता।

सखाराम गटणे भीतर आया। उसने अत्यंत आदर से मेरे चरण छूकर मुझे नमस्कार किया। फिर बड़े विनम्र भाव से मुझे दशहरे का 'सोना' दिया। मेरे वाहियात दोस्त यह दृश्य देख रहे थे।

"आपने शायद मुझे पहचाना नहीं होगा?" – वह बोला।

"वाह! यह कैसे हो सकता है? एक बार मेरे भाषण में तुम हाज़िर थे —"

"तब तो कहना होगा कि सूर्य ने जुगनू को स्मरण रखा।" – आदत के अनुसार गटणे ने मुँह से एक छपा हुआ वाक्य निकाला। इस लड़के का अब क्या करूँ यह मैं नहीं समझ पा रहा था। वह 'सोना' देने के लिए जानबूझकर मेरे घर आया था. इसलिए कम-से-कम उसे एक कप चाय पिलाना आवश्यक ही था। गटणे के चेहरे पर के भक्तिभाव से मैं हैरान हो गया था।

"मैं आपसे कुछ प्रश्न पूछना चाहता हूँ।"

"इसके लिए, हम यदि फिर किसी दिन मिलें, तो तुम्हें कोई हर्ज तो नहीं?"

"कब आऊँ? अपने प्रतिभा–साधन का समय छोड़कर, कोई भी समय दे दीजिए मुझे।"

मुझे लगा कि उस लड़के से चिल्लाकर कह दूँ–"लड़के, जरा मनुष्य की तरह बातें कर। तेरी जीभ पर ये छपे हुए शब्द किस गधे ने रख दिये? प्रतिभा–साधन क्या मेरा सिर!–" पर मैंने यह कुछ न कहा। गटणे के नेत्रों में छप्पन खरगोशों की व्याकुलता संचित हो गई थी। बोलते समय उसकी आँखें कुछ ऐसी हो जातीं, उसके माथे और गले की नसें कुछ ऐसी अजीब-सी तन जातीं कि ऐसे हावभाव से यदि वह लड़का किसी को गाली देता, तो गाली खानेवाले को गाली देनेवाले पर ही रहम आ जाता। यहाँ उसकी जिव्हा पर साक्षात सरस्वती ने मराठी भाषा की क्लास खोल दी थी।

"देखो। अगले सप्ताह किसी शाम को आ जाना –"

"क्या कोई निश्चित दिन बता सकेंगे आप? यदि न बता सकें तब भी कोई हर्ज नहीं। मैं एक चक्कर रोज़ लगा जाया करूँगा। कुडचेडकरजी ने कहा ही है कि प्रयास प्रतिभा का प्राण है।"

"किसने कहा है?"

"स. त. कुडचेडकर जी–'केतकी पीली पड़ गई' के प्रसिद्ध लेखक —"

"ऐसा?" कुडचेडकर नामके कोई मराठी साहित्यिक हैं, इसका मुझे पता भी नहीं था। और गटणे को उसकी 'केतकी पीली पड़ गई' (यह नाटक था, उपन्यास था या कुछ और था भगवान जाने) पुस्तक के वाक्य कंठाग्र थे। इस गटणे का केस बिल्कुल ही हाथ से बाहर चला गया था।

इसके बाद गटणे इसी तरह त्यौहारों पर मेरे घर आता रहा। संक्रांति के कार्ड, दिवाली की शुभकामना, नव–वर्ष की बधाई इत्यादि बिला नागा वह मुझे भेजता रहता। मेरा कहीं भी कोई लेख छपता, तो अपने

सुंदर अक्षरों में मुझे पत्र लिखकर सूचित करता कि वह उसने पढ़ा है। बीच–बीच में मिलता भी रहता।

इसके बाद एक शाम वह मेरे घर आया। हमेशा की तरह नाक की सीध में टोपी–हाथ में झोला–इस ठाट में उसका दुबला–पतला शरीर, आँखों में ' मुंहि पर परौं लकुट की नाईं ' वाला भाव लिये मेरे द्वार के सामने आकर खड़ा हो गया।

" आओ। "–मैंने उसे भीतर बुलाया।

" आपकी साधना में मैंने कोई विघ्न तो उपस्थित नहीं किया ? "

" अजी साधना कहाँ की ? यूँ ही आराम से पड़ा था — "

" क्या कुछ चिंतन हो रहा था ? "

" नहीं जी–चिंतन–विंतन कुछ नहीं–हाँ, बोलो, चाय पिओगे ? "

" जी नहीं। मैं चाय नहीं पीता। उत्तेजक पेयों से मैं पहले से ही अलिप्त हूँ। "

इस लड़के के दिमाग में पानी के फव्वारे छोड़कर उस में भरा यह सारा साहित्यिक शब्दों का मैल किस तरह धोकर बहा दूँ, इस विचार में मैं पड़ गया।

" अजी, यह तुमसे किसने कहा कि चाय उत्तेजक पेय है ? "

"' उन्नति ' मासिक-पत्रिका के विजयादशमी अंक में चौखुरे गुरुजी का लेख है–' जीवनोन्नति के छः सोपान ! "' ' जीवनोन्नति के छः सोपान, ' ये शब्द गटणे के आड़े-टेढ़े दाँतों में से इस तरह गिरे, जिस तरह किसी छोटे बालक के हाफ-पेंट की जेबें उलटी कर देने से उनमें भरे कंकड गिरते हैं।

" मेरी बात सुनोगे गटणे ? ऐसे लेख मत पढ़ा करो। "

" इसी विषय में आपका उचित मार्ग-दर्शन प्राप्त हो, इसीलिए आज मैं आया था। "

" कैसा मार्गदर्शन ? "

" मैं अपना विशाल अध्ययन बढ़ाना चाहता हूँ। विशाल अध्ययन के बिना व्यक्तिमत्व को और सुडौल आकार प्राप्त नहीं होता। "

" किस गधे ने बताया है तुम्हें यह ? "

गटणे चौंक पडा। उसके असंख्य गुरुओं में से किसी एक गुरु के विचारों पर अनजाने मैंने टीका-टिप्पणी कर दी थी। गटणे गुमसुम खड़ा था। उसकी दयनीय आँखों में सिर्फ आँसू आना ही बाकी था। मुझे भी अपने उद्‌गारों पर क्रोध आ गया था। पर गटणे का एक-एक वाक्य मेरी परीक्षा ले रहा था। मैं सोचने लगा कि इस लड़के को अब किस तरह बिगाड़ूँ।

" थोड़ी चाय पी ही लो। पहले पी थी कभी ? "

" जी ! पहले पीता था। " ऐसा चेहरा बनाकर जैसे कोई महान पातक स्वीकार कर रहा हो, गटणे बोला। मेरे आदेशानुसार उसने चाय पी। उसके अनेक गुरुओं में से मैं भी एक था। जब वह चाय पी रहा था, तब उसकी ओर मुझसे देखा नहीं जा रहा था। सरकस में शेर की थाली में शेर के साथ बकरी को खाने के लिए मजबूर करते हैं। उस समय बकरी का चेहरा शायद इसी तरह होता होगा, जैसा गटणे का चाय पीते समय हो रहा था। मगर गटणे और बकरी में कुछ-न-कुछ समानता थी। बकरी पेड़ों के पत्ते खाती है और यह पुस्तकों के पन्ने खा रहा था। मैं ने जितनी पुस्तकें याद आईं, उनके नाम लिखकर एक सूची बनाकर उसे दे दी। उस सूची को पढ़ते समय उसके चेहरे पर विलक्षण कृतज्ञता घनीभूत हो उठी थी। सूची में कोई बीस पुस्तकों के नाम होंगे।

" इन्हें मैं पढ़ चुका हूँ। "

" क्या ये सब पढ़ चुके हो ? " मैं कुर्सी से लड़खड़ाकर गिरने पर आ गया था।

" जी। पर पुनः एक बार पढ़ डालूँगा। "

" नहीं, नहीं। पुनः पढ़ने की क्या जरूरत ? " वस्तुतः मैं उससे कहना चाहता था – " मित्र, अभी पाँच साल तक तुम कोई दैनिक समाचार-पत्र भी मत पढ़ो। "

कहते हैं भस्मक नामका एक रोग होता है। उसमें मनुष्य को ऐसा लगता है कि खाता ही रहे और जहाँ खाया कि सब भस्म हो जाता है। यही उस रोग की दशा होती है। गटणे को इसी तरह का पुस्तकों का भस्मक रोग हो गया होगा। इस लड़के का आखिर क्या करूँ, यह मैं समझ नहीं पा रहा था। अंत में मैंने अपनी अलमारी खोली। उनमें रखी पुस्तकें देखकर, उसका चेहरा इस तरह खिल उठा जिस तरह खिलौने की दुकान में जाने पर छोटे बच्चे का खिल उठता है।

" इनमें से जो पुस्तकें तुम चाहो ले जा सकते हो। " किसी आशीर्वाद के गीत की तर्ज़ पर मैंने उससे कहा।

" मैं ऐसा ही विशाल अध्ययन करना चाहता हूँ — "

गटणे के इन उद्‌गारों से मुझे अपने ऊपर भयंकर लज्जा आई। उन पुस्तकों में से आधी से अधिक पुस्तकों को मैं ने कभी खोलकर भी नहीं देखा था। अपने झोले में कुछ पुस्तकें भरकर गटणे चल दिया और मैंने छुटकारे की साँस ली।

कोई आठ–दस दिन के बाद एक शाम को उसका वाक्य–आपकी साधना में कोई विघ्न तो उपस्थित नहीं कर रहा हूँ–फिर आकर मुझे

चुभा। उसके हाथ में पुस्तकों से भरा झोला था। गटणे ने आठ – दस दिन में सत्रह – अठारह सौ पृष्ठ खा डाले थे। यह तो अलादीन के चिराग के जिन की तरह ही हो गया था! पुस्तक मिली कि खा डाली! –पुस्तक मिली कि खा डाली! यह काम कठिन था।

" कैसी लगीं ये पुस्तकें तुम्हें?" – कुछ – न – कुछ पूछना आवश्यक ही था इसलिए मैंने पूछा। गटणे चुपचाप खड़ा हुआ था। मुझे लगा उसने मेरा प्रश्न शायद सुना नहीं। इसलिए मैंने उससे पुनः पूछा। गटणे के नेत्र सजल हो उठे थे। जब कोई रोने लगता है तब मेरी बड़ी विचित्र हालत हो जाती है। उस समय मुझे सूझता ही नहीं कि मैं क्या करूं। "क्या हो गया जी, तुम्हें?" मैं उससे एकदम बड़ी आत्मीयता दिखाने लगा। अब वह सिसक उठा।

रोते समय वह किसी बालक की तरह दिख रहा था। वैसे अभी वह बीस पार कर चुका था। परन्तु उसे मैंने जब प्रथम देखा था, उसके बाद मुझे उसमें कुछ भी फर्क नहीं दिखता था। अब हाफ-पैंट की जगह पायजामा और शर्ट की जगह कोट आ गया था। टोपी का सिरा बिल्कुल पहले जैसा ही नाक की सीध में था और आँखों का भाव भी वही क़ायम था।

" क्या हुआ गटणे? रोओ मत –"

" मुझे क्षमा कीजिए –"

" क्या पुस्तकें पढ़ने के लिए वक्त नहीं मिला?"

" यह बात नहीं, साहब। रात-दिन एक करके आपकी अनुज्ञा के अनुसार सारी पुस्तकें पढ़ डालीं – यह देखिए –" एक नोट-बुक मुझे थमाता हुआ वह बोला।

" – फिर?" उसकी उस स्थिति में भी उसके मुँह से 'अनुज्ञा' शब्द सुनकर मुझे मज़ा आया। जिस उम्र में पचास-आठ चुनिंदा गालियाँ मुँह में होनी चाहिए, वहाँ 'अनुज्ञा,' 'मार्गदर्शन,' 'जीवनानुभूति,' 'साकल्य से प्राप्त होने वाला समाधान' जैसे छपे हुए बनावटी शब्दों का कबाड़खाना उसके मुँह में संचित था। अत्यंत सुंदर अक्षरों में लिखी हुई उसकी वह नोट-बुक मैंने खोली।

" आपके द्वारा दी गई प्रत्येक पुस्तक पर मैंने उसमें समालोचना लिखी है।"

गटणे ने प्रत्येक पृष्ठ पर 'समालोचना' लिखी थी। "पुस्तक पढ़ने में कितना समय लगा-रात के साढ़ेआठ बजे प्रारंभ की और एक बजकर पैंतीस मिनट पर समाप्त हुई-पृष्ठसंख्या-दो सौ बत्तीस-" इस ठाट से प्रारंभ के कालम भरे हुए थे। आगे लेखक का संपूर्ण नाम था – फिर प्रकाशक का नाम था – लेखक और प्रकाशक दोनों के पते, पुस्तक का मूल्य, आदि जानकारी भी थी – और फिर समालोचना थी – "कथावस्तु आकर्षक है। स्वभाव-चित्रण विलोभनीय है-कथा बंबई, नागपुर और लखनऊ, इन तीन स्थानों में घटित होती है-" इस तरह प्रत्येक पुस्तक का सुन्दर अक्षरों में 'पंचनामा' था। गटणे के इस विशाल अध्ययन को देखकर, मैं दंग रह गया। डबरे पर जिस तरह काई फैली होती है, उसी तरह उस नोट-बुक में शब्द फैले हुए थे। "नेत्रदीपक," "आल्हाद," "मन की प्रगाढ़ कक्षा–" ओफ्। जिस तरह पेट साफ करने की दवा है, उसी तरह मुँह के इन शब्दों को साफ करने की कोई दवा क्यों नहीं निकलती, यह मैं सोचने लगा। अंत में कुछ कहना चाहिए था, इसलिए मैंने कहा,–" वाह, तुम तो बड़ी बारिकी से अध्ययन कर रहे हो –"

" मेरे जीवन के साहित्यिक कालखंड का यह अंतिम परिच्छेद है।"

'मतलब?' मैं डरा कि यह लड़का कहीं जान–बान तो नहीं दे रहा है। क्यों कि इस तरह पुस्तकें खाकर जिंदा रहनेवाले लड़के किसी धनी की सिर्फ गोरी होने से ही सुंदर मानी जानेवाली लड़की के प्रेम में फँस जाते हैं और फिर या तो अपनी जान दे देते हैं, और अगर डरपोक हुए तो 'एंग्री यंगमेन' बनकर, चित्रविचित्र पोशाक करके इधर-उधर चक्कर काटते हैं। दूसरों के खर्च से काफी–हाऊस में बैठकर काफी पीते हैं और भयानक दिखनेवाली दुबली–पतली, परिमित मूँछोंवाली लड़कियों के साथ गंदे चित्रों और कविताओं में कला खोजते रहते हैं। पर गटणे ऐसे लड़कों की पँक्ति में बैठने योग्य न था। सिर्फ पटाखे की आवाज़ सुनकर ही वह अपने प्राण छोड़ देता। गटणे मेरे सामने बैठकर मुझे कुछ बताने की कोशिश कर रहा था। कुछ बोलना चाहता था। पर उसे पुनः एकदम सिसकियाँ फूट रही थीं। कुल मिलाकर बड़ा अजीब-सा प्रसंग था वह।

अंत में गटणे ने सिसकियाँ रोककर बोलना शुरू किया।

मुझे क्षमा कीजिए। इससे आगे मैं आपको अब कोई कष्ट नहीं दूँगा।"

" मतलब?" एक बार अपने मित्रों के बीच, उसकी अनुपस्थिति में, मैंने उसका मज़ाक उड़ाया था। कहीं वह तो उसके कानों में नहीं पड़ गया? पर यह संभव न था। मेरे मित्रों में एक था पुलिस प्रॉसीक्यूटर, एक था मोटर के पुर्जों की बिक्री करनेवाला सेठ, एक था फायर इंश्योरेंस का एजेन्ट, एक था फौज में कप्तान। अपने इन कथा और काव्य के रास्ते कभी भूलकर भी न जानेवाले मित्रों में सिर्फ मैं ही लेखन का पेशा करता था। वे जिंदगी जी रहे थे और मैं लिख रहा था। हमारे मित्रों की हवा भी अगर गटणे को लग जाती, तो उसे चक्कर आ जाता। गटणे को समझाने के उद्देश्य से मैंने कहा,–" अरे, इस में मुझे कष्ट काहे के?" वह बोला, " आपने मेरे लिए बहुत किया। वटवृक्ष की शीतल छाया में अनेक पथिक आते हैं, पर वटवृक्ष को इसकी क्या कल्पना?"

गटणे के इस वाक्य से मैं जान गया कि वह अब 'नार्मल' पर आ गया है। यह देखकर कि मुझे बरगद की उपमा दी गई, यूं ही मुझे ऐसा लगा जैसे मेरी नाक से एक बरोह लटकने लगा है और मुझे हँसी आ गयी।

" मेरे इस मुग्ध वाक्य पर हँसी आ जाना स्वाभाविक ही है। परंतु आपकी ममता की शीतल छाया में बैठना मेरे भाग्य में नहीं। जीवन में —"

" अरे, पर –" मुझे 'जीवन' इत्यादि शब्दों से भयंकर भय लगता है। जिंदा रहने को जीवन कहनेवाले लोग हजार वर्षों में एक बार आते हैं। गटणे जो जिंदगी जी रहा था, उसे वह जीवन कहता था। मुझे यह ऐसा लगा जैसे खरगोश अपने तालू को गंडस्थल कहे। 'जीवन' से शुरू होनेवाले उसके वाक्य को बीच ही में तोड़कर, मैंने कहा, —

" अरे भई, आखिर बताओ तो, बात क्या है?"

" मेरे जीवन में अब एक नया पर्व आरंभ हो रहा है।"





लड़का बिल्कुल हाथ से जाता रहा था। साईन-बोर्ड रंगानेवाले का यह लड़का अपने को महाभारत का नायक समझकर पर्व-पर्व कहने लगा था।

"काहे का पर्व?"

"कैसे बताऊँ?"—अपनी डरपोक आँखों से अपने पैर का अँगूठा देखता हुआ गटणे बोला। उसकी यह स्थिति देखकर, मुझे यक़ीन हो गया कि बाप के नाम का बोर्ड लिखवाने के लिए मोटर में बैठकर आई किसी गोरी जवान लड़की ने मोटर से उतरते ही गटणे को खतम कर दिया। आज तक पढ़े सारे उपन्यासों की नायिकाओं का अर्थ इसके बाप के कानों तक पहुँचा होगा और सखाराम गटणे वहीं समाप्त हो गया होगा। अंत में बात स्पष्ट करने के लिए मैंने ही पूछा,—

"किसी के प्रेम में तो नहीं फँस गये हो?"

"नहीं!" बीजापुर के दरबार में बालक शिवाजी जिस तरह सीना तानकर बादशाह से कहे, उसी तरह अपना अठ्ठाईस इंची सीना तानकर वह बोला,—

"संसार में विशुद्ध प्रेम कहीं मिलता ही नहीं।"

"यह तुमसे किसने कहा?"

"आप ही के "पक्षियों की शाला" नामक नाटक के नायक का वाक्य है यह!"

मैंने मन-ही-मन अपना करम ठोंका। पक्षियों की शाला का एक विनोदी पात्र यह वाक्य कहता है। अंत में मुझे ही यह चर्चा असह्य हो उठी और मैंने कहा,—

"फिर तुम्हें आखिर हुआ क्या है? कुछ मालूम भी तो हो। तुम नवजवान होकर इस तरह आँसू बहाते हो?"

"क्या करूँ? परिस्थिति अश्रुओं का सबसे बड़ा कारखाना है, ऐसा हमारे वालिंवे कहा करते थे।"

"कौन वालिंवे?"

"हमारी प्राज्ञ क्लास के सर।"

यह कौन वालिंवे है? अगर मुझे मिलता, तो पुराने जमाने के सुलतान की तरह मैं उसे उलटा टँगवाकर नीचे पुस्तकें जलवाकर उसकी धूनी देता।

"ऐसी कौनसी परिस्थिति आ गयी है तुम पर?"

"मेरे पिताजी मेरे जीवन का ध्येय नहीं समझते।"

मेरी आँखों के सामने गटणे का पेंटर बाप मूर्त हो उठा। मैंने उसे देखा नहीं था। वह काला था या गोरा भगवान जाने! पर पेंटर होने के कारण काला या गोरा ही क्या, वह अनेक-रंगी होगा। अक्षरों को इंच से गिनकर रँगनेवाले उस मनुष्य के दिमाग में यह कहाँ से आयगा कि उसके घर जन्मे बाल-बृहस्पति के जीवन का ध्येय क्या है।'जीवन-ध्येय' शब्द सुनने पर 'किस साईज में लिखूं, साहब?' पूछनेवाला ठहरा वह।

"तुमने कैसे जाना कि वे तुम्हारा जीवन-ध्येय नहीं समझे?"

"उन्हों ने मेरा विवाह करने का कुटिल षड्यंत्र रचा है!"

गटणे के छोटे जामुनी रंग के होंठ काँप रहे थे।

"अरे, फिर इसमें कुटिल षड्यंत्र की क्या बात है? यदि तुम्हें विवाह नकरना हो, तो कह दो कि तुम नहीं करना चाहते।"



...लो! मेरी जेब खाली थी सो इसे घर लाना पड़ा!

"आपसे यही प्रार्थना करने मैं आया था। जीवन की समर-स्थली में—"

पुनः 'जीवन'! गटणे अब बाँध फोड़कर बोल रहा था।

"—जीवन की समरस्थली में रामवंशज होने के अवसर आएँगे ही।"

"अरे भई, पिताजी तुम्हारा विवाह तय कर रहे हैं। यह तो बड़ी अच्छी बात है। फिर तुम क्यों फ़िज़ूल इस क़दर खूनाखून हुए जा रहे हो!"

"मुझे अपने लिए कुछ नहीं लगता। मैं पूज्य पिताजी की अनुज्ञा-नुसार अपने को विवाह-शृंखला में बद्ध कर भी लूँगा। प्रभु रामचन्द्र मेरे आदर्श हैं। मैं भी पूज्य पिताजी की अनुज्ञा का पालन करूँगा।"

गटणे यह तफ़सील भूल गया कि प्रभु रामचन्द्र ने विवाह के बाद पिता की अनुज्ञा का पालन किया था। उस छोटी-सी देह से 'प्रभु रामचन्द्र' 'अनुज्ञा' आदि शब्द सुनते समय मुझसे अपनी हँसी नहीं रोकी जाती थी।

"अच्छा—तो तुम क्या चाहते हो? क्या मैं चलकर तुम्हारे पिताजी से मिलूँ?"

"यह भार मैं आप पर ही सौंपता हूँ। मैं विवाह के लिए तैयार हूँ।"

मेरी समझ में नहीं आ रहा था कि जब यह वीर अपनी गर्दन कटवाने को तैयार है तो मुझे अपने साथ? शत्रु के पास क्यों ले जा रहा है। क्या मुझ से शत्रु की तलवार को धार करवाएगा?

"मैं एक बार छोड़कर दस बार विवाह के लिए तैयार हूँ। पर मैं आप से प्रतारणा नहीं करना चाहता।"

मैं गटणे की आँखों में देखने लगा कि वहाँ पागलपन की कोई छटा तो नहीं है!

"मुझसे प्रतारणा कैसी?"

अनुक्रमणिका

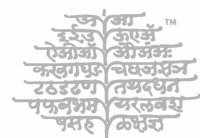




अनुक्रमणिका

राग सारंग

अनुक्रमणिका





" आप भले ही भुला दें, पर मैं नहीं भूल सकता। आप से जब प्रथम बार मिला था, उस समय आपने अपने हस्ताक्षर के साथ मुझे जो संदेश दिया था, वह बिला नागा मैं रोज पढ़ता हूँ। आपका संदेश है–" साहित्य से एकनिष्ठ रहो।"

मैं कोट–टोपी पहनकर, चुपचाप उसके पिता से मिलने गया। एक पुराने मकान के सामने हमारा तांगा रुका। मैं प्रतीक्षा करने लगा कि मकान के किस कमरे में मेरा यह हनुमान अब मुझे ले जायगा। इसी समय बायीं ओर के अंधेरे जीने से एक स्थूलकाय पुरुष नीचे उतरा। सिर पर खासी बड़ी चांद, आरे की तरह मूँछे, कान पर बालों का घना जंगल, माथे पर चंदन का रामानंदी तिलक, पेट का फैलाव कुरते में से झाँकता हुआ, सफेद स्वच्छ धोती, उम्र करीब पचास वर्ष, हट्टा–कट्टा शरीर–यह पता चलते ही कि यही महाशय गटणे के पूज्य पिताजी हैं, मेरा कलेजा ही धड़कने लगा। मैंने उन्हें अभिवादन किया।

गटणे के घर की मैंने मन-ही-मन जो कल्पना कर रखी थी, वह एकदम ग़लत निकली। पेंटिंग का धंधा उनके अनेक व्यवसायों में से एक था। उन्होंने रंग की तो बात ही छोड़िये, दाढ़ी बनाने का ब्रश भी कभी हाथ में नहीं पकड़ा था, क्यों कि नीचे उतरने पर उन्होंने बरामदे में उनके इंतजार में खड़े नाई को सूचित किया कि वे आज हजामत नहीं बनवाएँगे। ऐसे घनघोर इंसान के घर यह साहित्य की जड़ कैसे आ गयी, यह मैं नहीं समझ पा रहा था। " आइए साहब!" गटणे के बाप ने क़ाफी मोटी आवाज़ में मेरा स्वागत किया। " सख्या, भीतर जाकर चाय तैयार करने को कह दे।" बिल में जिस तरह चूहा घुसता है, उसी तरह सख्या भीतर भागा। आध घंटे की मुलाक़ात के बाद मुझे यह जानकारी मिली कि पूना में गटणे के छः मकान हैं। घर में एक बूढ़ी विधवा बुआ को छोड़कर कोई स्त्री नहीं। और वह बुढ़िया भी आजकल दमे के कारण दिन-प्रति-दिन शक्तिहीन हो रही है। इसलिए घर में एक स्त्री का आगमन नितान्त आवश्यक है। उस शेर की तरह चेहरेवाले बाप ने सख्या की मां के उसके बारहवें दिन, इहलोक से कूच कर देने के बाद फिर शादी नहीं की थी।

" सौतेली माँ क्या होती है यह मैं अपने अनुभव से जानता हूँ, साहब। आप जैसे विद्वान मनुष्य से झूठ क्यों बोलूँ? आज तक तीन औरतें रख चुका हूँ।" अंगुली की अँगूठी की ओर देखता हुआ गटणे का बाप बोला,–" आप जैसे लोगों के आशीर्वाद से सब कुछ है।" गटने के बाप की अमीरी और मुझ जैसे का आशीर्वाद, यह जोड़ी बड़ी अजीब थी। नल के आशीर्वाद से पानी बरसने जैसी बात थी यह।" आप तो किसी तरह लड़के को विवाह के लिए राज़ी कर दीजिए, साहब।"–इतना स्थूलकाय और हट्टा–कट्टा पुरुष मेरे सामने मेमना हो गया था।

" लड़की चाँद की तरह है साहब। सोनगांवकर सराफ का नाम तो आपने सुना होगा–" गटणे के बाप को यह बताने का मोह मैंने संवरण किया कि मैं सराफों का सिर्फ़ नाम ही सुना करता हूँ। " बुधवारपेठ में पाँच मकान हैं। उनके इकलौती लड़की है। दो-चार क्लास पढ़ी भी है और फिर कुंडली भी जमती है। पर हमारा सख्या दिमाग में जाने क्या पागलपन पाले हुए है। कहता है वह आपको वचन दे चुका है।"

" नहीं–नहीं। मुझे उसने कोई वचन नहीं दिया।"

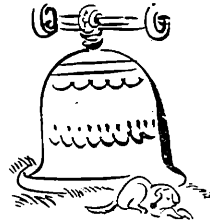
" ऊपर चलिए, साहब–" फिर चार पाँच अंधेरे जीने तय करके हम सख्या के कमरे में पहुँचे। मेरे घर में पुस्तकों की एक अलमारी थी। सख्या के घर की दीवालें अलमारियों से भरी थीं और दीवाल पर साने गुरुजी के पास मेरा फोटो था। उसके नीचे ठीक मेरे अक्षरों में लिखा बोर्ड था। उस पर लिखा था–" साहित्य से एकनिष्ठ रहो।" इस के नीचे मेरे हस्ताक्षर की तरह हस्ताक्षर थे।

सख्या के विवाह में मैंने अपनी सारी पुस्तकें उसे भेंट के रूप में दे दीं। प्रत्येक पुस्तक पर नया संदेश लिख दिया था–" साहित्य से एकनिष्ठ रहो और जीवन से भी!"

मेरे हाथ ने ' जीवन ' शब्द इसके बाद फिर नहीं लिखा। एक वर्ष के भीतर ही मुझे पता चल गया कि सख्या जीवन से एकनिष्ठ रहने लगा है-सख्या का बाप स्वयं चाँदी की कटोरी में नाती होने के पेड़े लेकर आया था। कुछ वर्ष पहले सख्या ने मुझे प्राज्ञ परीक्षा पास होने के पेड़े दिये थे। उस के पिता ने नाती होने के पेड़े दिये।

सखाराम गटणे राह से लग गया। उस के जीवन को रोकनेवाला साहित्य के चिथड़ों का गोला निकल गया-पानी बहने लगा। • •

—अनु: रा. र. सर्वटे



एक कायर कुत्ता उतनी तीव्रता से काटता नहीं जितनी तीव्रता से भौंकता है।

...मेरा हत्यारा भागा जा रहा है। दिशाएँ दहशत में पीछे-पीछे हट गयी हैं, नदियाँ सूख गया हैं, चट्टानों के कलेजे फट गये हैं। बादल-पंख खोल कर पर्वत महाकाश में उड़ गये हैं... और... और... समुद्र की तलहटी में अँधेरा है। मीलों अंदर चली जानेवाली गुफाओं में मैं जा रहा हूँ......



समुद्रतल की गुफायें

चारों तरफ़ से बन्द एक लकड़ी का बड़ा लम्बा पुल था, जिसके प्रवेश द्वार में एक पुराना ज़ंगलगा ताला पड़ा रहता था, और उस पुल के नीचे दोनों तरफ़ तेज़ गहरे रंग के मख़मली काही-पर्दों के नीचे पनीले महलों की रुपहली राजकुमारी कैद थी,—वहाँ बुदबुद-दीपों के मन-मन मुस्काते प्रकाश में शैवाल हिंडोलों में कछवी अपनी प्यारी शिशु-मण्डली को सुलाती थी और तट के नीचे के खोखलों में हबशी रेहू मछली अपने अंडे दे कर उस भावी की रक्षा को व्यग्र चक्कर काटती थी; जहाँ पानी छिछला था, वहाँ लम्बी–लम्बी टाँगों वाले कच्ची खाल के रंग के झींगे डंडबैठक करते थे, और थोड़ा आगे जो बड़ के विशाल वृक्ष की एक डाल पानी पर झुक आयी थी, उसमें लटका बया का घोसला हवा में झूलता पानी में लहराते अपने प्रतिबिंब को देखा करता था—आगे-पीछे ज़मीन के टुकडे, उन पर पेड़ थे—आगे पानी में लाल कमल और उनके गोल–गोल पत्ते थे और लकड़ी के उस जालीदार पुल में नीचे की तरफ़ ज़ंज़ीरों से बंधी जीर्ण–जीर्ण दो पुरानी नावें थीं। वह जो पुल में जंगलगा ताला लगा रहता था, उसका हेतु सेन्ट्रल इंडिया के इन्दौर स्थित ब्रिटिश रेजिडेंट की जलक्रीडा की उपकरण इन दो नावों की रक्षा करना था। रेजिडेन्सी का बोटहाउस या नावघर घने पेड़ों में छिपा एक ऐसा रहस्यमय स्थान था जहाँ आये दिन हत्याएँ हुआ करती थीं...

अनंतकुमार पाषाण

थोड़ा आगे जाने पर सेन्ट्रल इन्डिया लॉन टेनिस टूर्नामेन्ट के लिये सुरक्षित टेनिस का हार्डकोर्ट था, जिसके पीछे चौड़ी और बहुत ऊंची काली जाली लगी थी, और पास ही कोर्ट को समतल करने के लिये चार रोलर रखे थे। इनमें से हरेक रोलर इतना वज़नी था कि कम–से–कम चार

ताक़तवर आदमी उसे मिलकर खींच सकते थे... उसके किनारे की पतली पगडण्डी पेड़ों के बीच से होती हुई आगे जा कर एक दूसरी सड़क से मिल गयी थी, – उसी पर वड़ के पीले – लाल मोटे पत्तों से ढँका एक कुआँ था – अंधा और अतल – कि जिसमें एक जवान खूबसूरत मेहतरानी ने ख़ुदकुशी की थी... यह पगडंडी आगे जाकर जिस सड़क से मिलती थी, उस पर दोनों ओर इतने घने पेड़ थे कि दिन में भी अंधेरा छाया रहता था। वहाँ भी बरगद के एक पेड़ में एक खोखला था, जिसमें रात को कई बार कई राहगीर प्रकाश देख चुके थे, – वहाँ भी एक विधवा ने खुदकुशी की थी – शायद अपनी विधवा सास के अत्याचारों से परेशान होकर। शाम के धुंधलके में मटमैली साड़ी पहने उलझे बालों की एक उदास विधवा को उस पेड़ के नीचे पीतल की थाली में चावल चुनते देखा होगा आपने, और सिहर उठे होंगे आप – आपका रोम - रोम खड़ा हो गया होगा और उलटे पाँव लौट आये होंगे आप वहाँ, जहाँ वह सड़क राजपथ से मिलती थी, और जहाँ छोटे–छोटे खंभों को जोड़नेवाली सफेद वार्निश की हुई गोलाकार जंजीरों के बीच कुछेक गुलाबों की क्यारियाँ थीं, जिन्हें 'गुलाबचक्कर' के नाम से लोग जानते थे।

सीधे हाथ वाली सड़क आगे राजपुत्रों के कॉलेज, डेली कॉलेज को गयी थी और उसी पर गोल ऊंची दीवारों वाला सेन्ट्रल जेल था। जेल के पासवाले मैदान को पार कर छिपा हुआ वॉटर पम्पिंग स्टेशन, जिसमें सायफन धिक्क–धिक्क करता रहता था। नामुमकिन था कि कोई वॉटर पम्पिंग स्टेशन को जाये और रास्ते में ईसाइयों की पुरानी 'सिमेट्री' या कब्रिस्तान को न देखे। उस कब्रिस्तान में ग़दर के गोरे शहीदों से लगा कर आयरिश आयाओं और पुर्तगाली खानसामाओं तक प्रायः सभी प्रकारके मनुष्य टाँग-से-टाँग जोड़े सो रहे थे। कुछेक कब्रों पर पत्थरों की सुन्दर मूर्तियाँ थीं। एक चौदह बरस की अंधी फ्रेंच लड़की की क़ब्र पर सीने पर हाथ बाँधे एक आस्कन्ध केशोंवाला किशोर फरिश्ता दुआ माँग रहा था! फरिश्ते जिनके आँसू इतनी खामोशी से शाम की मोतिया हवा को चीर कर गिरते हैं, कि उगती हुई घास को भी कानोंकान खबर नहीं होती। वहीं पास को उस स्कॉटिश रेजिडेन्ट की एंग्लोइण्डियन रखेली डोरा की भी कब्र थी जिसने इसलिये उस हिस्से की सब कोकिलाओं को गोली से उड़वा दिया था: कि वह गर्मी की उमस भरी रातों में उसकी नींद की शान्ति भंग करती थीं...

तारकोल की इस लम्बी सड़क पर सत्ता की फौलादी बाँहों पर लटूमती हुई कितनी ही पिलपिली प्रौढा रखेलियाँ प्रकृति की काली किन्नरियों को गोली से उडवा रही हैं। आगे फिर तारघर में गर–गट्ट गर-गर गट्ट है, याने यहाँ से वहाँ तक सब कुछ घट्ट है। विद्रोहों से वह टूटने का नहीं है– बगावतों से लॉर्ड माउंटबैटन के स्थानपर लॉर्ड नेहरू तक ही पहुँचा जा सकता है, और षड्यंत्रों से कुछ फाँसी के तख़्ते थोड़ी देर को ही गरम हो सकते हैं...

- फिर भी जीवन जो है, वह तो अपना न्याय माँगेगा ही,—मनुष्य कल्पित मूल्यों के लिये अपने वास्तविक सुखों की बलि देगा ही। जीवन जब तक है, तब तक उसे आग की लपट की तरह ऊपर–ही–ऊपर उठना है। बाद में केवल दो मुठ्ठी राख ही बचेगी, ऐसा कहने से राख की मूल्य-हीनता ही प्रमाणित होती है, आग के गौरव को कोई क्षति नहीं पहुँचती।

सो फिर चलते चले जाने पर कहाँसे–कहाँ पहुँचा जा सकता है आगे जाकर लड़कियों का मिशन स्कूल भी था, जहाँ मेरी तीन बहनें पढ़ती थीं...

मेरे परिवार ने अतिशय दारिद्रय और आतंकित कर देने वाला ऐश्वर्य एकसाथ ही कुल बीस वर्षों में देख डाला है। जब लडकियों को उस स्कूल में भर्ती किया गया था तब उन्हें छोड़ने या लेने मोटर पर मेरी माँ जाया करती थीं और मोटर ड्रायवर होते थे मेरे सबसे बड़े भाई; जब उन्होंने वह स्कूल छोड़ा तब बात किराये की बग्घी तक आ गयी थी।

मोटर थी तब और बग्घी हो गयी तब, मैं हमेशा अपनी माँ के साथ जाता था। दिन–दिन सुबह दस बजे और शाम को पांच बजे किया गया वह सफर बड़ा दिलचस्प होता था। जिस चीज़ को देख कर मुझे सब से ज्यादा मज़ा आता था, वे थे रास्ते में एक कम्पाउंड में खड़े छोटे–बड़े चार पाँच तरह तरह के सड़क कूटने के वे इंजन,–उनकी वह लम्बी नाकें, जिसमें से वह धुआँ छोड़ते थे और पेट के पास लगा वह मोटा इकलौता पहिया जो घूमता था...फिर उसके आगे मानों एक विश्व था, जिसमें पहिये–ही–पहिये थे—छोटे–बड़े, मोटे – पतले पहिये–ही–पहिये और आगे मेंहदी की क्यारियों में उगने वाले हलके नारंगी छोटे-छोटे फलों के गुच्छे थे और फिर अतल असीम काल था ... वह काल था कि जिसमें सभी कुछ बह गया है। जो भी लोग थे आज सब छिटके पड़े हैं – मानों झेकोस्लोवेकिया के एक बहुत महँगे 'जार' के कई टुकडे होकर बिखर गये हैं...

यहाँ सब अपनी ही सीमाकी पराजय है... परिवर्तन से ही काल की माप है और माप में ही मानों उस कुलिश हृदय परिवर्तन की अस्वीकृति है....

कल सुबह – सुबह एक लड़की आयी और उसने पूछा – "क्या मैं अन्दर आ सकती हूँ?" क्यों नहीं, कोई भी अन्दर आ सकता है। यह मेरा घर है क्या? जिसकी यह सब दुनियाँ है, उसीका यह घर भी है...प्रभु के द्वार सबके लिये खुले हैं। रुद्ध हैं तो हम ही हैं, रोध है तो हम ही में है...

मगर इस लड़की ने एक दिन मुझसे प्रेम किया था... मैं बड़ा कल्पनाहीन व्यक्ति हूँ। प्रेम का अर्थ है विवाह, जो बराबर है अनेक दायित्वों के। सो काव्य का विषय बन सके ऐसा कुछ नहीं हुआ। बात जहाँ से शुरु हुई थी, वहीं समाप्त हो गयी। उस लड़की की शादी एक समृद्ध धनीपुत्र से हो गयी, और शेष रह गया प्रेम की असफलता का एक निष्फल अहंकार....

दो घूँट शराब से मेरा काम नहीं चल सकता। मैं तो पागल हो जाने का हिमायती हूँ। प्रेम का उद्दीपन है रूप, वह चाहे कल्पित ही हो। उसमें वैविध्य हो, और नित्य नवीनता हो तो वह निरन्तर बढ़ता भी रह सकता है। ऐसा वैविध्य और ऐसी नवीनता मनुष्य के शरीर में सम्भव है क्या? नन्दके चिरकिशोर सुकुमार पुत्र को छोड़कर वह अन्यत्र अनुपलब्ध है.....

रात हो गयी हो, और अंधेरा आकाश में अच्छी तरह भर गया हो, कुत्ते किसी अदृश्य अनुभूतिसे त्रस्त होगये हैं। और इमली के पेड़ पर उल्लू बोलता हो, तब सात समन्दर पार करके जाना और बाँसों के उस मेह–मज्जित वन में पुकार लगाना– "ओ तू! कहाँ है तू... कहाँ है तू! देख, पृथ्वी पर अंधेरा है और उजाला ढूंढे

अनुक्रमणिका





नहीं मिलता.. ज्योति के रथ पर चढ़ कर सरल हृदयों को अपने कृपा बाणों से वेध देनेवाले राजकुमार.. देख, शून्य के तटों पर हारा–थका अहंकार तुझे पुकार रहा है... " पर नहीं, उस लड़की को यह सांत्वना चाहिये कि मैं उसे न पाकर दुखी हूँ...

दु:ख सम्हालने की शक्ति मुझमें नहीं है। आसपास दिवाली है और हेम–हर्म्यों पर मणि-दीपों की पुत्रियाँ हवाओं के आलिंगन में काँप रही हैं तो अमावास की स्मृति मेरे लिये कठिन है। जिस संसार का कण–कण किसी जादूनगरी की गाती हुई आत्मा के समान भीतर से आलोकित हो रहा है, उसमें दु:ख है तो केवल यही कि मैं कामना के कमनीय सुख का स्वाद न चख सका–ऐसा कुछ न पा सका जिसकी इच्छा मेरे हृदय को बीच में से चीर डालती लैन्डर के शब्दों में–

I strove with none for none was worth my strife.
Nature I loved, and next to Nature Art;
I warmed both hands before the fire of Life,
It sinks and I am ready to depart.

Statement about ownership and other particulars about newspaper
DIPAWALI HINDI ANNUAL
(Form IV Rule 8)

1. Place of Publication :	Dalal Art Studio, 40-42 Kennedy Bridge, Bombay-4.
2. Periodicity :	Annual published once in a year.
3. Printer's name : Nationality : Address :	Dinanath Damodar Dalal. Indian. 40-42 Kennedy Bridge, Bombay 4.
4. Publisher's name : Nationality : Address :	As per 3 above.
5. Editor's name : Nationality : Address :	As per 3 above.
6. Name and address of individuals who own the newspaper and partners or shareholders holding more than one per cent of the total capital :	Dinanath Damodar Dalal. Address as per 3 above. No partners or share-holders.

I, Dinanath Damodar Dalal, hereby declare that the particulars given above are true to the best of my knowledge and belief.

Date : 25th Oct. 1961.

D. D. Dalal.
Signature of Publisher.

अर्थात् मेरी कामना के योग्य कोई न होने से मैंने किसी की कामना ही न की– प्रकृति और प्रकृति के बाद कला को मैंने प्यार किया। जीवन की जिस आग में मैं अपने दोनों हाथ तापता रहा, वह डूबनेवाली है, अतः मैं भी कूच को तैयार हो गया हूँ...

सो वह लड़की अन्दर आकर कुरसी पर बैठ गयी है और बोले जा रही है–" आपको तो मेरी याद कभी भी न आती होगी ! "

यह क्या गिला – शिकवा है... ज़िन्दगी में फ़ुरसत कहाँ है ? ठहराव कहाँ है ? पीछे मुड़ कर देखने का अवकाश कहाँ है ? सो मैं चुप हूँ और बातूनी आदमी की चुप्पी में एक भयानक ताक़त होती है...

" अपनी लड़की को किस पर छोड़कर आयी हो तुम ? " मैं कुछ काम की बात कर लेना चाहता हूँ...

" आया है ... "

" आया "...और जैसे खिड़की में से वह काली, लम्बे नाखूनोंवाली आया मुझे घूरने लगी है...

मेरी पत्नी नींबू का शरबत ले आयी है और बात कुछ सम्हल गयी है...मातृत्व की शक्ति पर जीवन की इतनी भारी–भरकम इमारत खड़ी है...उस शक्ति में सृष्टि का रहस्य छिपा है...

" क्या हमेशा ही उसको इस तरह आया पर छोड़कर जाती हो तुम ? "

मालूम हुआ कि नहीं, ऐसा नहीं है। ऐसा बहुत ही कम होता है। बडी तसल्ली–सी हो गयी है...

आगरे के अस्पताल की वह रात, जब मैं अपनी माँ की बीमारदारी करते करते स्वयं भयंकर चिकन–पॉक्स से ग्रस्त हो गया था। माँ के बारे में डाक्टरों का कहना था, कि वह ज्यादा–से ज्यादा दो महीना और जीवित रहेंगी...जिगर में नासूर हो गया था और पीलिया से ग्रस्त हाथ-पाँव सूख गये थे...आँखें ऐसी थीं कि अंधे कुएँ की तलहटी में कहीं कुछ आग–सी जल रही हो...खाया–पिया कुछ जाता नहीं था...बिस्तर पर एक ही करवट से पड़े-पड़े पीठ में बहुत गहरे-गहरे घाव हो गये थे। हिलना-डुलना नामुमकिन था...

लगभग १०५° बुखार में किसी चिर-परिचित स्पर्श से चौंक कर आँखें खोलीं। मुँह और शरीर चिकन–पॉक्स के दानों से अच्छी तरह भर गया था–दाढ़ी बढ़ रही थी, और बुखार के कारण आँखें सूज आयी थीं...

खिड़की में से आती कच्चे चूने के घोल की–सी चाँदनी में देखा–– एक अस्थि-पिंजर निर्निमेष मुझे देखे जा रहा था। करोड़ों युग बीत गये। जिस माँ को करवट से लिटाने के लिये दो व्यक्तियों की जरूरत होती थी, वह पूछ रही थी––" अब जी कैसा है..."

" अम्माँ तुम...कैसे आयीं ? "

" मुझसे रहा न गया...पसीना बहुत आ रहा है तुम्हें..."

माथे पर रखे हुऐ माँ के उस सूखे हाथ पर हाथ रखकर मैंने पाँच वर्ष के बालक की तरह पूछा–" माँ, क्या मरते हुए आदमी की आरती उतारी जाती है ? "

अनुक्रमणिका





"हाँ, सुहागन औरतों की आरती उतारी जाती है और फूलों से उनकी पूजा की जाती है। क्यों, क्या सपना देखा है?"

"हाँ अम्माँ, मैंने सपने में देखा है। मैं तुम्हारे जाने के बाद जी न सकूँगा...जहर खा कर मर जाऊँगा..."

माँ ने केवल पाँच शब्द कहे—"मैं जरूर अच्छी हो जाऊँगी..." और मैं आश्वस्त हो गया...सुबह उठने पर मालूम हुवा कि माँ की तबियत ज्यादा खराब हो गयी थी। फिर वह सुबह...आसमानी और नरम-नरम मगर ठंढी ऐसी जैसी साँप की पूँछ...टीनकी छत वाला डॉ. सरकार का वेनी माधव रोड पर का वह अस्पताल जो यूकलिप्टस के चिकने लम्बे सफ़ेद पेड़ों से ढँका खड़ा था...उसके पीछे एक कब्रिस्तान था जहाँ रात को गीदड़ रोते थे...टीन की छत गर्मियों में आग उगलती लूके मारे खिड़की-दरवाजे बन्द करने पड़ते-पंखा नहीं था वहाँ-बहुत गरमी लगती, बहुत ही ज़्यादा गरमी लगती; पर उपाय कुछ न था...

पानी लगभग पचास क़दम दूर एक कुएँ से लाना पड़ता—बालटी लेकर सीढ़ियाँ चढ़ते चढ़ते टांगें और हाथ दोनों ही जवाब दे जाते, पर उस अजनबी शहर में नौकर नहीं मिलता था। कवि श्री रांगेय राघव ने एक छोटा-सा पीपा भिजवाया था, जिससे कुछ थोड़ी बहुत सुभीता हो गया था...

माँ को बिस्तर में पड़े-पड़े नौ महीने बीत चुके थे और इन नौ महीनों में उन्हें रोज लगभग तीन इन्जैक्शन लगे थे। जब सुई चुभती तो एक बार उनका मुख थोड़ा-सा बिगड़ता और फिर भगवान सत्यनारायण के एक चित्र की ओर देख कर वह दृढ़ स्वर में गातीं "श्रीरामचन्द्र कृपालु भजनम्..."

रात को माँ की शय्या के पास हम लोगों का कवि संमेलन होता। माँ कहतीं—"कमलेश की कविता में सबसे ज्यादा दर्द है, राघव की कविता सुनने में तो बहुत सुन्दर लगती है पर उसे समझना मेरे लिये बहुत कठिन है, और हाँ, डा. रामविलास शर्मा की हाथी-घोड़ा-पालकी सबसे अधिक मौलिक रचना है...."

"और मेरी कविता..."

उस सूखे हुए चेहरे से भी हँसती हुई मानों मुझे चिढ़ाने को वह कहतीं—"तुम तो अभी लिखना सीख रहे हो!"

दिन को कोई रसगुल्लेवाला निकलता तो किसी से उसे बुलवा कर रसगुल्ले खरीद कर उसकी हँड़िया अपने पलंग के पीछे छिपा कर रखतीं···मैं दवा लेकर लौटता तो पूछतीं—"बताओ, मैंने क्या खरीद कर रखा है तुम्हारे लिये।" जैसे वह कभी बीमार ही न थीं......

और वह आसमानी सुबह जब दिल्ली के एक प्रसिद्ध वैद्य से उनका इलाज करवाने के लिये हम उन्हें दिल्ली ले गये। हम चार व्यक्ति बिस्तर के चार कोने पकड़ कर धीरे धीरे सीढ़ियाँ उतर रहे थे-मैं, मेरे दोनों भाई और डा. रामविलास शर्मा...

धीरे-धीरे सीढ़ियाँ कम होती जा रही थीं-राम-राम-राम-राम! मेरा हाथ काँप रहा था। जैसे बिस्तर का एक पाँचवाँ कोना हो और मृत्यु अपने काले भारी-भरकम हाथ से उसे पकड़ी हो...

और फिर सड़क की मुड़ती हुई रूपरेखा क्षितिज में विलीन हो गयी......कई मर्तबा जीवन में एक सैलाब आता है। सड़कें सफ़ेद दूध-सी रोशनी में डूब जाती हैं। मकानों की बुनियादें रोशनी में डूब

जाती हैं। बाढ़ बढ़ती चली जाती है, रास्ते एक-एक करके बन्द होते चले जाते हैं। चौराहे डूबते हैं, तिराहे डूबते हैं, दोराहे डूबते हैं–पगडण्डियाँ डूबती हैं, पग डूबते हैं, और डण्डियाँ रह जाती हैं, फिर डण्डियाँ भी डूब जाती हैं और दोआब रह जाते हैं......

पयोधरा पृथ्वी के दो उरोज रह गये हैं—बाक़ी सब डूब गया है। पृथ्वी का पोषण मात्र बचा है, गन्ध चली गयी है। मेघों के काले-काले शिशु स्वन्तान को नीचे झुके चले आ रहे हैं......

मैं कह रहा हूँ, यहीं अन्त है। नूह मर गया है, मनु सो रहे हैं, भगवान मत्स्यावतार लेने से इंकार कर चुके हैं। पृथ्वी क्षमाशीला है, पृथ्वी धीर है! पृथ्वी माँ है। पृथ्वी है, उसके स्तनों में अभी भी दूध है। उसका पोषक गुण है, उसका मातृत्व है—केवल गंध चली गयी है—ऐन्द्रिकता चली गयी है, दैहिकता चली गयी है। मात्र आत्मा है—समर्पित, निवेदित, संजीवित। लोग आत्म–हत्या करते हैं—मेरी देह की हत्या हुई है। पुलिस को बीच में टांग अड़ाने की जरूरत नहीं है—अपना हत्यारा मैं स्वयं हूँ।

रेल फिर चल पड़ी है। पीछे भागते रास्ते और आगे भागती मंजिलें—घूमते हुए पाहिये और उखड़ती हुई पटरियाँ। मेरा हत्यारा भागा जा रहा है। वह किसी के हाथ न आयेगा। भेस बदल गया है, दाढ़ी बढ़ गयी है, मूँछें बढ़ गयी हैं, नाखून बढ़ गये हैं, बाल बढ़ गये हैं और यहाँ तक कि क़द भी बढ़ गया है। उसकी आँखें बन्द हैं। मुट्ठियाँ बंधी हुई हैं, नाक और मुँह पर कपड़ा बंधा है, उसके चरणों के चिन्ह नहीं बनते, हँसने से, या रोने से, बात करने से कोई आवाज पैदा नहीं होती। वह भागा जा रहा है, बुरी तरह डर कर भागा जा रहा है, रेल से कूद कर रेल के आगे-आगे भागा जा रहा है...दिशाएँ दहशत में पीछे-पीछे हट गयी हैं, नदियाँ सूख गयी हैं, चट्टानों के कलेजे फट गये हैं-बादल-पंख खोल कर पर्वत महाकाश में उड़ गये हैं,—केवल एक मैदान रह गया है—एक समतलता रह गयी है, एक अनन्तता रह गयी है, एक एकता रह गयी है। केवल एक वही रह गयी है, और सब ओर जैसे उसीके प्रतिबिम्ब हैं, उसकी ही परछाइयाँ हैं, उसकी ही प्रतिध्वनियाँ हैं, उसका ही पलायन है-चिरन्तन, दुरत्यज, निर्भेद, दुर्बोध......तो ऐसा कई मर्तबा होता है...हत्यारा सब दुनियाँ से छिप कर अपने शीशमहल में बन्द हो जाता है, जहाँ हरेक दीवार पर उसका ही प्रतिबिम्ब दिखायी देता है और उसके बाद एक लम्बी कहानी है–येट्स की चक्करदार सीढ़ियाँ (Winding Stairs) हैं, रवीन्द्रनाथ ठाकुर का अंधा विहंग है, डिलन टॉमस की दूधवन की छाया (under milkwood) है...

मगर ऐसा पहिले भी कई बार हुआ है, हत्या का क्रम अटूट है, हत्यारे का पलायन नित्य है, और शरण देनेवाला दगाबाज शीशमहल प्राचीन से भी प्राचीन, पुरातन से भी पुरातन है। भगवान ने अर्जुन से कहा था कि तुम अपने पहले जन्मों के बारे में कुछ नहीं जानते...

जानना सीमा है। जानना जन्म है। मृत्यु है। जानना निष्कासन है। बहिश्त के बगीचे से आदम को निकलना पड़ा, क्यों कि वह जानने लगा था। उसे उत्तर मिल गया था। उसने सृष्टि के रहस्य का भेद पा लिया था। क्यों कि सृष्टि के रहस्य का भेद कहीं कुछ नहीं है। बादलों के लाल रंग का बादलों से कोई सम्बन्ध नहीं है। आकाश की नीलिमा 'कॉमेट' में बैठ कर देखनेवाले गैगारिन को क्या मिला? चाँदी के दो पदक, ख्रुश्चेव की शाबाशी और भ्रमग्रस्त भीड़ों का शोर... जानना अपने पार्थक्य की घोषणा है, अपनी ही क़ब्र का मुँह बन्द करके डट जानेवाला पत्थर है...जानना अपने को ज्ञाता मानने का अहंकार है...

इसलिये हे घट-घट में बसनेवाले प्रभो, जानने का यहीं अन्त हो जाये। हे विद्या देनेवाली चिरन्तन अविद्या शक्ति...अपने पुत्र को अपना आधा मुख दिखा कर दुतकारो मत—हे जीवनदात्री मृत्युशक्ति! माँ, मेरे कपाल को अपने नीलोत्पल के समान सुंदर कण्ठ में धारण करो...बस, अब रहने दो। प्रतिष्ठा–मंदिरा के रत्न-चषक तोड़ दो माँ...घृणा की माँ आसक्ति को बाल पकड़ कर घर से बाहर निकाल दो...

एक शताब्दी पहले मैं एक स्कूल में पढ़ता था...उसके बाद दस हजार शताब्दियाँ बीत गयीं। मैं एक कॉलेज में पढ़ता था। उसके बाद कितनी ही सृष्टियाँ बनीं और मिट गयीं। कितने ही कवि मेरे भीतर जन्मे और मर गये। कितनी ही पीढ़ियाँ मुझमें आत्मसात हो गयीं। जो कुछ मैंने लिखा, वही मेरी पराजय बन गया। पर मैं क्षत्रिय स्वभाव का हूँ। संपादकों को लम्बे लम्बे पत्र मैंने नहीं लिखे, आलोचकों और साहित्यिक पण्डों को नमस्कार नहीं किया, परस्पर की प्रशंसा से पोषित परिषदों को भी मैंने प्रणाम किया। और दम्भी होने का महान यश अर्जित किया। यहीं मेरी पराजय को मालूम हो गया कि पाला महाराणा प्रताप से पड़ा है। मेरी सुकुमारी कन्या की रोटी बिलाव झपटकर ले जाये, पर:क्षत्रिय:का:मस्तक नहीं झुकेगा...

मेरा गोत्र गर्ग है। गर्गाचार्य मूलतः क्षत्रिय थे, किन्तु बाद में ब्राम्हण हो गये थे। ब्राह्मण की ही तरह जो भी उपलब्ध हो, उसीमें मैं संतोष मानता हूँ... प्रयत्न केवल इतना ही करता हूँ कि कोई प्रयत्न न करूँ, क्यों कि जैसा कि बालक ध्रुव ने नारद जी के समझाने पर उनसे कहा था– "मुनिवर, क्षत्रिय स्वभाव होने के कारण विनय का मुझमें प्रायः अभाव ही है..." विनय के इस अभाव के लिये अपने सब मित्रों से मेरी करबद्ध प्रार्थना है–"दोस्तों, मुझ में कहीं से तो कुछ भलाई भी होगी ही।... उसकी बात सोचकर मुझे क्षमा कर देना..." मैं सब जीवों को क्षमा करता हूँ, सब जीव मुझे क्षमा करें। मैं सब जीवों के कल्याण की कामना करता हूँ। सब जीव मुझे अपना जीना जीने दें।

क्यों कि जीने-जैसा जो कर्म सिरपर आ पड़ा है, इसे उधार ले कर मैं निपटाना नहीं चाहता। जीना जो है, वह नक़द सोलह आने मेरा ही होगा। विधाता की यदि यही इच्छा होती कि मैं किसी और का जीना ले कर जिऊँ तो मुझे कोई और बना कर पैदा करते। अब जब पैदा हो गया हूँ तो अपने शरीर की प्रकृति को क्या निराश ही कर देना होगा क्या? दर्शन की, 'विजन' की बुनियाद Tragedy है, करुणा है। करुणा के लिये आस्था की आवश्यकता है–Tragedy requires faith. यहीं से अनिश्चित निश्चित का आरंभ है, अनियमन का विराट् नियम है..

अर्न्स्ट हेमिंग्वे ने कहा था कि हरेक कहानी अगर बहुत देर तक चलने दी जाये तो दुखान्त होती है, क्यों कि मृत्यु हरेक कहानी का अन्त है....

मगर ट्रैजेडी दुखान्त नहीं है... ट्रैजेडी एक विराटत्व है, समग्रत्व है—चीजों को बिना तोड़े-फोड़े देखने की कोशिश है... ट्रैजेडी सर्वपक्षीय है..—प्रणय के प्रथम चुम्बन के अक्षर पढ़ते ही वह उन काले हाथों के साये को भी देख लेती है, जो एक बारगी ही उन अक्षरों

को मिटा डालते हैं। सुहागरात की खिडकियों में प्रसूति-गृहों से आती ईथर की गन्ध को वह जानती है — मगर जानना बहुत गलत चीज है। ट्रैजेडी एक ही क्षण में भूत, वर्तमान और भविष्य का सामूहिक सम्भोग है...

ट्रैजेडी की यह चेतना सब कल्पना-प्रधान जीवों में होती है और सब असमर्थ व्यक्ति इससे पलायन करने की चेष्टा करते हैं। एक के बाद दूसरा प्रेम- सम्बन्ध जोडनेवाली किशोरी इसी से पलायन करने की चेष्टा में जल-जल कर राख हो जाती है। इसकी स्वीकृति असह्य संताप की स्वीकृति है, और उस भयानक यन्त्रणा में ही व्यक्तित्व की कसौटी है......

ग्वालियर के फूलबाग की वे शामें मुझे याद हैं। हम कुछेक युवक युवतियाँ मिल कर घूमने निकलते थे और कचनार के गन्ध-वर्षी वनों के पीछे पुलिया पर, किसी टूटे हुए पेड़ पर, या घास पर ही इधर-उधर बैठ जाते थे... मैं खड़ा ही रहता था। बैठने में जो एक प्रकार का संकल्प चाहिये, मेरे लिये संभव न था। धीरे - धीरे शाम गहरी होती जाती थी— एक बारीक़ मटमैले चूरा प्रकाश से दृष्टि-ग्राम ढकते चले जाते थे, ढकते चले जाते थे— बाग के बाहर से कभी कभी मोटर के हॉर्न सुनायी दे जाते थे, कभी कभी किसी सायकिल की घण्टी से ही अनुमान लग जाता था कि सायकिल बहुत तेज़ जा रही है, कभी कभी कोई कौव्वा ही नीम के सामने के पेड़ पर बोल उठता था—-रास्ते सुनसान होते चले जाते थे, सुनसान होते चले जाते थे, और जैसे एक अव्यक्त स्वर व्याप्त होता चला जाता था... "मुझे बचाओ... दया करो... दया करो... देखो, लोग मुझे खींचे लिये चले जा रहे हैं..."

सामने तेज़ काही रंग के आसमान पर सब कुछ रोक कर पहाड़ था— पहाड़ जिस पर पगडण्डियाँ थीं, झोपडे थे, सिन्धिया स्कूल था और वह किला था, जिसके बीचोंबीच वह कुण्ड थे, जिनमें महावर - रंजित - चरणा नूपुर - धारिणि मुक्तकेशा कितनी ही गौरवर्णा रानियाँ केशर और कपूर का लेप करके सती हो गयीं"... कैसे तप कर लाल हो जाता होगा वह अग्निकुण्ड !—वहीं पास ही को वह तहखाना है, जहाँ आलमगीर औरंगज़ेब का एक किशोर भाई महीनों अंधेरे में किसी बीमार चमगादड की तरह लटका रहा.... शाम को अभी भी उसके पाँवों में पड़ी २०-२० सेर की साँकलों की झनझनाती आवाज़ सुनकर देर से घर लौटते राही की नसों में रक्त जम जाता है। रास्ता चक्करदार ऊपर ही ऊपर, और थोड़ी - थोड़ी दूर पर धूजते- काँपते मिट्टी के तेल के दीपक, हवाओं की चाबुक चमकती है और छोटे मोटे ढेले - पत्थर अभी भी इधर - उधर लुढ़कते हैं... ऐसा वह किला था, कि जहाँ से धीरे - धीरे शाम आकर सब कुछ ढक लेती थी.... उस पर फूलबाग में वहाँ घास पर खिलखिलाहटों के फूल बिखरते थे, और सलमा नामकी एक लड़की उदास हो जाती थी। यह सलमा जो बहुत उदास रहा करती थी, और इन्दौर के एक पुराने दीवान के नये-नये बेटे को खत लिखा करती थी। जिसमें वह अपनी मासूम आवाज में कहती थी "पिछली छुट्टियों में आप अपने चाचा जी के पास ग्वालियर नहीं आये। हम ने आपकी राह देखी। मगर ठीक ही है। आपको इस साल एम. ए. के इम्तहान में बैठना है... मैंने तो योंही लिख दिया। सचमुच मैं बड़ी पागल हूँ। अच्छा, होली में आप आयेंगे तो बहुत मजा आयेगा... हम लोग होली खेलेंगे। इसलिये आप जरूर- जरूर आइयेगा। बोलिये, आयेंगे ना? मगर नहीं, आपको इस साल



नये कैलेंडरका आगमन

—उदयभान मिश्र

घहरा रहे घंटे, बारह के
सडकों, चौरास्तों पर स्वर एक उभर रहा,
"सावधान ! नागरिकों ! सावधान !"
युगका एक वर्ष
चला जा रहा ...... चला जा रहा ......
चौंक उठा हूँ मैं, चौंक गया है
यह सर्द होता मासूम कैलेंडर
पीली पड़ गयी हैं तारीखें !
सूनी, उदास आँखों से देख रहे हैं हफ़्ते !
चीख रहे हैं शेर,
जंगली सुअर, चीते !
दौड़ने लगे हैं ईगेल, बाज, कबूतर—
रुदन कर रही है, गुनगुनाती लडकी
भीगी शाम ! बहती नदी !
कैलेंडर के हर चित्र की आँखोंमें आँसू,
मन में पश्चात्ताप !
घुटन, उमस, पीडन के कुंडमें
डूबे हुअे कमरे,
दरवाज़े, रौशनदा. !
चारों ओर अंधक र, घोर अंधकार !
धीरे धीरे उभर रही प्रश्नोंकी एक भीड़
आकुल, उत्तप्त, माँगती समाधान !
क्या योंही चली जाअेंगी ये तारीखें -

घायल रक्त-स्नात ?
क्या योंही रह जायेंगी ये साधें
क्वाँरी, अनस्पर्श – –?

यों अिस सारे वातावरण में
होता रहा युद्ध !
मैं पड़ा रहा संज्ञाहीन, म्लान !
टूटी जब नींद सुबह तो दिखा
नये वर्षका नीला कैलेंडर
हँसीके गुच्छे उछालता,
गले मिलता, चूमता, बधाइयाँ देता
हिल रहा है !

एम. ए. के इम्तहान में बैठना है ... मगर हो सका तो आइयेगा ...” आदि आदि आदि अनादि और अनन्त ... वह किशोर होली में आया, एम. ए. में नहीं बैठा, दो साल बाद बैठा, थर्ड आया, और थर्ड आने के बाद अपने नोट्स मेरी मदद को मुझे दे गया ... उसे बुरा न लगे इसलिये मैंने वह ले लिये, पर मेरी अयोग्यता कि मैं कभी किसी उपयोगी वस्तु का उपयोग न कर सका। सो फूलबाग में जब होली के पदचाप सुनकर कितने ही किशोर शरीर रोमांचित हो उठते थे, तब भगवान शंकर के मन्दिर से आरती के घण्टे सुनायी पड़ने लगते थे ...

टन्न ... टन्न ... टन्न ...
टन्न ... टन्न ... टन्न ...
टन्न ... टन्न ... टन्न ... टन्न ... टन्न ... टन्न ...
टन्न ... टन्न ... टन्न ...

और तब सोये हुए लाल कमलों की हौज की मुंडेर पर पाँव रख कर, कोहनी को घुटने पर टिका कर मैं आँखें बन्द कर लेता था — एक दिन यह कुछ न रहेगा, केवल घण्टे रहेंगे, आरती रहेगी ... दीपक टूट जायेंगे, ज्योति हवा में तैरती रहेगी– घण्टे चिटख जायेंगे पर नाद गूँजता रहेगा, घण्टे बजानेवाले हाथ निश्चेष्ट हो जायेंगे पर घण्टे बजते रहेंगे, बजते रहेंगे, बजते रहेंगे ......

“क्यो रोनी शकल हैं आप भी ! ... ” सलमा ने खिलखिलाते हुए कहा।

मैंने आँखों पर से हाथ हटाया। सब लोग जा चुके थे। केवल सल्मा और इन्दौर के उस पुराने दीवान का वह दीवाना लड़का बच रहे थे ......

“हाँ, सलमा ! मैं रोनेवाला आदमी हूँ क्यों कि हरेक मुक्त हास्य के पीछे कोई रुद्र रुदन होता है ...”

“Our sweetest songs are those that tell of saddest thought.”

उस लड़के ने कहा —

“हमारे सबसे मीठे नहीं, सबसे हर्षपूर्ण Not sweetest but merriest.”

सलमा खिन्न हो गयी थी — “हाय अल्ला ! इस फिलॉसफी ने तो हमारी नाक में ही दम कर दिया” ...

और फिर एक पतला सा मौन फैल गया जिसमें कहीं-कुछ विस्फोटक था ...

बाँस के झाड़ में झिल्ली बोली ... पुल आ गया ... सड़क आ गयी, उतार आ गया, चढ़ाई आ गयी, चौराहे आ गये, मोड़ आ गये, सड़क चलती गयी ...

सलमा ने एक अमेरिकन कुबेर के पुत्र से विवाह कर लिया है और वह आजकल एरिज़ोना में अपने पति के साथ सैर कर रही है ...

मगर घण्टे अभी भी बज रहे हैं, और भी ऊंचे, और भी तेज़, और भी गहरे – आरती चल रही है, – अनित्य नित्य के आगे प्रणत है। मनुष्य सनातन को पुकार रहा है — ओ सनातन, ओ असीम, ओ चिरन्तन, ओ विराट् — देख कि मैं हूँ और तू है और जैसा कि निरावरण मैं तेरे सामने खड़ा हूँ। ऐसा ही निरावरण तू हो कर आ और मुझे मिला ले अपने में। देख, आरती घूम रही है, घूम रही है, घूम रही है ...... मेरे गुरुदेव ने कहा था — जिस दीप को थाली में सजाकर तुम अपने प्रियतम की आरती उतारते हो, मैं वही दीप हूँ ... मैं तुम्हारे हाथों में तुम्हारी उपासना का साधन हूँ ......

तब से जहाँ भी आरती देखता हूँ, दिखता है कि प्रेम – वारुणी पीकर गुरुदेव ही नृत्य कर रहे हैं। वही चन्द्रमा बन कर घूम रहे हैं, तारा बन कर घूम रहे हैं, सूर्य बन कर घूम रहे हैं– वही हैं जो आरती हैं... उपासना का वह पुष्पित पुलिन हैं जो अणु को – विराट् से, पिण्ड को ब्रह्माण्ड से जोड़ रहा है।

जैसे अनेक आरतियाँ हो रही हैं। करोडों दीप जल रहे हैं। जैसे सब कुछ एक उपासना है, निवेदन है, समर्पण है — इस के आगे मेरी देह का हत्यारा भी न जा सकेगा – वहीं सृष्टि का, विश्व का अंत है। वहीं से हत्यारे को लौट आना होगा – अनित्य के बीच घर बनाकर रहना होगा और कुदाली उठा कर धरती को खोदना होगा, पत्थरों को फोड़ना होगा, कपड़े धोने होंगे, आग जलानी होगी और खाना पका कर समस्त सृष्टि को दावत देनी होगी ... पलायन सार्थक न हो सकेगा – वापसी होगी, जरूर होगी ... सत्ता के इस आलोक – सिन्धु में ज्वार आया है। जो ईरान का मसीहा जरथुश्त्र पानी पर चला था, आज उसे पानी के भीतर जाना होगा — वहाँ जहाँ पांचजन्य से भगवान लड़े थे, जहाँ से भगवान अपने पिता नन्द को छुड़ा कर लाये थे।

जितने बेड़े आये थे सब डूब चुके हैं, प्रकाशस्तम्भ गिर चुके हैं, शहर नष्ट हो चुके हैं, ग्राम मिट्टी में मिल चुके हैं ... जैसे सब कुछ समाप्त हो गया है ... आज से दस हजार वर्ष पूर्व एक लड़की थी जो शाला की घण्टी ही खोल कर ले गया था ... वह आगे के मोड़ पर मुड़ा और फिर गया तो लौट कर नहीं आया, उसके बाद कितनी ही बरसातें आयीं – गयीं और मेरी मुलाक़ात एक युवक से हुई जो रात – दिन नाटक लिखता था और करता था। वह बहुत खूबसूरत था, बहुत खुश मिज़ाज था, और बहुत शोख़ और लापरवाह था। फिर कितनी ही घटाएँ घिरीं और बरस – बरस कर चली गयीं और नाव पर बैठ कर एक दिन वह न जाने कहाँ चला गया ... और फिर एक दिन तंग आकर मैंने अपनी हत्या की और भाग निकला ... और सृष्टि के अन्त में यह एक महार्णव आया है और राह लहरों पर से है





मूँगे की चट्टानों पर मोती के रत्नमहलों में शैवाल–शैया पर भीतर सोयी जो लहरों की रानी है, उसके लड़के से मैं खेलूँगा, – आज हत्यारा बच्चों के साथ खेलेगा – शैशव की निरुद्देश्य क्रिडा का अभ्यास करेगा...

पर इस हत्या को कहाँ रखना होगा। समुद्र में मग्न करने पर समुद्र सदा के लिये,काला पड़ जायेगा...

अनेक जन्मों की यह कथा है, हिमालय की उपत्यका में संगीत–नादित किन्नरों की नगरी से एक किन्नर अपनी विलासी प्रकृति के कारण कश्मीर का यक्ष बना ! किन्नरयोनि में उसने भगवान शंकर की उपासना की थी–इसलिये हे चन्द्रमौलि, आज यह किन्नर तुम्हारे आशुतोष होने की परीक्षा लेता है...

इस हत्या को तुम अपने गणों में बराबर–बराबर बाँट दो...

और लहरों ने हाथ पकड़ कर खींच लिये हैं, अनेक व्यतीत मन की भित्तियों पर पीपल की छाया की तरह काँप रहे हैं। इन भित्तियों पर मेरे शैशव के चित्र हैं, कि मिट्टी की गुड़ियों को गोरा करने के लिये क्रीम और पाउडर से पोत कर अपने घर की हरी जाफ़री वाले बरामदे की बेंच पर खड़ा कर दिया करता था मैं, और धीरे-धीरे शाम हो :जाया करती थी...इस भूखी दीवाल (ठीक शब्द दीवार है ? ठीक है !) का मुँह जगह-जगह से खुल गया है...धूप के कुछ टुकड़े बिस्कुट की तरह कुतर लेने दो, फिर इसका हृदय इतना विशाल हो जायेगा कि इसकी छाया में आधे दर्जन बच्चों की मरगिल्ली माँ कुतिया जा कर अधमुँदे नयनों लेट जायेगी और सामने के नीम पर सजग हुदहुद (woodpecker) की बढ़ईगिरी को देखती रहेगी, देखती रहेगी, देखती–देखती रह जायेगी और जन्मों का, योनियों का, अभिशापों का, प्रारब्धों का, रहस्य खुलता चला जायेगा, खुलता चला जायेगा...यह वह माँ है जो छह-छह बच्चे हर साल जनकर भी आज निपूती है, जो कुत्ते इसके नाक–कान सूँघ कर इसके पीछे हो लेते थे, वह अब मालूम नहीं कहाँ हैं...

अनेक जन्म पहले की बात है। वह एक निहायत नखरीली नाज़नी थी, दिमाग़ ऐसा कि अच्छा खासा–जहाँ भी, जब भी जैसे भी हो व्यक्तित्वका आग्रह–समर्पण से सर्वथा अपरिचित सुन्दरी अविवाहित ही रह गयी। ६० वर्ष की कुमारी पति की कामना लेकर मरी और फिर एक मारवाड़ी सेठानी बनी — बन्ध्या ! निपूती मरी और फिर यह कुतिया की योनि — शृंखला के बाद शृंखला है- वैसे आकाश को किसने नापा है।

हे मन, तुम अपने किये हुए का स्मरण करो, किये हुए का स्मरण करो...

समुद्र की तलहटी में अंधेरा है, मीलों अन्दर चली जानेवाली इन गुफ़ाओं में मैं जा रहा हूँ। लहरों की रानी के बच्चों से मुझे खेलना है। अल्विदा ! गुड बाइ एवरी बॉडी ! मैं इस अंधकार में जाऊँगा ही। बिलकुल अच्छा ! सब लोग ! देखो, जिन्दा रहे तो मिलेंगे...

फिर बम्बई की विशाल नगरी है और सी० पी० टैंक की एक धर्मशाला में छत के ठीक नीचे एक फुट ऊँची मेड़ी है — एक सरदार जी खाना बना रहे है, धुआँ बहुत है...

मैं बम्बई पहली बार आया हूँ। जैनेंद्रजी के साथ आया था जो रमणीक भाई के यहाँ ठहरे हैं। ट्रामें हैं, रोशनियाँ हैं, सब सडकें एक-सी हैं, सब इमारतें एक-सी हैं। पानी बरस रहा है।

एक डबल-डेकर ट्राम पर मैं और मेरा छोटा भाई चढ़ गये हैं। कण्डक्टर पूछता है कि कहाँ जाना है।

यही एक मुश्किल है। कहाँ जायें ! अरे भाई, कहीं भी चले जायेंगे ! अच्छा-छोड़ो, तुम ही बताओ, इस वक्त कहाँ जाना ठीक होगा ! • •



कैसे थामा मुझे...

रणजित देसाई

रात हो रही थी। घने अंधेरे के साथ ही चाँदनी चौक की बत्तिया धीरे-धीरे बूझने लगी थीं। रास्तेपर सन्नाटा छा रहा था। उस अंधेरी रात में एक शाही पालकी किले की ओर जा रही थी। मुगलाई कमीज़ और अमामा पहने एक जवान, पालकी के पीछे-पीछे चल रहा था। मशाल हाथ में लिये दूसरा आदमी पालकी के आगे-आगे दौड़ रहा था। पालकी के अंदर से एकदम ताली बजी। पालकी रुक गयी। अंदरसे आवाज़ आयी—

"चक्रधर।"

"जी हुजूर।" कहते चक्रधर आगे बढ़ा। अपनी उंगली होठों में दबाकर 'शूऽऽ' करते हुए पालकी के सवार ने उसे चुप रहने का इशारा किया। चाँदनी चौक के सारे मकान अंधेरे में डूब गये थे। सिर्फ़ एक ही मकान के ऊपरी छज्जे में रोशनी दिखायी दे रही थी। वहीं से संगीत के मधुर स्वर और पायलों की झनकार सुनायी दे रही थी।

"वाह। क्या आवाज़ है? कौन गाता है?" पालकी के सवार ने पूछा।

"होगी कोई नाचनेवाली!" चक्रधर ने कहा।

"पालकी घुमा दो! हम गाना सुनेंगे!"

"अभी!"

"हाँ! अभी।"

"हुजूर! मैं आज गानेवाली की पूछताछ करूँगा। कल गाना सुनने का इन्तजाम हो जायेगा!" चक्रधर ने विवशता से कहा।

"कहता हूँ न पालकी घुमा दो!"

"लेकिन हुजूर, ऐसे मकान में रात-बेरात बिना खबर जाना आपको शोभा नहीं देता!"

"पालकी लौटेगी या मैं खुद उतर पड़ूँ?"

अनुक्रमणिका

“ नहीं ! दुनिया ऐसा नहीं कहेगी ! ” उसे अपनी बाज़ुओं में समेटे विलासने कहा ।

“ दुनिया अगर कहेगी तो यही कहेगी कि विलास को गुल्शनने बर्बादीसे बचाया ...... उसकी रागदारी जिन्दा रखी ! गुल्शन, बगैर तुम्हारे, मेरेपास कुछ नहीं है ... कुछ नहीं ... ”

पालकीधारी चक्रधर का मुँह ताक रहे थे। चक्रधर का इशारा होते ही उन्होंने पालकी घुमा दी। कुछ कदमों पर पालकी रुक गयी। सवार ने बाहर झाँका। सामने के छज्जे पर रोशनी नज़र आ रही थी। तबला और सारंगी के साथ-साथ संगीत के मधुर स्वर गूँज उठते थे। पालकी ज़मीन पर रखी गयी। अंदर से एक नौजवान निकल आया। उसने महीन कपड़े की क़मीज पहनी थी। कमीज़ पर जरी की कढ़ाई की हुई थी। मशाल की रोशनी में वह कढ़ाई चमक उठती थी। नौकर ने झट से जरी की जूतियाँ उसके सामने रख दीं। वह ज़रासा लड़खड़ाया। नौकर के कंधे पर हाथ रख के वह नौजवान आगे बढ़ा और सीढ़ी चढ़कर ऊपर गया। जब वह सजे हुए दीवानखाने में पहुँचा तब वहाँ बैठे हुए सब लोगों की नज़रें उसकी ओर खींची गयी। उसकी नाक सीधी थी और रंग गेहुँआ। कंधेपर बिखरी हुई काली लटोंपर हाथ फेरते हुए वह दीवानखाना गौर से देख रहा था। दीवानखाने में जो गाने के शौक़ीन बैठे थे वे अब उठकर चल देने की कोशिश कर रहे थे। आनन फ़ानन में दीवानखाना खाली हुआ। अब उस दीवानखाने में चारों तरफ़ दीवार से सटकर रखे हुए तकिये थे। बीचोंबीच शराब की सुराहियाँ, प्याले और पानदान ही हाज़िर थे। दीवानखाने की सजावट देखने में वह नौजवान मगन था। इतने में उसने पायलों की झनकार सुनी। उसने मुड़कर देखा, एक जवान लड़की नज़ाकत भरी चालसे उसीकी तरफ़ आ रही थी। हर क़दम पर वे पायलें मीठी आवाज़ करती थीं। उसका किनखाबी लहँगा हिलोरें लेते चमक रहा था। वह चुस्त चोली पहने हुए थी और चेहरेपर महीन दुपट्टा उसने ओढ़ लिया था। दीवानखाने के बीचोंबीच वह गौरवर्णीय युवती आकर खड़ी हुई और उसने अदबसे सलाम किया। नौजवान आगे बढ़ा और हलके हाथोंसे उसने लड़की के माथे का दुपट्टा हटा दिया।

दो मदभरी आँखें नौजवान के रौबिले मुखपर जम गयीं। उसके नाजुक होठोंपर एक हल्कीसी मुस्कुराहट थी। उसका सौंदर्य निहारते हुए उस नौजवान ने पूछा–

“ क्या है नाम तुम्हारा ? ”

“ गुल्शन ”

“ गुल्शन, तुम ही गा रही थी न कुछ समय पहले ? ”

“ जी, हाँ ! ”

“ सचमुच ? ”

“ क्यों ? ” उसने पलकों को ऊपर उठाते हुए कहा।

“ इतनी खूबसूरती – और ऐसी मीठी आवाज़। यकीन नहीं कर सकता। मेरे आने से तुम्हारी महफ़िल में बेरंगी तो पैदा नहीं हुई। ”

“ नहीं तो ! आप यहाँतक आये यही तो मेरी तक़दीर...... ”

“ तुम हमें कैसे जानती हो ? शायद हमारे इस चक्रधर ने तुम्हें पहचान करवा दी होगी। ”

“ उनके न कहते भी हम पहिचान लेते। तानसेन के विलासखान को देहली का बच्चा-बच्चा पहचानता है। ”

“ क्यों नहीं, लेकिन तानसेन की बदौलत ही तो हमारी पहिचान है– खैर ! मै बैठ सकता हूँ ? ”

मारे शर्म के गुल्शन की निगाहें नीचे झुक गईं। उसने उसे बैठने का इशारा किया। बैठते ही चमेली का गजरा विलास की कलाईपर बाँधते हुए उसने पूछा —

“ मैं आपकी क्या ख़िदमत कर सकती हूँ। ”

“ हम गाना सुनना चाहते हैं ! ”

कनीज़ ने शराब की सुराहियाँ और कुछ प्याले सामने ला रखे। गुल्शन का इशारा होते ही साजिंदे तयार हो बैठे। वाद्योंको मिलाया गया। विलास तकियों से सटकर बैठे गजरेकी खुशबू ले रहा था। उसकी आँखोंमें शराबकी हल्की नशा चढ़ रही थी। उन्हीं मतवाली आँखों से वह गुल्शनकी खूबसूरती देख रहा था। जब सभी वाद्य मिलाये गये तब गुल्शनने पूछा–

“ सिर्फ़ गाना सुनाऊँ तो कोई हर्ज़ नहीं न ? ”

“ नहीं तो ! ” विलास ने जवाब दिया।

गुल्शन ने पायल हटा दिये। काला-काला पत्तीदार तानपुरा हाथ में लिये वह बैठ गई। सारंगीसे सूर निकलने लगे और गुल्शनने पूछा–

“ कौनसा गाना सुनेंगे आप ? ”

“ कुछ ही देर पहिले जो तुम गाती थी वही गज़ल सुनाओ ! ”

गुल्शनने सलाम किया और ऊँचे सूरकी तान लिये गज़ल शुरू की।

“ सैया बिन नाहीं कटत मोरी रात ऽऽऽ ”

गुल्शन की आवाज में अजीब मिठास थी। विलासखान थर्रा गया ... मानो झील पर लहरोंकी हलचल मच गई हो ! गज़ल की रागिनी उसे नई-नई-सी लगती थी– फिर भी टोडी राग से वह बहुत मिलती-जुलती थी। विलासखान बेहोश-सा हो गया। कानों में प्राण लाकर वह सुन रहा था। गुल्शनकी खूबसूरती अब वह भूल गया। सिर्फ़ स्वरोंमें डूबा जा रहा था। गज़ल खत्म हुई।

“ वा ऽ हवा ! बहोत खूब ! ”

गुल्शन ने सलाम किया। विलास ने पूछा–

“ मैं तानपुरा ले सकता हूँ ? ”

गुल्शनने तानपुरा विलास के हाथोंमें दिया। विलासकी उँगलियाँ चलने लगीं। उसने कहा –

“ गुल्शन गा दो न फिर से ”

गुल्शन चौंक पड़ी। हँसते-हँसते उसने कहा –

रणजित देसाई :

आप मराठी भाषा के अेक समर्थ लेखक हैं। आपकी रचना आज पहली बार ‘ दिपावली ’ के पाठकों के सामने प्रस्तुत की जा रही है।

अैतिहासिक घटनाओं को कलात्मक रीति से, हृदयंगम बनाकर पेश करना आपकी अपनी विशेषता है। ‘ टोडी ’ रागिनी के प्रवर्तक बिलासखान के चरित्र से पाठक जरूर प्रभावित हो सकेंगे।

"क्या यही गज़ल दुबारा सुनना चाहते हैं आप ?"

"हँस क्यों रही हो ?" विलासने पूछा।

"हँसी आती है आपकी बातोंपर। राजभूषण तानसेनजी के सुपुत्र एक गानेवाली से गाना सीखना चाहते हैं! — बड़ी अजीब बातें..."

"छोड़ो भी! तुम गाना शुरू करो!" विलासने कहा।

"तावीज़ बांधोगे ?" गुल्शनने हँसते-हँसते पूछा।

"क्यों नहीं? जरूर बांध लूँगा!"

"और मेरी विदागी ?"

"जो तुम चाहो!" खुश होकर विलास ने कहा।

गुल्शन सामने बैठ गई। विलासखान के हाथों को तानपुरा शोभा देता था। गुल्शन ने एक बार फिर विलास की तरफ़ देखा। उसकी मदभरी आँखें, गेहुँआ रंग, चेहरेपर गिरने की कोशिश करनेवाली बालोंकी लटें गुल्शन निहार रही थी। विलास की नजर उसकी नजर से मिल गई। गुल्शन शर्मा गई। दोनों ने गाना शुरू किया—

"सैंया बिन नाहीं ऽऽऽ"

विलास ने गाने के स्वर बड़ी आसानी से उठा लिये। गुल्शन विस्मित हुई। गुल्शन गा रही थी और विलास उसके स्वर ठीकसे उठा लेता था। विलास की आवाज के साथ गुल्शन के स्वर लिपट जाते थे जैसे अमरबेली तालके वृक्षसे लिपट जाती हो। चक्रधर ताज्जुब से इन दोनों गानमगन व्यक्तियोंको देख रहा था। वर्षाऋतु के घने बादल की तरह तान लेकर विलास की आवाज नीचे उतरती थी और एक अनोखे ढँग से गुल्शन उसे उठाकर उसका रौब मिटा देती थी। गज़ल खत्म हुई। विलास ने तानपुरा रख दिया।

"वाह! बाईजी! क्या आवाज़ है आपकी ?"

"मेरी आवाज़ की क्या बात करते हैं आप? मैं हूँ गँवार! आपकी आवाज़ और मेहनत मेरे पास कहाँ ?"

"अच्छा! रात बीत गई है। हमें इजाजत दो।" विलास ने कहा।

"ठहरिये! मिठाई और शर्बत अभी आपने लिया कहाँ है?"

"गाने के स्वरों से और तुम्हारी खूबसूरती से तो हम पूरे बेहोश हो गये! अब मिठाई, शर्बत इन चीजों की क्या जरूरत? अब कुछ भी नहीं चाहते! फिर मिलेंगे!"

"मेरी विदागी ?" गुल्शनने पूछा।

"खूब याद दिलाई! मैं तो भूलही गया था!" कहकर विलास ने अपनी उंगली से हीरे की अंगूठी निकाली।

"मुझे अंगूठी नहीं चाहिये!"

"फिर? फिर क्या चाहती हो?"

"हुजूर! आपको याद है– मैं जो कुछ माँगू सो देने को आप तैयार थे!"

"जरूर! खुद मुझे भी माँग सकती हो तुम!"

"सच ?"

"बड़े शौक़से माँग लो!"

गुल्शन एक पलभर गड़बड़ासी गयी। अपनी निगाह झुकाते वह बोली—

"पूरी उम्र आपके पिताजीकी तारीफ़ सुन रही हूँ! जी चाहता है एक बार उनका गाना सुनूँ..."

"बस? इतनीसी बात? बोलो कब सुनना चाहती हो?"

"जब आपकी मर्जी!"

"अभी!"

"अभी?"

"क्यों? सुनोगी या नहीं?"

"क्यों नहीं, जरूर सुनूँगी!"

"तो फिर चलो मेरे साथ?"

"क्या आप मेरा मजाक तो नहीं उड़ा रहे हैं?"

"गुल्शन, मैं संगीतसे बेईमानी नहीं कर सकता—"

"कहाँ ले जाओगे?"

"मेरे घर!"

"आपके घर?"

"फिर? तुम क्या चाहती हो? पिताजी खुद आकर तुम्हें गाना सुनाएँ?"

"नहीं नहीं! मैं अभी आती हूँ!" सहमे-सहमे गुल्शन बोली!

उसकी उंगली में हीरे की अंगूठी पहनाते विलास ने कहा—

"ले जाओ अिसे जाते समय – मेरी यादगार ही समझ लो चाहे तो!"

"ऐसी चीजें तो वे लोग देते हैं जिन्हें अपनी याद भुलाई जानेका डर रहता है!" कहते गुल्शन अंदर चली गई। विलास के पीछेही चक्रधर खड़ा था, उसने पूछा—

"सरकार, क्या आप उन्हें घर लिये जा रहे हैं?"

"क्यों?"

"आपके पिताजी..."

"चुप रहो चक्रधर!"

गुल्शन बाहर आई। विलास ने उसे पालकीमें बिठाया। पालकी उठाई गयी। पालकी के पीछे-पीछे विलास और चक्रधर जा रहे थे। पौ फट रही थी। अकबरी मुहल्लेमें आतेही विलास ने पालकी रोकी। रोशनी फैलने लगी थी।

गुल्शन उतर गई। उसने पूछा—

"मकान यहाँसे कितनी दूर है?"

"यहीं है – बिलकुल नज़दीक। पिताजी अब रियाज़ कर रहे होंगे रियाज में कोई रुकावट वे बर्दाश्त नहीं करते।"

हल्के-हल्के टोडी रागिनीके स्वर उनके कानोंपर आये। सवेरे के शांतिमय वातावरण में निकलनेवाले उन स्वर्गीय सूरोंको सुनतेही दोनों स्तंभित हो गये।

"सुना तुमने? पिताजी आज 'मियाँकी टोडी' गा रहे हैं, यह रागिनी उन्होंने खुद बनाई है।"

तानसेनमहल के दर्वाजेपर पहरेदार ने उन्हें सलाम किया। गुल्शन ने चेहेरेपर दुपट्टा ओढ़ लिया। उसकी हल्की चाल भी पायलों की आवाज रोक नहीं सकी। पायल निकालने के लिये वह नीचे झुकी। उसे उठाते विलास ने कहा —

"रहने भी दो।"

विलास के पीछे पीछे गुल्शन जा रही थी। दूसरी सीढ़ीपर चढ़तेही उनकी निगाहें स्थिर हो गयीं। छज्जे की दूसरी तरफ़ तानसेनजी रियाज कर रहे थे, जिस तख़्तपर वे बैठे थे उस तख़्त के दोनों तरफ़ दीये जल रहे थे।

अनुक्रमणिका



राज्य मराठी विकास संस्थेद्वारे संगणकीकृत



दीनानाथ दलाल मेमोरिअल ट्रस्ट

कांच की टँगी झाड़-फानुसकी बत्तियाँ जल रही थीं। पूरबसे आनेवाली सूर्यकिरणों से बत्तियोंकी रोशनी फिकी हुई जाती थी। धीरे-धीरे विलास आगे बढ़ता था और उसके पीछे पीछे गुल्शन जाती थी। छज्जे की दूसरी कमान पर चिक् के पर्दे लगे हुअे थे। उन पर्दोंके पीछे गुल्शन को खड़ा करके विलास आगे बढ़ा और अपने पिताजी के सामने आ खड़ा हुआ। विलास ने उन्हें प्रणाम किया। उन्होंने उसे बैठने का इशारा किया। विलास बैठ गया। तानसेन गाने में डूबे हुवे थे। विलास उन को साथ देने लगा। तानसेन के गले से निकली हुई तानें वह बराबर पकड़ लेता था। बीच बीचमें उस की नजर पर्दोंके पीछे खड़ी गुल्शनकी ओर जाती थी। विलास गाने में इतना मशगुल हुवा कि उसे पता भी नहीं था कि तानसेन ने तानपुरा हाथों से कब रख दिया। गाना खत्म होनेपर वे बोले—

"वाह ऽ वा! बेटे! आज तूने कमाल कर दी! कम से कम मियाँकी टोडी गाने में तुम्हारी बराबरी कोई नहीं कर सकता। मेरे बुढ़ापे तक जो चीज मैं हासिल नहीं कर पाया वह चीज तुम ने इतनी छोटी-सी उम्र में प्राप्त कर ली।"

"आपकी ही दुवा है!" कहकर विलास ने अपनी गर्दन झुका ली। तानसेन के कानोंपर पायलों की आवाज आई। विलास भी पर्देकी ओर देखने लगा। मारे घबराहटके, गुल्शन वहाँसे जानेकी कोशिश कर रही थी। तानसेन ने पूछा—

"कौन है वहाँ?"

उनकी आवाज सुनते ही गुल्शन के पैर अटक गये। घबराई-सी वह पितापुत्र की ओर देखने लगी। विलास ने पुकारा—

"गुल्शन!"

नीची निगाह गुल्शन उनके पास आयी। उसने तानसेन को सलाम किया। तानसेन अचंभे से विलास की तरफ़ देख रहे थे। विलास ने कहा—

"यह गुल्शन है — आपका गाना सुनने की आरज़ू थी उसकी।" तानसेन ने हँसकर कहा—

"आओ बेटी! बैठो।" और फिर विलास की तरफ मुँह करके उन्होंने कहा, "तभी तो तुम इतना सुन्दर गाये?"

विलास शर्मा गया। तानसेन ने गुल्शन से पूछा—

"कहो बेटी, पसंद आया गाना?"

"जी, मेरी खुशकिस्मती है?"

"ठीक ही तो है। कहाँ रहती हो बेटी?"

"चांदनी चौक में।"

तानसेन के चेहरे से कोमल भाव गायब हो गये। कड़ी आवाज में उन्होंने विलास से पूछा—

"विलास यह कौन है लड़की?"

"यह एक गानेवाली है... लेकिन इसकी आवाज बहुत—"

"खामोश!" तानसेन क्रोध से कंपित हो उठे।

"मेरा गाना सुनने को एक लड़की तुम यहाँ तक ले आये? इतनी तुम्हारी हिम्मत?"

"पिताजी—"

"चुप रहो। अभी उसे घर भिजवा दो। वरना नौकरों के हाथ..."

अपने आँसू रोकने की बेकार कोशिश करते हुए गुल्शन वहाँ से निकल पड़ी। विलास होश में आया।

"गुल्शन!" विलास ने आवाज दी और कदम आगे बढ़ाये।

"विलास" — तानसेन चिल्ला उठे।

विलास पीछे आया। मारे गुस्सेके उसका खून खौल उठा।

"आपने मेरे अपने मेहमान की भली खातिर की!"

"मेहमान? यह लौंडी तेरी मेहमान? उसे मेहमान कहने में तुझे शरम नहीं आती? – हमारा खानदान, हमारी इज्जत–हमारी शराफ़त..."

"कहाँसे आया यह खानदान? क्या बादशाह की नौकरी के साथ-साथ शराफ़त भी मिलती है?"

"खामोश!" तानसेन गरज उठे।

"फिरसे कभी इस लड़की का यहाँ आना हमें बर्दाश्त नहीं होगा!"

"अगर वही लड़की मेरी बेगम–आपकी बहू बनकर आये तो?"

"तुम्हारी बेगम! मेरी बहू?-वह नाचीज़ लौंडी? इतना बेवकूफ तुम्हें किसने कर दिया...उसकी खूबसूरती ने या उसकी आवाज ने?"

"शायद दोनों ने!"

"फिर तो ठीक है। उसे मेरे घर में जगह नहीं होगी।"

"ठीक है। वैसा हो भी तो हमारे लिए पूरी दुनिया पड़ी है—"

विलास बाहर चला गया। मारे गुस्से के तानसेन काँप रहे थे। तिपाई के सहारे खड़े होकर वे विलासको जाते देख रहे थे।

उसी दिन से गुल्शन के घरमें विलास अपना पूरा वक्त गुजारने लगा। रात बेरात चाँदनी चौक की उस गलीमें विलास की पालकी दिखाई देने लगी। गुल्शन के छज्जेपर विलासखान की रागिनियाँ रँगने लगीं। सारे देहली शहर में यह खबर आग की तरह फैल गई। तानसेन दुःख में डूब गये। जब देखो तब विलास नशे में डूबा रहता था। नौकर उसे हाथ पकड़ कर घर वापस लाते थे। उन्हीं दिनों अकबर बादशाह का मुकाम फतेपुर सिक्री आ गया था। तानसेन देहली छोड़ना ही चाहते थे। एक दिन सबेरे उन्होंने विलास को बुलवाया—

"विलास, कल हमें आग्रा जाना होगा।"

"हमें?"

"हाँ! तुम्हें और हमें। हम दोनोंको जाना होगा—! कमसेकम एकसाल तक फिरसे दिल्ली देखनेका मौका नहीं मिलेगा!"

"ठीक है!"

उस रात गुल्शन के घर में पहले की रोशनी का नामो–निशान नहीं था। बत्तियोंकी रोशनी चमक नहीं उठी; पायलों की झनकार सुनाई नहीं दी। गाने की तानें फूट नहीं पड़ीं न किसीकी हँसीकी आवाज न कुछ! सबेरेतक घर के सामने एक शाही पालकी खड़ी थी। नींद भरी आँखोंसे पालकीवाले रास्तेपरही बैठे-बैठे ऊँघ रहे थे।

आग्रा जानेपर विलास की हालत और भी बिगड़ गई। उसने मेहनत करना छोड़ दिया। दिनरात शराब पीकर वह बेहोश पड़ा रहता था। दिन ब-दिन उसकी बेचैनी बढ़ती जा रही थी।

बडी मुश्किल-से एक दिन तानसेन विलास को फतेपूर सिक्री ले गये। दीवान-इ-खास में बादशहा के दरबार में तानसेन गा रहे थे। विलास साथ दे रहा था। तानसेन के इशारा करनेपर भी वह गानेको तैयार नहीं था। सिर्फ स्वर लगाये बैठा था। गाना खतम होतेही बादशाह ने पूछा—





" तानसेन, विलास की आवाज तो बड़ी मीठी है। यह गाता भी होगा ?"

" जी हुजूर !"

" उसका गाना कब सुनाओगे ? "

तानसेन ने विलास की ओर देखा। विलास ने सलाम किया और बोल उठा–

" गुस्ताखी माफ हो– आज कुछ न फर्माइयेगा ! "

" क्यों ?"

" जी नहीं लगता खाविन्द !"

बादशहाका सारा दरबार चकित रह गया। साँसें रुक गईं। तानसेन की नजर झुक गई। बादशहा हँस उठे।

" वा ऽह ! बहुत खूब ! कलाकार बड़े मनमाने होते हैं। जानता हूँ मैं यह ! अच्छा ! जब जी चाहे तब सुना दो। ठीक है ? "

सब लोगोंने सांस ली। दरबार खतम हुआ। विलासके बाहर निकलतेही एक जासूस ने उसके हाथ में एक अंगूठी रक्खी। अंगूठी देखते ही विलास ने पूछा–

" इस अंगूठीकी मालकीन कहाँ है ?"

" चारमीनार मुहल्लेमें– हुजूर।"

" चलो।"

विलासखान ने घोडा मंगवाया। दो घोड़े तेज चाल से आगेका रास्ता काटने लगे। मीनार मुहल्लेके एक छोटेसे मकान में गुल्शान ठहरी थी। उसे देखतेही विलास आगे बढ़ा। उसे अपनी बाहुओंमें समेट कर विलास ने पूछा–

" मेरी प्यारी गुल्शान – तुम यहाँ कब आ गईं ?"

" एक महीना होने आया क़रीब–क़रीब।"

" महीना ? और मुझे अब खबर मिल रही है ? "

" क्या करूँ ? एक मामूली औरत बादशाह के दरबारतक कैसे पहुँच सकती है ? "

" यहाँ क्यों आयी तुम ? "

" आपके लिए ? "

" सच; इतनी याद आती है हमारी ? "

" क्यों, आपको नहीं आती ? "

" नहीं –" हँसकर विलास ने कहा।

" हँस क्यों रहे हो ? चक्रधर ने मुझे आपका पूरा हाल बताया। ऐसी बात थी तो देहली वापस लौट आते ! " गुल्शान ने कहा।

" शायद इसीलिये बीचमें चक्रधर देहली गया था। छोड़ो ये बातें ! तुम मिल गईं – हमने सब कुछ पाया ! अब मुझे छोड़कर तुम नहीं जा सकती हो। तुम्हारी जुदाई हमें बेचैन कर देती है – "

विलास गुल्शान को लिपटे बैठ गया मानो कोई बच्चा अपनी माँको लिपट गया हो। उसके घने बालों में अपनी उँगलियाँ फेरते गुल्शान बोली–

" जो बात मैं नहीं सह सकी वही बात तुम कैसे सहोगे ? मुझे यक़ीन था कि एक-न-एक दिन तुम इस मुहल्ले में आओगे – इसी लिए मैं यहाँ ठहरी – "

" ऐसे मुहल्ले में मैं हर्गिज नहीं आता। मेरा जी बहलाने की ताक़त इन मुहल्लों में कहाँ ? सिर्फ़ तुम्हींने जादू डाला है ... "

गुल्शान के मकानमें फिरसे महफ़िलें शुरु हुईं। विलास का गुल्शान के घर आना-जाना फिरसे बढ़ने लगा। एक दिन तानसेन ने चक्रधर से पूछा–

" चक्रधर, विलास आजकल कहाँ जाता है ? "

" कहीं नहीं हुजूर ! "

" सच बोलो चक्रधर ! किसीके फंदे में तो नहीं फँस गया फिरसे ? "

" वह देहलीवाली बाईजी हुजूर ! "

" कौन ? गुल्शान ? "

" जी हाँ। "

" यहाँ कब आयी ? कहाँ रहती है वह ? "

" मीनार मुहल्ले में हुजूर ! "

" कल हमें वहाँ ले जाओगे ? विलाससे कुछ मत कहना, समझे ? "

दूसरे दिन, दिन डूबने पर तानसेन गुल्शान के सामने आ खड़े हुए। तानसेन को सलाम करके वह चुपचाप खड़ी हो गई।

" तुम यहाँ क्यों आयी ? "

" आग्रा आने की कोई मनाही तो है नहीं ? "

" मैं जानता हूँ तुम यहाँ क्यों आयीं ! विलास आता ही होगा ?"

" आते होंगे ! वह जिम्मेवारी उनकी है— "

" उसका यहाँ आना फौरन बंद होना चाहिये "

" नाचने-गानेवाली का मकान सिर्फ़ गरीबों के ही लिए बंद रहता है खाविन्द ! " गुल्शान ने कहा।

करामाती फोटोग्राफ़र !!







अनुक्रमणिका





अनुक्रमणिका

" गुल्शन, तुम जानती नहीं हो—हमारा गुस्सा बड़ा तेज़ है। तुम चाहो सो तुम्हें मिल जायगा—सिर्फ़ एक बात मानो। तुम यहाँसे चली जाओ।"

" जो मैं चाहूँ सो आप जरूर देंगे ?"

" जरूर-जरूर ! जो चाहे सो ले लो—लेकिन फिर यहाँ कदम न रखना।"

" जी ! नहीं रखूँगी।"

" क्या चाहती हो ?"

" मैं विलास को चाहती हूँ।" गुल्शन धीरे से बोली।

" खामोश ! क्या इस बूढ़ेका—तानसेन का मज़ाक उड़ा रही हो ?"

" और—और आप मेरे घरमें मेरी मोहब्बत का मज़ाक उड़ा सकते हैं !"

" मैं यहाँतक आया यह अपनी तक़दीर की बात समझ लो !"

" मैं आपकी क्या ख़िदमत कर सकती हूँ ? गाना सुनना चाहते हैं आप ?" तानसेन उठ खड़े हुए।

" इतना मिजाज है ! हिम्मत हो तो सुना दो गाना। कल तक हम आग्रे ही में हैं।" तानसेन चल दिये।

दूसरे दिन दोपहर में विलास गुल्शन के घर पहुँचा। गुल्शन ने पूछा—

" आज इतनी जल्दी कैसे आये ?"

" क्यों ? कोई मनाई तो है नहीं—आज इतनी जल्दी कैसे तैयार हो गई हो। महफ़िल क्या जल्दी शुरु होनेवाली है ?"

" जी नहीं। आज ज़रा काम से बाहर जाना है।"

" वापस कब लौटोगी ?"

" थोड़ी ही देरमें। आप बैठियेगा।" कहकर गुल्शन घर से निकली।

तानसेन अपने महलमें सो रहे थे, वे जग गये। उन्होंने आँखें खोलीं। महलमें शांतता थी। छज्जे के ही तरफ़से एक तान उनके कानोंपर आयी थी। बोल भी सुनाई देने लगे—

"सैंया बिन नाहीं कटत मोरी रात ऽऽऽ"

" बहोत खूब ! क्या आवाज है।" तानसेन बोले। उन्होंने ऊपरसे देखा। फ़ौरन उनके चेहरेके खुशीके भाव पलट गये। उन्होंने मुठ्ठियाँ कस लीं। रास्तेपर गुल्शन की पालकी खड़ी थी। गुल्शन गा रही थी, साजिंदे साथ दे रहे थे। पालकी के पास लोग इकट्ठा हुए थे।

" तुम्हारी यह हिम्मत !" कहकर तानसेन ने इशारे की घंटी बजायी। नौकर दौड़ आये। तानसेन गरजे—

" उस लड़कीको गिरफ्तार करो और कोतवाल के पास ले जाओ। कल दिन डूबनेके पहिलेही उसे हाथी के पैरोंतले मरने दो !"

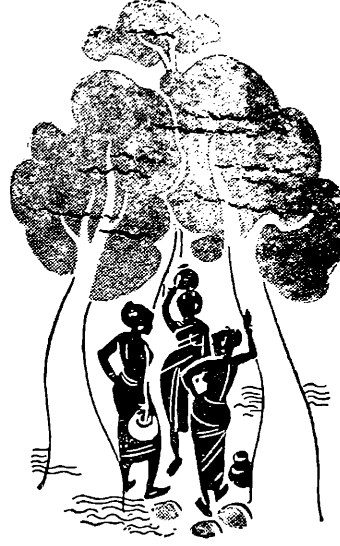
अकबर बादशाहका दरबार भरा हुआ था। जो नौ रत्न वहाँ हाज़िर थे, उनमें से तानसेनजी एक थे। वज़ीर ने गुल्शन को दरबार में पेश किया। और तानसेनजीकी सज़ा उसे फ़र्माई। अकबर बादशाह ने तानसेन की तरफ देखा; तानसेन की निगाहें झुक गईं। गुल्शन निडर खड़ी थी। बादशाह ने उससे पूछा—

" कहो बेटी ? तुम्हें कुछ कहना तो नहीं ?"

" जी नहीं !"

"तानसेन, इतनी मासूम लड़की, और इतनी कड़ी सज़ा ?" बादशाह ने पूछा। तानसेनजी चुप रहे। बादशाह ने ज़बानी शुरू की—

" तानसेनजीके रियाज में जो कोई खलल डालेगा, उसे वे जो चाहे सो सजा दे सकते हैं यह बात तो पूरी रियासत जानती है..."



तीन मुक्तक

—शैवाल सत्यार्थी

ज़िंदगी एक सफ़र है, सुबह से शाम का !
ज़िंदगी एक सबक़ है, तपती घाम का !!
ज़िंदगी एक नाम है, लबालब जाम का !
ज़िंदगी उप नाम है, इन तमाम का !!

इस शरीरी — खूबसूरती को मत निहारो,
मन के भ्रम पर पड़ा परदा उतारो,
देह का नशा तो, महज़ क्षण-दो-क्षण का है —
प्राण की सलवटों पर पड़ी धूल को बुहारो !

रोज़ सुबह होती है, रोज़ शाम होती है,
रोज़ छाँह होती है, रोज़ घाम होती है,
मरना तो सरल है, जीना मगर मुश्किल
बस, यूँ ही ज़िंदगी तमाम होती है !

अनुक्रमणिका

"खाविन्द !"

"कौन ?" बादशाह ने नजर उठाकर देखा।

दरबार में विलास आया था। तमाम लोगोंकी आँखें उसकी तरफ़ घूम गईं।

"कौन विलास ? कहो बेटे–कैसे आये हो ?"

"हुजूरकी फर्माइश हो तो एक गाना सुनाना चाहता हूँ!"

"अभी ?"

"जी हां ! आपने कहा था ..."

"हाँ ! हाँ ! हमें याद है। गाना जरूर सुनेंगे !"

विलास ने ताली बजायी। तुरंत तबला, सारंगी और तानपुरा हाथ में लिए साजिंदे अंदर आये। साज जुड़ गये। कुर्निसात करके विलास वीरासन पर बैठ गया; तानपुरा हाथ में लिए वह गाने लगा –

"सैंय्या बिन नाहीं कटत मोरी रात ऽऽऽ"

उसकी दर्दभरी आवाज से पूरा दरबार अचंभे में आया। गज़ल खतम होनेपर बादशाह ने कहा–

"बहुत खूब ! आज तुम पहिले पहल हमारे सामने गाये। तानसेनजी के बाद उनकी जगह तुम ठीक से निभा लोगे ! हम तो खुश हो गये हैं। तुम जी चाहे सो माँग लो !"– बादशाह बोले।

विलास ने गुल्शन की ओर उंगली का इशारा करते हुए कहा–

"आपकी मेहरबानी से इस लड़की की खैरियत चाहता हूँ !"

"वा: विलास ! बडे खुश-मिजाज़ हो तुम। ठीक ! ठीक ! गुल्शन को हम इसी वक्त बाइज्जत छोड़ देते हैं।"

"लेकिन हुजूर ! मेरा हुकूम ?" तानसेनजी ने पूछा।

"खामोश ! तानसेन ! देहली के तख्तपर बादशाहकी हुकूमत है– गवय्योंकी नहीं !"

बादशाह उठ गये। धीरे-धीरे दर्बारी भी उठ गये। बाक़ी रह गये सिर्फ तीनों–तानसेनजी, विलास और गुल्शन। अपने पिताजी की ओर बढ़ते हुए विलास ने कहा, "पिताजी !"

तानसेन ने आँखें उठाईं। उनकी आँखोंमें अंगार जल रहे थे।

"मुबारक हो विलास ! तुमपर रहम भी नहीं आता। तुम पूरे मर मिटते तो बुरा नहीं था लेकिन तुम्हारी रागदारी ! इस लौंडीके पीछे तुमने वह गँवा दी ! बादशाहके दरबार में तुमने एक नाचीज़ गज़ल पेश की !"

"नहीं–पिताजी ! वह नाचीज़ गज़ल नहीं थी !"

"फिर कौनसी रागिनी थी ?" तानसेन ने हँसी उड़ाते पूछा।

"वह तो मैं नहीं जानता लेकिन इन्हीं सुरोंसे शायद एक़ाद रागिनी तैयार हो सकती है !"

"नाम तो जानते होगे ?"

"विलासखानी टोडी ही हो सकती है ! मैं आपको एक दिन सुनवाऊँगा। वह सुनकर आप जरूर खुश हो जाएँगे !"

"तो फिर मैं समझूँगा कि मैं खुद हार गया हूँ।"

"पिताजी —"

"चुप रहो विलास ! मेरा आखिरी कहना मानो। इस लड़की का पीछा छोड़ दो !"

"और अगर न छोड़ूँ तो।"

"तो ?" मुट्ठियाँ कसते तानसेन खड़े होकर बोले—

"तो ? तो उम्रभर तेरा मुँह नहीं देखूँगा !–मैं अपने उस्ताद महंमद गौस की क़सम खाता हूँ ! अगर क़सम टूटी तो मेरा गाना मिट जाएगा !"

विलास की आँखें भर आयीं। तानसेन पीठ फिराये खड़े थे। पीछेसेही उनको प्रणाम करके विलास गुल्शन के पास आया और उसने कहा–

"चलो गुल्शन ! हम चलें।"

दोनों नापते कदमों से महल के बाहर आये। घर आतेही गुल्शन ने कहा–"यह तुमने क्या किया विलास ? सारी दुनिया कहेगी कि एक लड़कीके पीछे विलास ने रागदारी मिटा दी !"

"नहीं ! दुनिया ऐसा नहीं कहेगी !" उसे अपनी बाजुओंमें समेटे विलास ने कहा–"दुनिया अगर कहेगी तो यही कहेगी कि विलास को गुल्शन ने बर्बादी से बचाया ... उसकी रागदारी ज़िन्दा रखी ! गुल्शन, बगैर तुम्हारे, मेरे पास कुछ नहीं है...कुछ नहीं..."

उसी दिन उन दोनोंने आग्रा छोड़ दिया और वे ग्वालियर, इन्दौर, लखनौ, बनारस की तरफ गये। विलास की रागिनीमें गुल्शनका प्यार शराबके साथ रंग भरता जा रहा था! जगह–जगह उसकी तारीफ़ होने लगी। तानसेन बुढ़ापे से विवश होकर अपने आख़िरी दिन काट रहे थे। रियाज में उनका जी नहीं लगता था; विलास की जुदाई उन्हें चुभती थी। अपने लड़के–विलासपर उनका इतना प्यार नहीं था जितना अपने शिष्य विलासपर। उनका खयाल था, उनको उम्मीद थी कि उनके गुज़र जाने पर उनका शिष्य विलास उनका नाम कायम रखेगा। तानसेन अब थक गये थे।

एक दिन उन्हें पता चला कि विलास ग्वालियर पहुँचा है। अपने उस्ताद महंमद गौस के दर्गेका दर्शन करने के बहाने वे भी ग्वालियर जाने निकले। रास्तेमें तबियत और भी खराब हुई। तानसेन ने विलास को संदेशा भिजवाया। गुल्शन ने कहा—

"एक मर्तबा उनके पास ज़रूरही जाना होगा।"

"नहीं गुल्शन ! हमसे ऐसी बात हर्गिज़ नहीं होगी! दुनिया की मुझे कोई फिक्र नहीं लेकिन मैं नहीं चाहता कि उनकी क़सम टूट जाये!"

उस रात महफिल नहीं हुई। विलास ने तानपुरा उठाया। सूनी आँखें, व्याकुल स्वरोंमें विलास टोड़ी राग का रियाज करता रहा।

दूसरे दिन महफ़िल सजी। गुल्शन नाच रही थी और साथ-साथ गा भी रही थी। महफिल पर शराब की मस्ती छा रही थी। गुड़ाखू की महक फैल रही थी। इतनेमें चक्रधर अंदर आया। गाना बंद हुआ। अपनी शीलीन आँखोंसे उसकी तरफ देखकर विलास ने पूछा—

"क्यों चक्रधर ? तुम कैसे आये ? पिताजीके गुजर जाने की खबर देने तो नहीं आये हो तुम ?"

"जी हुजूर।"

"कब गुज़र गये ?"

"आज रातही–पहिले पहर।"

विलास जोरोंसे हँस पड़ा। हँसते-हँसते आँखें लबालब भर गईं। उसने कहा—

"प्यारे दोस्तो! महफिल खत्म हुई। संगीत के सम्राट चल बसे। बगैर बादशाह के दरबार कैसे हो सकता है ?" चक्रधर से उसने कहा —

"ठहरो, चक्रधर! पिताजी का दर्शन लेनेसे तो मैं मजबूर हूँ। लेकिन मेरे उस्ताद का दर्शन मैं ज़रूर करूँगा। हम आ रहे हैं। चलो गुल्शन।" गुल्शन की पालकी तैयार थी। उसने कहा—

"विलास तुम अंदर बैठो। तुमसे चला नहीं जाएगा!"

आँखोंसे आँसू टपक रहे थे और धीरे-धीरे विलास अंदर बैठ गया। तानसेन के महलपर पालकी रुक गई। विलास बाहर आया। महलके सामने बहुत भीड़ थी। अंदर से गीतों के स्वर आ रहे थे।

गुल्शन का हाथ, हाथ में लिए विलास धीमी चाल चल रहा था। लोगोंने सरक कर उन्हें जानेको रास्ता कर दिया। महल के अंदर जातेही विलास के क़दम लड़खड़ाये। बड़े-बड़े उमराव, मनसबदार, तानसेन के चेले और अन्य साहेबान् वहाँ इकठा हुए थे। फूलोंसे लदी हुई तानसेन की मृत देह महल के बीचोंबीच रखी गयी थी। अगरबत्ती, फूल, इत्र, धूप आदिकी मिश्र गंध फैल रही थी। तानसेन के पैरोंके पास बैठ कर एक शिष्य अपनी सेवा अर्ज़ कर रहा था। विलास होशमें आया। धीमी चालसे वह तानसेन के पास पहुँचा। विलास को देखतेही गाना बंद हुआ। कुछ देर तक विलास तानसेन का मुँह बड़ी गौर से देख रहा था। उन सफेद भौंवोंके नीचे मूँदी हुई आँखोंको देख कर वह संजीदगी से हँसा। वे आँखें अब हमेशाके लिए बंद हो गयी थीं। अंतकाल के समय उनके चेहरेपर जो दर्द की छटा थी वह अभी मिटी नहीं थी। विलास ने तानपुरा लिया। शोकवश विलास गाने लगा—

"कौन भ्रम ऽ भूले वे गुरुग्यानी
अनजानकी कछु जाननकी ऽऽ

विलासखानी टोड़ी जनम ले रही थी। उन स्वरोंसे लोगों के मन थर्रा गये। आँखोंसे आँसू टपकने लगे। जहाँ दुख के मारे विलास रुक जाता, वहीं गुल्शन फौरन सूर उठा लेती थी। विलास गाता था—

चाहत भला मेरे प्रभुजी ऽ
ओ तानसेन गुरुग्यानी ऽऽ...

'विलासखानी टोड़ी' खत्म हुई। लोग ताज्जुब से तानसेन का चेहरा देखने लगे। उस चेहरे की दर्द की छाया मिट गई और उसकी जगह एक अनोखी मुस्कुराहट दिखाई देने लगी। विलास ने गौरसे देखा और मुस्कुराहट देखते ही वह रो पड़ा। फिर एक बार सलाम करके गुल्शन के साथ वह महलके बाहर आया। उसके पीछे एक आदमी दौड़ता आया और उसने पूछा—

"विलास, तानसेनजी क्यों हँस पड़े?"

विलास ने हँसकर कहा—

"केवल जीत में ही नहीं, कई बार हार में भी इन्सान हँस पड़ता है–चलो गुल्शन, आज हमें ग्वालियर छोड़ना होगा।"

इतना कहकर गुल्शन का हाथ पकड़े विलास महलके बाहर आया। सवेरे के फीके उजाले में वे दोनों महल से दूर जा रहे थे। • •

अनु.: निर्मला देशपाण्डे





दिन के अँधेरे

कुमार का रास्ता रोक कर सविता बोली— " मैं परिस्थितियों से मज़बूर हूँ। बैल या गधे की तरह जिन्दगी का बोझ ढोने में मुझे कोई अक्लमंदी नहीं दिखाई पड़ी।



मोहन सिंह सेंगर

दफ़्तर का ड़ाक़ बाँटने वाला चपरासी सविता की मेज़ की ओर भी बढ़ा और उसके सामने एक लिफ़ाफ़ा रखकर आगे बढ़ गया। काम करते-करते सविता ने एक सरसरी-सी निगाह उस पर डाली और फिर काम में लग गई। इस उड़ती नज़र से भी लिफ़ाफ़े पर लिखे पते से उसे अपने भाई के हस्ताक्षर पहचानने में देरी नहीं लगी और न ही उसके भीतर की चिट्ठी का मज़मून भाँपने में ही। हाथ का काम कोई बहुत ज़रूरी नहीं था, फिर भी न जाने क्यों सविता उसी में लगी रही और उसने चिट्ठी को खोल कर पढ़ने की ज़रूरत नहीं समझी।

थोड़ी देर बाद हाथ का काम खत्म कर उसने लिफ़ाफ़ा उठा कर कुछ क्षण घुमा-फिरा कर उसे देखा। फिर खोला और उसमें की चिट्ठी निकाल कर पढ़ने लगी। वही हर बार का पुराना पेटेंट मज़मून था – भाई की फीस न पहुँचने की शिकायत, माँ की तबीयत खराब होने की सूचना (जैसे उसके नौकरी करने के बाद से माँ कभी स्वस्थ रही ही नहीं!), कई दिनों से उसके कुशल समाचार न मिलने पर चिन्ता और घर के लिए खर्च जल्दी भेजने का तकाज़ा। उसका मन बड़ा खिन्न हो उठा। यह भी भला कोई ज़िन्दगी है? क्या अर्थ है इस तरह जीने का? उसका जन्म जैसे माँ और भाई के अभावों को दूर करने का कर्तव्य निभाने-भर के लिए ही हुआ है।

न जाने वह इधर-उधर की क्या-क्या बातें सोचने लगी। सहसा उसे ध्यान आया अपने मित्र कुमार का। सोचा, न हो तो आज की शाम उसीके साथ बिताई जाय–सिनेमा-रेस्त्राँ या कोरी गपशप ही सही। उसने एक-दो जगह, जहाँ वह अक्सर मिला करता था, फोन किया। पर कुमार का कहीं पता न चला। उसने सोचा, शाम को कॉफी–हाउस तो वह अक्सर जाता ही है। क्यों न आज उसे वहीं पकड़ा जाय। यह सोचकर उसने भाई की चिट्ठी वापस लिफ़ाफ़े में रखकर उसे अपने बैग में रखा और फिर काम में जुट गई।

पाँच बजते ही उसने दफ़्तर छोड़ दिया और सीधी कॉफी-हाउस पहुँची। दरवाज़े पर रुककर उसने एक नज़र सारे हॉल में डाली, पर

कुमार की शक्ल कहीं पर भी दिखाई नहीं पड़ी। फिर यह सोचकर कि शायद वह कुछ देर में आये, वह एक मेज पर बैठ गई। उसने सिर्फ एक कप कॉफी मंगवाई और धीरे-धीरे चुस्कियाँ लेने लगी।

अकेले बैठे उसका दिमाग विचारों के ताने-बाने में उलझ गया। अक्सर कुमार के साथ उसकी बातों-ही-बातों में बड़ी गरमागरम बहस हो जाती, दोनों एक-दूसरे से रूठ जाते, कई दिनों तक नहीं मिलते और फिर अचानक किसी दिन कहे-सुने के लिए माफ़ी माँग कर दोनों फिर हँसी-खुशी गप्प-सड़ाके लगाते। कुछ दिन न मिलने पर जैसे दोनों ही एक-दूसरे की कमी महसूस करते और कोई-न-कोई बहाना खोज कर मिल ही लेते। वैसे ऊपर से जाहिर यही करते कि दोनों में से कोई भी दूसरे से मिलने के लिए उत्सुक नहीं था।

इस समय कुमार तो नहीं, पर उसके मित्र जयन्त ने उसके सामने आकर पूछा—"आज अकेली कैसे, सविताजी? क्या मैं भी यहाँ बैठ सकता हूँ?"

"जी नहीं। माफ़ कीजिएगा, आज मैं जरा अकेली ही बैठने के मूड में हूँ।"—गम्भीर स्वर में कह सविता ने कनखियों से जयन्त की ओर देखकर मुस्करा दिया और फिर उसका हाथ खींच कर पासवाली कुर्सी पर बिठाते हुए कहा—"तुमने यह औपचारिकता कब से सीखी, जयन्त?"

"जब से तुमने आँखें फेरीं?"

"क्या मतलब?"

"बस, मतलब-बतलब अब तुम समझो। अपने राम हर बात की टीका करने के आदी तो है नहीं।"

"हूँ। समझी तुम्हारा मतलब।"

"ख़ैर, गोली मारो इन वाहियात बातों को। यह बताओ कि सचमुच तुम किसी का इन्तज़ार तो नहीं कर रहीं?"

"कर तो रही हूँ।"

"किसका?"

"मिस्टर जयन्त का।"

"मज़ाक छोड़ो। मैं सिर्फ इस लिए पूछ रहा था कि कहीं मैं तुम्हारे और कुमार के बीच दाल-भात में मूसरचन्द तो नहीं बन रहा?"

"और बनो भी, तो तुम्हें डर या संकोच किस बात का है? भूलो मत जयन्त कि उससे मेरा परिचय तुम्हींने कराया था। मुझसे भी पहले वह तुम्हारा मित्र है।"

"सो तो है ही।" कह कर जयन्त पास की कुर्सी पर बैठ गया और एक सिगरेट सुलगा कर पीने लगा। फिर बोला—"लेकिन अपना-अपना भाग्य है, सविता। गुरु गुड़ ही रहा और चेला शक्कर बन गया!"

"मैं समझी नहीं तुम्हारा मतलब।"

एक क्षण जयन्त ने सविता की ओर स्थिर दृष्टि से देखा। फिर मुँह में भरा हुआ सिगरेट का धुआँ उसकी ओर छोड़ कर बोला—"यह तो जैसे तुम्हारा तकिया-कलाम हो गया है। अरे बाबा, मैं कोई लेटिन या अरबी में तो बोल ...ही रहा हूँ, जो तुम्हारी समझ में न आए। पर ख़ैर, अब जाने भी दो इन बातों को।"

"अच्छी बात है। तो जाने दिया।" कह कर सविता कुछ मुस्कराई। फिर पूछा—"अच्छा बोलो, क्या लोगे?"

"इस वक्त तो कुछ भी नहीं। कॉफी मैं दो बार ले चुका हूँ। बस, तुम्हें देखकर चला आया। सोचा, कई दिनों से तुमसे मुलाकात नहीं हुई। ज़रा मिल ही आऊँ।"

"यह तुमने अच्छा ही किया। मैं भी आजकल काम ज्यादा होने से दफ़्तर में देर तक बैठती हूँ। फिर इतनी थक जाती हूँ कि कहीं आने-जाने को मन ही नहीं होता।"

"लेकिन यों बैल की तरह रात-दिन पिसना भी कोई ज़िन्दगी है, सविता?"

"शायद हाँ।"—सविता ने ज़रा गंभीर होकर कहा—"तुम्हें क्या नहीं मालूम जयन्त कि हममें से बहुतों के लिए मजबूरी का ही दूसरा नाम ज़िन्दगी है।"

"लेकिन कुमार तो ऐसा नहीं समझता। उसका तो कहना है कि चाहे भूखों ही क्यों न मरा जाय, पर रहा जाय एकदम स्वतन्त्र और स्वछन्द होकर।"

"यह तुम कुमार को बीच में कैसे खींच लाए? मैं तो तुमसे अपनी बात कह रही थी।"

"यह तो ठीक है। पर मैंने सोचा कि आजकल तुम दोनों अक्सर साथ-साथ ही रहते हो, सो शायद तुम्हारा ख़याल भी वही होगा, जो कुमार का है।"

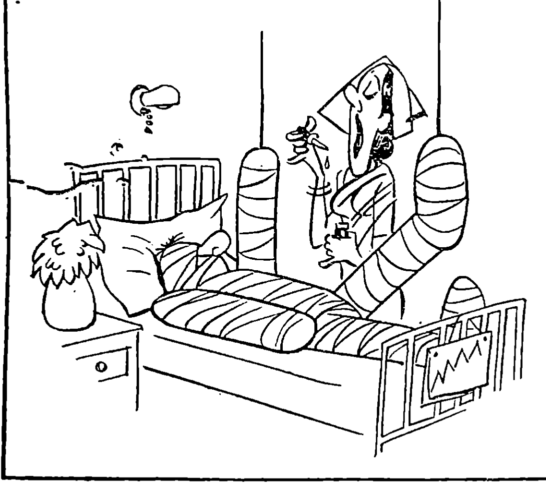
सविता जयन्त की बात का अर्थ न समझी हो, ऐसी बात न थी; पर उसने जैसे उसे अनसुनी कर घड़ी देखते हुए कहा—"बाप रे! मैं तो भूल ही गई थी कि मुझे ६ बजे घर पहुँचना है। दो-एक सहेलियों को चाय पर बुलाया है मैंने।" और फिर बैग खोलकर उसमें से कुछ पैसे निकाल कर अपने प्याले के पास रख खड़े होते हुए कहा—"अच्छा जयन्त, आज ज़रा जल्दी में हूँ। तो चलूँ अब। फिर कभी मिलेंगे।"

यह कहकर सविता तेज़ी से कॉफी-हाउस के बाहर चली गई। एक क्षण जयन्त ने लोगोंकी भीड़ को चीर कर तेज़ीसे बाहर जाती हुई सविता को देखा और फिर दूसरी सिगरेट सुलगा कर पीने लगा।

पार्टी से लौटते समय सविता का मूड इतना ख़राब हो गया कि वह उसमें जाने की ग़लती करने के लिए अपने-आपको ही कोसने लगी। छिः छिः, यह है पढ़े-लिखों का हाल! आदमी की क़द्र, उसकी पूछ, उसके सामाजिक दर्जे और प्रतिष्ठा का आधार तथा उसका मूल्यांकन एकमात्र पैसे से ही होता है। रह-रहकर उसे रूज और लिपस्टिक से रंगे वे चेहरे याद आने लगे, जिनपर मानो उनके पतियों की कमाई के आंकडे लिखे हों और उनके स्वर, व्यवहार तथा बातचीत पर उसकी गहरी छाप हो। तो क्या आज पैसे के सिवा और कोई मूल्यमान्यता रह ही नहीं गई है समाज में?

सहसा उसके असंतोष और आक्रोश के कुहरे में से एक विचार कौंध गया—क्यों न वह भी किसी अच्छे पैसेवाले से विवाह कर ले और इसीके साथ उसे जैसे अपने भीतर कुमार की एक चीख-सी सुनाई दी। दूसरे ही क्षण प्रश्न-भरी दृष्टि से घूरते हुए माँ और भाई के करुणा-विगलित चेहरे उसके दृष्टि-पथ पर तैरने लगे। उसने तेज़ीसे घूमनेवाले अपने सिर को दोनों हाथों में थाम लिया और आँखें मूँद लीं।

थोड़ी देर बाद उसके कानों में आवाज़ पड़ी—"आपकी तबीयत क्या कुछ ख़राब है, बहन जी?"



हाँ, तो अब दवा पी लीजिये!

सविता ने आँखें खोलीं, तो होस्टल के दरवान को अपने सामने खड़ा पाया। एक क्षण तक वह स्तंभित ही खड़ी रही। उसकी कुछ समझ में ही नहीं आया कि वह कहाँ है? फिर सहसा होस्टल के दरवाजे और फिर दरवान की पहचान कर उसने फीकी मुस्कराहट के साथ कहा—"नहीं, नहीं, मेरी तबीयत बिल्कुल ठीक है। वैसे ही गर्मी ज्यादा होने से जरा चक्कर-सा आ गया था। कोई खास बात नहीं।" और यह कहते-कहते वह भीतर की तरफ़ चल पड़ी।

अपने कमरे में पहुँचकर उसने देखा कि उसकी साथिन सोई पड़ी है। धीरे से उसने अपना बैग सिरहाने रखी छोटी तिपाई पर रखा। फिर सीधी खड़ी होकर एक नजर सोई हुई साथिन पर डाली और जैसे मन-ही-मन कहा—ऐसी सूरत-शक्ल और कपड़ोंवाली को तो कोई वैसी पार्टी में घुसने भी न देगा! क्या औक़ात है इस बेचारी की उसमें सम्मिलित होने की?

और दूसरे ही क्षण वह ड्रेसिंग-टेबल के शीशे के सामने जा खड़ी हुई। अपनी आँखों, नाक-नक्श और पूरे चेहरे को गौर से देखते हुए उसने मन-ही-मन कहा- मैं किसीसे क्या कम सुन्दर हूँ? कम-से-कम पार्टी में आई उन चुड़ैलों से तो मैं लाख दर्जा बेहतर हूँ। पर मैं ठहरी एक मेहनत करके पेट भरनेवाली काम-काजी युवती। मेरा मूल्य है मेरी तनख्वाह, मेरा पद। लेकिन रूप और जवानी की यह संपदा पाकर भी मैं इस अभिशाप को क्यों ढो रही हूँ? क्यों? आख़िर क्यों?

इसी समय उसे पीछे से किसी की पदचाप सुनाई पड़ी। मुड़ कर देखा, तो वही मनहूस दरवान। अभी वह उसे इस बेवक्त ऊपर आने के लिए डाँटने ही जा रही थी कि बड़े निरीह भाव से वह बोला—"आपका टेलीफून है, बड़ीजी।"

"अच्छा" कहकर सविता फ़ौरन सीढ़ी की ओर बढ़ गई।

टेलीफ़ोन का चोंगा कान से लगाकर सविता ने पूछा—"कौन?"

पर उत्तर में नाम के बदले सुनाई पड़ा एक हँसी का स्वर—"अच्छा, तो अब नाम भी बताना पड़ेगा? और फिर शायद यह कैफ़ियत भी तलब होगी कि क्यों फोन किया? क्या काम है?"

कुमार का स्वर पहचानने पर सविता को और अवसरों पर जैसी सुखद प्रतिक्रिया हुआ करती थी, इस बार वैसी नहीं हुई। कुछ रुखाई से उसने कहा—"कहो, क्या काम है, जो इतनी रात गए फोन किया?"

"काम भला क्या बताऊँ? वैसे बेकार तो हूँ ही। कोई काम दिला सको, तब जिन्दगी-भर एहसान मानूँगा।"

"इस वक्त बेकार की बातें छोड़ो। बताओ, क्यों फोन किया? क्या कोई खास बात है?"

"जब पूछती ही हो, तो छुपाऊँगा नहीं। तुम इतने दिनों से मिलीं नहीं। न फोन किया। मैं कई बार तुम्हारे इन्तज़ार में घंटों कॉफ़ी-हाउस में बैठा रहा। अपने लिए तो मुझे यह सचमुच एक बड़ी खास बात ही लग रही है, क्योंकि पहले तो कभी तुमने ऐसा बर्ताव किया नहीं।"

"ये बातें अब फोन पर तुम्हें कैसे समझाऊँ, कुमार? मिलेंगे, तब सब बातें दिल खोलकर कर लेना।"

"तो बताओ, कब मिल रही हो?"

"अभी कैसे बताऊँ? यह तो दफ़्तर के काम पर निर्भर करता है।"

"अच्छी बात है। तो मैं कल दफ़्तर में ही फोन करूँगा।"

रिसीवर वापस रखते-रखते सविता का हाथ कुछ काँप गया और थोड़ी-सी कँपकँपी जैसे उसके दिल में भी हुई। उसे ऐसा लगा, जैसे यह सब वह अपनी इच्छा के ख़िलाफ़ किसी अज्ञात शक्ति की प्रेरणा से कर रही है। पर क्या? इसका उत्तर जैसे वह देना नहीं चाहती थी।

ऊपर आकर सविता ने कपड़े बदले। फिर बिस्तर ठीक किया और बत्ती बुझाकर लेट गई। रह-रह कर कुमार का रुआँसा चेहरा फरियाद करता हुआ-सा उसके सामने आ रहा था और वह जैसे उसे देखना न चाहकर दूर ठेल रही थी। विकल होकर उसने करवटें बदलनी शुरू कीं। पर वह जिधर मुँह करती, कुमार का चेहरा भी उसी ओर सामने आ जाता। उसने आँखें मूँद लीं। अब मानो पुतलियों के अन्दर से वही चेहरा झाँकने लगा। सविता ने आजसे पहले कभी भी महसूस नहीं किया था कि सहज भाव से कुमार से हुई मैत्री उसके अन्तर में इतनी गहरी पैठ जायगी कि वह चाहकर भी उससे पीछा नहीं छुड़ा सकेगी। कल तक उसे इसका कोई एहसास ही न था। पर आज जब उसने उसे अपने से दूर करने की बात सोची, तो ऐसा लग रहा है कि शायद वह उसे कभी भी अपने मन-मस्तिष्क से दूर नहीं कर सकेगी। कभी भी नहीं! पर क्यों?

करवटें बदलते-बदलते जब वह काफ़ी परेशान हो गई, तो झुंझलाकर उठ बैठी। अंधेरे कमरे में जैसे सब ओर कुमार के शत-सहस्र चेहरे तैर रहे थे। आक्रोश से उसने अपनी जीभ दाँतों से काट ली। फिर कुढ़ कर मन-ही-मन कहा—देखती.हूँ, यह शैतान कैसे मुझे चैन नहीं लेने देता है? और फिर करवट बदल कर लेट गई।

पता नहीं इसके बाद कब करवटें बदलते-बदलते उसे नींद आ गई।

जब-जब कुमार ने सविता के दफ़्तर में फोन किया, उत्तर मिला कि वह सीट पर नहीं है। आख़िर तंग आकर कुमार ने टेलीफोन करना बन्द कर दिया। उसने सोचा, शायद सविता स्वयं ही कभी उसे फोन करे या कॉफ़ी-हाउस में मिले पर अब उसके दर्शन औ





उसका स्वर दोनों ही जैसे उसके लिए दुर्लभ हो गए। घंटों वह कॉफी-हाउस में अकेला बैठा सिगरेट पर सिगरेट फूँका करता और एक के बाद दूसरी कॉफी मँगवा कर चुस्कियाँ लिया करता। पर सविता फिर कभी दिखाई न दी। आखिर तो वह पुरुष था। उसे लगा कि जब वही उसकी खोज-खबर नहीं लेती, तो वही क्यों उसके लिए व्यर्थ परेशान हो? वह उसे भूलने की कोशिश करने लगा। पर क्या उसे भुलना इतना सहज संभव था?

एक दिन जब कुमार चौराहे पर खड़ा सड़क पार करने को हरी बत्ती होने की प्रतीक्षा कर रहा था, एक नई चमचमाती मोटर भी आकर उसके पास ही रुकी। उसमें अगली सीटपर ड्राइवर के साथ बैठी सविता को देखकर जैसे उसे अपनी आँखों पर विश्वास नहीं हुआ। शृंगार-प्रसाधनों से बना-सँवरा चेहरा, बारीक रेशम के कपड़े और गोरे खुले कंधों पर लहराते हुए कटे-छटे घुँघराले केश। कुमार का मन हुआ कि अपने गले का सारा जोर लगाकर एक बार तो पुकारे–सविता। पर जैसे उसकी जबान तालू से चिपक गई थी। उसका मुँह खुला ही नहीं। इसी समय सविता ने ज्यों ही बाहर की ओर देखा कुमार को खड़ा देखकर फ़ौरन अपना मुँह मोटर चलाने वाले की तरफ़ कर उससे बातें करना शुरू कर दिया।

इसी समय हरी बत्ती हुई और मोटर रेंग कर भीड़ में मिल गई। कुमार एक क्षण सन्न खड़ा रहा फिर सड़क पार न कर जिस रास्ते से आया था, उसी पर लौट पड़ा।

आज उसे पहली बार अनुभव हुआ कि पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों का शारीरिक ही नहीं, बौद्धिक विकास भी पहले हो जाता है। पर छाया की तरह उसका पीछा करने वाली सविता में आखिर अचानक यह बुद्धि आई कैसे? तो क्या सचमुच वह उसे नहीं चाहती थी? इतने दिनों तक जो कुछ हो रहा था, केवल अभिनय-मात्र ही था। उसके साथ बीते वे क्षण, वे घंटे, वे बातें... क्या सब मिथ्या थीं। स्वप्न-मात्र थीं! यह सब सोचते कुमार इतना परेशान हो गया कि उसने अपनी चिर-संगिनी सिगरेट के द्वारा ही कुछ राहत पाने को जेब में हाथ डाला। पर दोनों ही जेबों में आज एक भी सिगरेट न थी।

अभी वह सामने की पान-सिगरेट की दुकान की ओर बढ़ने ही वाला था कि सामने से सविता आती दिखाई पड़ी। कुमार का रास्ता रोक कर खड़े होते हुए उसने कहा–"मैं जानती हूँ, तुम मुझे कैसा समझ रहे होंगे, कुमार। मैं परिस्थितियों से मजबूर थी। गरीबी को हमेशा के लिए जीवन की सहचरी बनाना मुझे कोई आदर्श नहीं लगा। बैल या गधे की तरह जिन्दगी का बोझ ढोने में भी मुझे कोई अक्लमंदी नहीं दिखाई पड़ी। इसी लिए मैंने खूब सोच-समझ कर यह क़दम उठाया। वे जरा ऊपर किसीसे मिलने गए हैं, इसलिए मैं तुमसे दो बातें करने चली आई। लेकिन देखती हूँ कि तुम..."

कुमार का पथराया चेहरा देख कर अपनी बात कहते-कहते सविता सहसा रुक गई। फिर कुछ हतप्रभ होकर बोली–"मेरी बातें सुन तो रहे हो न, कुमार? इतने दिनों बाद मुझे देखकर क्या तुम्हें, कोई खुशी नहीं हुई? कुछ तो मुँह से बोलो। और कुछ नहीं, तो मुझे बुरा-भला ही कहो। यही कहो कि मैंने ग़ल्ती की है या तुम्हारे साथ विश्वासघात किया पर कुछ तो कहो।"

परन्तु कुमार कुछ न बोला। ज्यों-का-त्यों अचल खड़ा रहा। उसका चेहरा और भी कठोर हो गया था। उसकी आँखों का भयावनापन सविता को अब और उसकी ओर देखने से जैसे रोक रहा था। अनायास उसकी आँखें झुक गईं। सधी हुई आवाज में उसने कहा–"और तुम समझते हो कि मैंने जो-कुछ किया, अच्छा नहीं किया तुम्हारे और अपने दोनों के लिए, तब भी मेरी ग़ल्ती के लिए अपनी जिन्दगी बरबाद न करो। मेरा तुमसे यही आख़िरी अनुरोध है कि अपनी पसन्द की किसी भली लड़की से शादी कर लो और सुख से रहो। कभी खर्च-वर्च की जरूरत पड़े, तो मैं तुमसे दूर नहीं हूँ। मुझे ग़लत मत समझना, कुमार!" यह कहते-कहते सविता का गला भर आया और उसकी आँखें झुक गईं। पर इस बार भी कुमार कुछ न बोला! ज्यों ही सविता ने अपनी आँखें ऊपर उठाईं, उसने देखा कि पता नहीं कब कुमार वहाँ से चला गया था। बड़ी अधीरता से उसने इधर-उधर नजर घुमाई, पर कहीं भी वह दिखाई नहीं दिया। उसकी आँखों के आगे अंधेरा-सा छा गया और अगर वह पास के खंभे का सहारा न ले लेती, तो शायद गिर ही पड़ती।

किसीके स्पर्श से जब उसकी तन्द्रा भंग हुई, तो उसने देखा कि पति उसका हाथ थामे कह रहा है–"क्या हुआ? फिर चक्कर आ गया न? मैंने तुम्हें कितनी बार समझाया कि यों वक्त-बेवक्त अकेली गाड़ी से बाहर न निकला करो। अब तुम्हें आठवाँ महीना जो चल रहा है। यह समय बड़ा नाजुक होता है। व्यर्थ जोखिम मोल लेने से फ़ायदा?"

सविता कुछ नहीं बोली। एक क्षण पति के व्यग्र चेहरे की ओर देखा और उसके कंधे का सहारा लेकर मोटर की तरफ़ चल पड़ी। ● ●





दलाल आर्ट स्टुडिओ

की

अमूल्य भेंट



शृंगार नायिका

सांस्कृतिक जीवन की श्रेष्ठ धरोहर

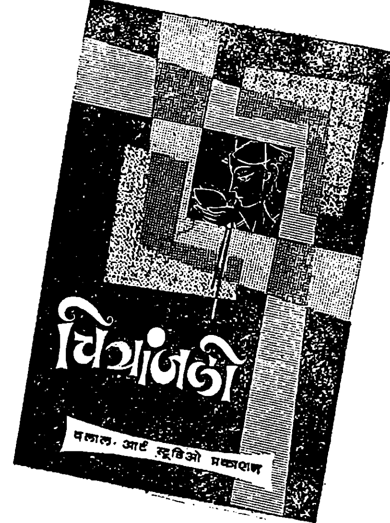
- आकार १०" × १३"
- जिल्द घना पुट्ठा
- ६० से अधिक रंगीन चित्र
- हिंदी का श्रेष्ठ ग्रंथ
- पृष्ठ ८४
- मुहरदार कागज
- १० ऑफसेट चित्र
- मूल्य रु० १२·५० + १ रु० पो०

और जिसकी प्रतीक्षा आपको थी—

अब प्रकाशित हो चुकी है

चित्रांजली

(मराठी भाषा में)



• आकार क्राउन • पृष्ठ १०० से अधिक • मुहरदार कागज • जिल्द घना पुट्ठा • अनेक रेखाकृतियाँ • बारह रंगीन चित्र • प्रत्येक चित्रपर सुललित मराठी में भाष्य • मूल्य रु. ७·५० + १ रु. र. पो.

— आज ही मँगाअिये —

अेकमात्र विक्रेता : अ. अं. कुळकर्णी, कॉन्टिनेन्टल प्रकाशन, टिळक रोड, पूना २







उत्तरायण की प्रतीक्षा

—अनिलकुमार

तुम्हारे पत्र का दुख
बबूल के कांटे-सा धँस गया,
घावों की सीयन
उधड़ गयी
मेरे।
वह निकला
उजला,
बेरंग, पतला खून,
जो अब निखालिस पानी—
आँसू है।
छले गये तुम किसी स्त्रैण-पुरुष से।

गोपियों को तुमने बहुत छकाया
सुनता हूँ,
सिर भी झुकाया तुमने आद्या को
जाने या अनजाने,
छलनामयी की तुमको छलने की
माया
गल गयी होगी
तुम्हारे प्रमाण की आँच से
और उसने किसी ऐसे स्त्रैण को
चुना होगा,
जिसमें समाकर तुम्हें वह छल सके,
जब तुम ग़ाफ़िल रहो,
नितांत व्यथाभाव से
अपनी गृहिणी-प्रिया के दुःखों में
डूबे से।

न छले नारीत्व जिसे कभी,
न दले पौरुष जिसे कहीं,
उस भीष्म को
चरितार्थ के महाभारत में
चुभन की वीरोचित शैया पर
स्त्रैण-शिखंडी द्वारा आहत
कब तक
करनी होगी प्रतीक्षा
उत्तरायण की ?
पितामह !
तुम्हारी प्यास क्या मिटा पायेंगे
दुर्योधन, दुःशासन ?
वह पानी,
जिससे मिटती है पिपासा
कुरुक्षेत्र में लेटे हुए वीर-मरण के—आकांक्षी

योद्धा की।
कहाँ से लायेंगे पानी वह
अंधे युग के काने कौरव यह
पार्थ-पत्नी को हेरते
जिनका उतर गया पानी खुद।
लो बंधु,
शृगालों की भीड़ भरे जीवन-कुरुक्षेत्र की
इस कठिन चट्टान में
बीज-मंत्र से अभिमंत्रित तीर संधानता हूँ
पार्थ मैं।
पानी लायेगा तीर, घुसकर पाताल तक,
मिटेगी प्यास
शरासन पर सोये योद्धा की।

समझो
दहा हूँ मैं भी।
हाँ, नारी देहधारी किसी पुरुष ही से
गया हूँ छला,
चरित्रार्थ के संग्राम में !
वज्र बनकर निकला हूँ
तुषानल से !
मेरी आराधना से प्रसन्न आद्या ने
सिर की बलि ले ली मेरे ही,
झुका था जो सहज ही
भक्ति-भारानत
प्रणाम-हित !
शिखंडी के प्रहार से वज्र के मुंड
कटते नहीं !
किन्तु यह कैसी परम्परा चलती चली आ रही
महाभारत से भारत में,
कि जो सीधे-सीधे मरे नहीं,
किसी भी संघात से डरे नहीं,
उसके खातिर
गढ़ती है आद्या कभी किसी पुरुष को,
जिसके भीतर बैठा नारीत्व वार करे
विष सींचे फूलों के—
संखिया घुले नवनीत के !
उसके खातिर
गढ़ती है आद्या कभी किसी नारी को,
जिसके भीतर बैठा पुरुषत्व वार करे
कागज़ी षड्यंत्रों के ! !

इसीलिए शिखंडियों से आहत
हम
स्त्रैणों से मर्माहत,
हमारा
विगत है रक्तस्नात !
किन्तु भेद पाताली चट्टानें
हमको तो सलिल मिला
वही तो संबल है।
शरासन पर लेटे अब
कर सकते हैं, सतत प्रतीक्षा हम
अपने युग की !
शीघ्र अपेक्षित उत्तरायण की' !!

अनुक्रमणिका





...और वह कानों को हिलाते, नाक से हवा निकालते हुए असीम पानी के प्रवाह को काटते हुए आगे बढ़ने लगा ......

...साँड का खून से भरा सिर बबुल के तनेसे टकरा रहा था ... खून के फव्वारों के साथ-साथ तने की धज्जियाँ भी उड़ रही थीं।

मुकाबला

म. गो. पाठक

म. गो. पाठक :

अिनी-गिनी रचनाअें लिखकर भी मराठी साहित्यमें प्रसिद्ध बने हुअे लेखकोंमें से आप अेक हैं। ग्रामीण जीवन तथा सृष्टि-वर्णन का सूक्ष्म चित्रांकन आपकी विशेषता है। आप अधिकतर खास मराठी 'दीपावली' के लिये ही लिखा करते हैं!

आप एक सफल सिने-दिग्दर्शक भी हैं। अिस वर्ष पहली बार आपकी रचना दीपावली के पाठकोंके सामने रख रहे हैं।

"छम्-छम्-छम्-छम्" वर्षा की बूँदें गिर रही थीं। आसमान घिरा-सा था। समय का अंदाजा लगाना मुश्किल था। भीगे नीम-बबूल के पेड़ मानो सुख में डूबे हुए थे। जंगलों में बालिश्तभर पौधे सर उठाये हुए थे। जगह-जगह झाड़-झंखाड़ उगे थे। कम्बख़्त हरियाली जहाँ-तहाँ मनमाना कालीन बिछाये जा रही थी। हरे रंग की विविध छटाएँ चारों ओर बिखरी हुई थीं। पलपल में वे छटाएँ और भी गहरी हुई जा रही थीं। वह धुँधला वातावरण मानों अपनी तूलिका से उस हरित सुंदरता को जाने-अनजाने स्पर्श किये जा रहा था। हर एक वस्तु अंधकार में धीरे-धीरे लुप्त हो रही थी। सारा संसार अंधकार की गोदमें छिप जानेके लिए मानों उत्सुक हो रहा था। पर वे झूमते बादल उसे रोक रहे थे। दिन कितना बाक़ी था इसका अनुमान लगाना मुश्किल हो रहा था। और वर्षाकी बूँदें गिर रही थीं।

डाक़ का थैला पीठपर लादे कोंडो बलवंत भागे जा रहा था। वह अपने जूते एक हाथ में हुए था। उसने धोती के छोर को ऊपर उठाकर कमर में खोंसा था। डाक़ के थैले को उसने अपने साफ़ेमें लपेट दिया था। ऊँचे क़द का वह आदमी लंबी-लंबी टांगें फेंकता चला जा रहा था। पगडंडी पर जगह-जगह पानी जमा था। वहाँ फिसलन थी, पर कोंडो बलवंत का पैर फ़िसल नहीं रहा था। उसके पैर ठीक सख्त जमीं पर अैसे पड़ रहे थे कि उसके पैरोंके भी आँखें थीं।

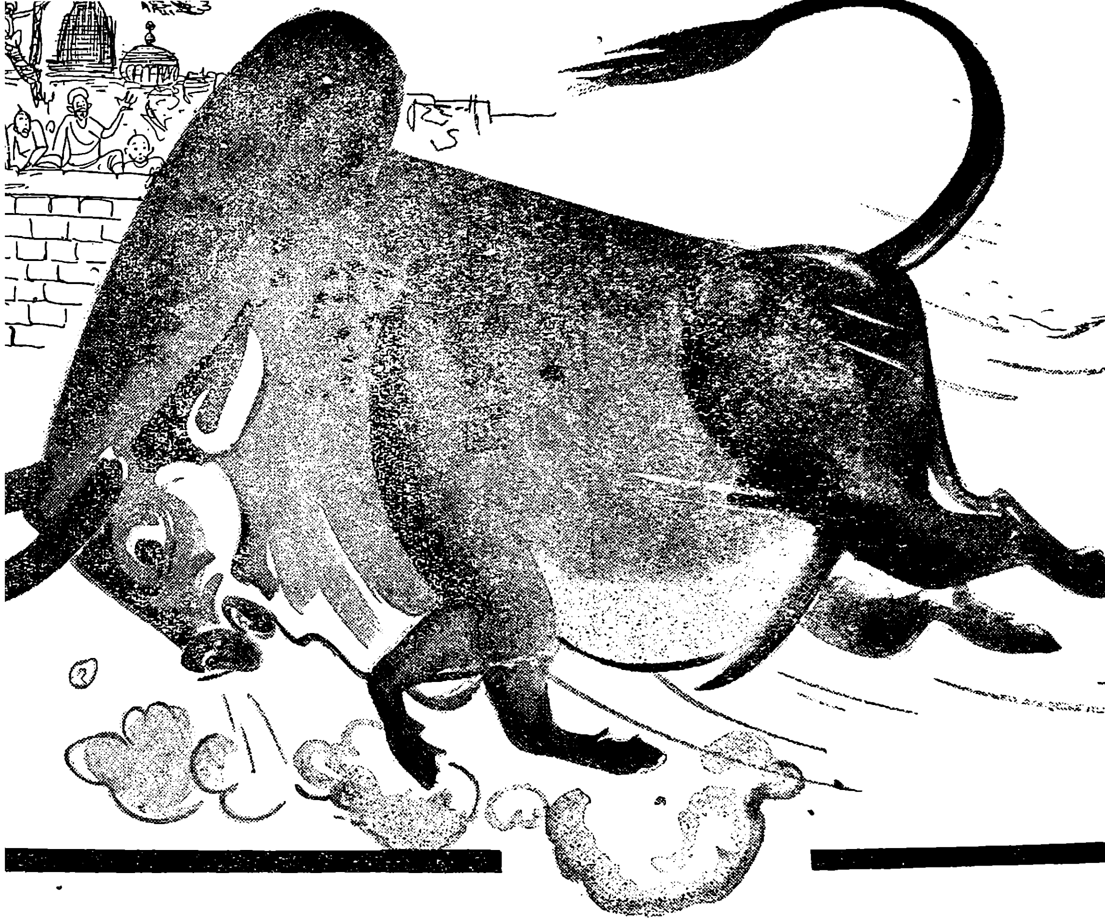
वालूज को बसेरे के लिए जाना था उसे अंधेरे के पहले। उसके थैले में चार सौ सोलह रुपये नक़द थे। ढ़ाई सौ रुपयोंका इन्शुअर्ड लिफ़ाफ़ा पांडू गुरव के नाम और कुछ अन्य फुटकर मनीऑर्डर्स के पैसे भी उसमें थे। अँधेरा होनेके पहले वालूज पहुँचकर वहाँके मुखिया के हाथ वह थैला सौंप दे तो अपनी ज़िम्मेदारीसे छुटकारा पा सकेगा। इसी उधेड़बुन में वह भागे चला जा रहा था।

हमेशा का रिवाज़ था कि सूरज ढलनेके आध घंटा पहले कोंडो बलवंत भोगावती नदी के पास तक आया करता था। भोगावती को पार किया नहीं कि उस किनारे पर वालूज गाँव था। पर मालूम नहीं आज हुआ क्या था? अँधेरा छायाही जा रहा था। और तबभी भोगावती दिख नहीं रही थी। कलमण गाँव में ही उसने सुना कि भोगावती में भयंकर बाढ़ आयी हुई है। उस गाँव में ठहरने के लिए वह राज़ी नहीं था। उसके सरपर आज चार सौ सोलह रुपयोंकी बड़ी ज़िम्मेदारी थी। कलमण के बदमाश 'पॅरोल' पर छूटकर आये हुए थे। उसके मतसे वह गाँव बड़ा ही नालायक़ था।

वर्षाकी बूँदें गिर रही थीं। कोंडो बलवंत कदम नापते चला जा रहा था। बीचही में अपनी गर्दन उठाये अंदाज़ लगाने की कोशिश कर रहा था कि भोगावती और कितने फ़ासलेपर है। उस धुँधले वातावरण में उसकी अभ्यस्त नज़र को धक्का लग रहा था। बार-बार सकुचाई आँखोंसे दूरी निहार रहा था। उसकी आदती नज़र बार-बार डोल रही थी। चार सालोंसे यह सोलह मील का चक्कर वह रोज काट रहा था तथापि वह आज पसोपेश में था। वह ठीक महसूस नहीं कर रहा था कि भोगावती से वह कितनी दूरीपर है। इतना ढ़ीठ पर पता नहीं उस निरस वातावरण ने उसपर कौनसा जादू किया था कि वह आज इतना सहमा हुआ था। निरुत्साही बना हुआ था वह! क्यों न हो?– चार सौ सोलह रुपयों की रक़म जो उसके कंधेपर थी। उसे मालूम था कि पाँच-छः आदमी भाला लिए घेर लें तो वह भला क्या कर सकता था। चुपचाप थैला उनके सम्मुख रखना यही तो एक रास्ता उसके पास बचा रहेगा। आसपास में कहीं बस्ती भी नहीं थी। जीभ तालूसे सटाये चिल्लाने पर भी कोई आ नहीं सकता था। इसीलिए अंधेरा होनेके के पहले वालूज पहुँचना ज़रूरी था। उस वर्षा को गाली देते हुए कोंडो बलवंत पाँवों से-चपूचपू-पानी उछाले दौड़े जा रहा था।

नदी की घोंऽऽ घोंऽऽ आवाज़ उसके कानोंमें आयी। उसका वेग मंद हो गया। ग़ौरसे उसने वह आवाज़ सुनी। ठीक था — भोगावती नदीके पानी की ही आवाज़ थी वह। वह आगे बढ़ने लगा त्यों-त्यों आवाज़ भी बढ़ने लगी। भोगावती की यह बाढ़ इसी सालकी नहीं थी। हरसाल यही क्रम था। उसके पानीकी बाढ़ का अंदाजा उसे था। भोगावती में बाढ़ आये भी तो पानी भला कितना चढ़ेगा? ज्याद

अनुक्रमणिका



से—ज्यादा कमरतक ही तो! और उससे भी ऊपर हो तो सीने की ऊँचाईतक। पर कोंडो बलवंत को अपनी ताक़त पर पूरा यक़ीन था। लँबे कद का वह कोंडो चार-पाँच बार तो भोगावती को बड़ी बाढ़ में भी पार कर चुका था। आज तक वह भोगावती उसको रोक न पायी थी। चाहे पानी नाथ के मंदिर तक चढ़ भी जाय कोंडो बलवंत उस पानी में निडर बने घुसा करता था और आत्मविश्वास के साथ भोगावती को पार करता था।

पानी की घोंऽऽ घोंऽऽ की आवाज़ क्षण-क्षण बढ़तीही जा रही थी और कोंडो बलवंत पानी के पास था। नदी का वह रौद्र रूप देखकर उसके पाँव ज़मीनपर जम-से गये। पानी पर्याप्त चढ़ चुका था। अपनी सीमा तोड़ जंगलमें भी पैठ रहा था। उस पार का नाथ का मंदिर दृष्टिगत् हो रहा था। मंदिर को आधेसे ज्यादा पानीमें डूबा देखकर वह सहम गया। उसने पीठ से थैला निकालकर पेटसे लगाये रखा और चारों ओर नज़र घुमा ली।

फोंऽऽफोंऽऽ आवाज़ करनेवाला वह लाल-मटमैला पानी उछलते-कूदते उन्मत्त बनकर बह रहा था। बबूल के पेड़ तथा अन्य तरह-तरह की झाड़ी पानी के हिलोरोंसे हिंडोले लिए बही जार ही थी। बिलकुल कमरतक की ऊँची लहरें जंगल में जोरोंसे घुस रही थीं। किसी बड़ी चट्टानसे टकराकर पानी दस-बारह फीट ऊँचाईतक उछल रहा था। मटमैले पानी की तीव्र गंध कोंडो बलवंत की नाकमें घुस रही थी।—और उस लोहपुरुष की हिम्मत पस्त हुई जा रही थी। भोगावती के उस कराल रूपको देखकर कोंडो बलवंत काँप गया। सामने वाळूज दिखायी दे रहा था। कलमण गाँव तीन कोस पीछे छूट गया था। पलमेंही उसे महसूस हुआ कि नदी तैरकर पार करना उसके बस की बात नहीं। ठीक उसी समय एक भला—चंगा लक्कड सामनेवाली चट्टानसे टकरा गया—और एकही धड़ाकेसे उस चट्टान की चारों ओर चक्कर काटकर फिरसे पानी के प्रवाहके साथ हो लिया। ठीक उसी लक्कड की तरह पानीमें घुसनेपर अपनी हालत होगी। किसी चट्टान से टकराकर शरीरके टुकड़े-टुकड़े हो जायेंगे और बादमें अपनी लाश किसी गाँवके किनारे लगेगी। थैलेके चार सौ सोलह रुपये कोई उड़ा ले जायेगा। पानी से गिली बनी नोटें धूपमें सुखाकर कोई धनी बन जायेगा।—इत्यादि अनेक बातें उसके दिमाग में चक्कर काटने लगीं।—और यदि वापस कलमण को लौटें तो जानबूझकर अपनी जान धोखेमें डालना होगा—क्यों कि वह जानता था कि वह गाँव नालायक़ है। फिर, क्या किया जाय? क्या भोगावती का पानी उतरनेकी राह देखूँ?

चार सालोंमें ऐसा कभी नहीं हुआ था। पर आज उसको भोगावतीनें परास्त कर दिया था

अनुक्रमणिका

कोंडो वल्वंत को एकही जगहपर जमे रहनेके लिए मजबूर किया था। धों ऽऽ धों ऽऽ फों ऽऽ फों ऽऽ की आवाज़से मानों भोगावती उसे चुनौती दे रही थी। अपनी अपार ताक़तपर हँस रही थी। उसको लजा रही थी। वर्षा की बूँदें गिर रही थीं। झूमती घटाओंने धोखा दिया था। दिन कितना बाक़ी था इसका तनिक भी पता नहीं लग रहा था।

उस मटियाले पानीको देखते हुए कुछ पल्चुप्पी साधे वह खड़ा रहा। उसके मनकी अस्वस्थता पलपल बढ़ी जा रही थी। बादमें उसने हाथोंमें पकड़े जूते नीचे रख दिये। खाक़ी कोटकी जेबसे तमाखू का बटुआ निकाला। डाक़ के थैले को एक पत्थर पर उसने रखा। चूनेकी डिबियामें उसने अंगूठा डाला और एक बड़ा-सा चूनेका गोला निकाल लिया। तमाखू हथेलीपर ज़ोर-ज़ोरसे मल कर उसे धीरेसे मुँहमें डाल लिया। तमाखू का रूपांतर धीरे-धीरे रसमें होने लगा। कोंडो बलवंतकी दृष्टी स्थिर हुई और वह भोगावती की तरफ़ टकटकी लगाये खड़ा रहा।

इस टकटकी ने उसके दिमाग को एक धड़ाका दिया और पता नहीं उसे क्या हुआ? उसकी आँखें चमकने लगीं। उसका साँवला चेहरा फूल गया। उसके शरीर का हर एक कण मानों फूलने लगा था। यकायक एक झटके से उसने अपना कोट निकाला और कमीज़ भी। धोती भी निकाल ली। फिर जूते, कोट और कमीज़ को अपनी धोतीसे उस थैलेपर कसकर बाँधा। वह बोझा अपने सरसे कसकर बाँध लिया और एक हाथ से भोगावती को रामराम करते वह पानीमें घुस पड़ा। अब वह सिर्फ़ लंगोटही पहने हुए था। एक-एक क़दम नापते-नापते वह बढ़ने लगा। निडरतासे भोगावती के उस उन्मत्त बने पानी को कुचलते-कुचलते वह आगे-आगे सरकने लगा। पानीमें गिरे हुए बबुल के काँटें उसके शरीर को नोच रहे थे। पानीमें डूबे पेड़-पौधे उसकी पिंडलिओंको स्पर्श कर रहे थे; मगर कोंडो बल्वंत को भला उनकी क्या परवाह? उसे एकही नशा चढ़ा हुआ था— भोगावती को पार करना। इसलिए तेज़ीसे वह चलनेकी कोशिश कर रहा था और इसी बीच उसके रास्तेमें आनेवाले पेड़-पौधोंको वह लताड़ते दूर फेंक देता और पानीके भीतर घुसता चला जा रहा था।

पानीके बहाव का ज़ोर वह तबतक नहीं जान सका जबतक मटमैला फेनिल जल उसके घुटनोंतक पहुँच नहीं पाया था। मगर जब वह बड़ाही वेगवान पानी उसके घुटनोंके ऊपर चढ़ने लगा तब उसके फौलाद के बने पाँव भी पानी की शक्तिको महसूस करने लगे। उस शक्तिशाली व्यक्तिको भी ऐसा महसूस हो रहा था कि मानों उसके पाँव खिसके जा रहे हैं।

वर्षा की बूँदें गिरती ही जा रही थीं। भोगावती का पानी अधिक जगह को व्यापता चला जा रहा था तो भी कोंडो बलवंत पूरी हिम्मत के साथ आगे बढ़ रहा था। वह भोगावती का लोहा थोड़ेही माननेवाला था। उसको पूरा अंदाज़ था। भोगावती भलेही ज़ोरोंका शोर करे वह उसकी गहराई को पूरा जाने हुए था। अब सवाल था पानी के प्रवाह की शक्ति का। पर वह अपने निश्चयमें पक्का था। अपनी असीम शक्ति के सहारे पल में ही वह नदी पार जानेवाला था।

पानी अब जाँघोंतक बढ़ आया था। अभी उसके पाँवोंने रेत को स्पर्श किया। शायद उसके ध्यानमें यह बात गयी भी नहीं थी। उन्मत्त बने हुए उसके दिमाग़में यह बात घुस भी न सकी थी। अब कहीं वह नदी की मूल धारा में उतर रहा था। यहीं जाँघतक पानी है तो नदी के बीचमें नौ-दस फीट पानी क्यों न हो! कोंडो बलवंतका पानी के बारेमें जो अंदाज़ था, वह सारा ग़लत निकला। उसने सोचा था कि पानी हो भी तो वह छाती तक होगा; लेकिन आज भोगावती ने उसको चकमा दिया था। फिर भी वह वापसी के लिए तैयार नहीं था। उसका ज़िद्दी मन उसे आगे-आगे ठेलता जा रहा था। नीचेकी रेत खिसकी जा रही थी। कभी-कभी वह लड़खड़ा जाता था। सरपर रखे हुए बोझको संभालता हुआ वह बड़ी सतर्कता से क़दम बढ़ा रहा था।

कुछही क्षणोंमें पानी कमर तक आया। कोंडो बलवंत अपनेको संभाल न सका। लहरों के टकरानेसे वह हैरान हुआ जा रहा था। एक पलभर वह सोचने लगा — क्या मैं जमीनको छोड दूँ और तैरते जाऊँ?... मगर नहीं, पानी का वह वेगवान प्रवाह उसे वैसा करनेसे रोक रहा था। उसको अब जँचा... मेरे पाँव ज़मीनसे अलग हुए नहीं कि मैं गोता खाते कहाँ जा गिरूँगा इसका कोई ठिकाना नहीं। नदीकी चट्टानोंका अंदाज़ा उसे नहीं था। इसीलिए किसीसे कभी भी वह टकरा सकता था और नौ-दस फीट गहराई के पानीमें तैरे बग़ैर वह भला कैसे जा सकता था! सरकार की ज़िम्मेदारी को पूरी तरहसे सँभाले हुए, थैलेके कागज़ात भिगाये बिना उसे जाना हो तो तैरना ही लाज़मी था। और चार सौ सोलह रुपये याने लगभग सात-आठ महीनोंका उसका वेतन जो ठहरा!!

अब पानी सीनेतक आ चुका था। पानी के प्रवाह का जोर पल-पल बढ़ रहा था। उस मटमैले पानीकी तीव्र गंधने उसके नाकों दम कर दिया। उसके मुँह और नाकमें वह मटमैला पानी घुस रहा था। उसकी रुचि भी उस मटमैले पानी की तरह बनी हुई थी। आसमान से वर्षा की बूँदें गिर रहीं थीं। भोगावती का पानी बढ़ता जा रहा था। उसका पानी की गहराई का अंदाज़ा आज बिलकुल ग़लत साबित हो चुका था। उसकी अपेक्षा से बहुतही ज्यादा पानी चढ़ा हुआ था। अब उसके सामने एकही रास्ता था। एकही रास्तेपर वह कदम बढ़ा सकता था। लौट जाना! और बाढ़ का पानी उतरने तक तमाखू मुँहमें डाले किनारेपर जाकर चुपचाप बैठना।

कोंडो बलवंत एक पलभर के लिए रुका। पाँवोंको फैलाते, अपनेको सँभालते वह खड़ा रहा। उसके चौड़े सीनेको पानी के प्रवाहने धक्के मारना शुरू किया। भोगावती उसे ठेलने लगी। वह चाहती थी कि कोंडो बलवंत को औंधा गिरा दिया जाय; पर वह जमके खड़ा था। रेतमें पाँव गड़ाये वह खड़ा रहा। मगर अब उसे लौटना ज़रूरी था। लौटने के सिवा दूसरा रास्ता दिख नहीं रहा था। पानी के उतरनेतक उसी हालतमें खड़े रहनेका एक अज़ीब ख़याल उसके दिमाग़में पैदा हुआ। कोंडो जैसे ताक़तवर के लिए वह कोई असंभव नहीं था। मगर वह महसूस कर चुका था— भोगावती का पानी बढ़ता जा रहा है। पलपल पानी का प्रवाह भयंकर रूप धारण कर रहा था।

इतनेमें उसकी नज़र उस पार गयी। नाथके मंदिर की दीवारपर कुछ सात-आठ व्यक्ती खड़े थे। वे अपने हाथों को हिलाते हुए चिल्ला रहे थे। मगर उनकी चिल्लाहट उसके कानोंतक आये तब न! पानी के प्रवाह की अटूट कलकलाहट के बग़ैर दूसरी कोई भी आवाज़ उसके कानोंतक पहुँचने का साहस नहीं कर पायी थी। वालूज के उन व्यक्तियों के इशारोंसे वह इतनाही समझ पाया था कि कोंडो बलवंत लौटे। पानी उतरनेपर ही गाँवमें आये।

लेकिन वह तो वैसाही खड़ा रहा। उससे लौटा नहीं जा सका। भोगावती उसको चारों खाने चित करे, यह उसे पसन्द नहीं था। उसका ज़िद्दी मन बार-बार धक्का देते हुए उससे कह रहा था — आगे बढ़ो!

पानी चढ़ रहा था। कुछ ही क्षणों में उसके कंधोंतक वह आनेवाला था और...कोंडो बलवंत यकायक विवर्ण हो गया। सचमुच भोगावती ने आज उसे चारों खाने चित किया था। आज ऐसी अज़ीब बात हो रही थी जो पिछले चार सालोंमें कभी नहीं हुई थी। कोंडो बलवंत पूरी तरहसे हारा था। धीरे से वह मुड़ा। रेतमें पाँव गड़ाये वह लौटा। कदम-कदम वह पीछे हटने लगा। उसके ज़िद्दी मनको यह बरदाश्त नहीं हो रहा था। वह परेशान था और अनजाने वह लड़खड़ा रहा था मानों उसका सारा बल हमेशा के लिए निकल गया हो। बड़ी मुश्किल से अपनेको सँभालता हुआ वह पीछे हटा जा रहा था।

कोंडो बलवंत निराश हुआ। जिस फूर्तिसे वह पानीमें घुस पड़ा था उसके दसगुनी [illegible] के लिए वह पीछे आ रहा था। वर्षा की बूँदें गिर रही थीं और मुँह छोटा बनाये कोंडो

बलवंत उस विकाल पानी की तरफ़ पीठ किये लौट रहा था।

कुछ ही कदम पानी को लाँघकर वह इस पार आया ही था कि सामनेका दृश्य देखकर वह अवाक् रह गया। उसके पाँव भी रुक गये। वालूज के नाथ के नाम अर्पित किया हुआ वह हट्टाकट्टा साँड अपने सामने के दो पगोंसे कीचड़ उछालते खड़ा था। भोगावती का पानी बढ़ने के पहलेही वह शायद इस पार आ चुका था। शायद भोगावती का वह असीम पानी देखकर वह चिढ़ गया था। सामनेके खुरोंसे कीचड़ उछालते गरज रहा था। यह साँड आसपासके गाँवमें मशहूर था अपने हट्टेकट्टेपन के लिए। अपने पैने सिंगोंसे उसने आजतक अनेक आदमियोंको उस तहसील के दवाखाने में आपरेशन कराने के लिए भिजवा दिया था। अनेक बैलों को उसने खूनसे लथपथ कर दिया था। सिर्फ़ नामज्या पुजारी के बग़ैर किसीका भी बस उसपर नहीं चलता था। उसकी गर्जना कोंडो बलवंत के कानोंपर पहुँची नहीं कि वह उसी जगहपर सीनेतक के पानीमें खड़ा रहा। जब उस साँड़ ने पानीकी घोंऽ घोंऽ आवाज़ से भी तेज़ आवाज में गर्जना की तब कोंडो डर गया!... "किनारेपर जाऊँ तो यह साँड़ मुझे सिंगोंपर लेगा और ज़मीनपर जरूर पटक देगा...और यदि पानीमें उसी हालतमें रहूँ भी तो भला कैसे?... वह पलपल बढ़ जो रहा था।"... कोंडो बलवंत के सामने विकट समस्या खड़ी थी और वह सोच रहा था कि अब किया भी क्या जाय? कोंडो यह सोचही रहा कि वह महाकाय जानवर अपनी पूँछ हवामें ऊपर उड़ाये पानीमें घुस गया और उसकी तरफ़ झपटने लगा। कोंडो बलवंत फौलाद का बना था फिर भी थरथर काँपने लगा।

आनन-फानन में वह महाकाय जानवर उसके बिलकुल नज़दीक आ गया था। अपनी नाककी हवा के द्वारा पानी के तुषार उछालते वह पास आने लगा। अपनी पूँछ के झब्बे को ऊपर उड़ाते, पीठ की कमानी किये, गोलाकार ककुद को दायीं-बायीं ओर हिलाते वह साँड कोंडो बलवंत के बिलकुल पास आया। पलभर उसकी आँखें चौंधिया गयीं और जरासा विचार करनेके लिए कोंडो को मौक़ा मिलाही नहीं कि साँड ने कोंडोको झपटकर पानी से बाहर निकाला और हवामें फेंक दिया। हवा में ही एक चक्कर खाकर कोंडो बलवंत सीधे उस बैलके मुहांपर गिर पड़ा। ऐसी हालत में भी वह घुटनोंके बल बैठा और साँड कोंडो बलवंतके बोझ के कारण तुरन्त नीचे बैठ गया। कोंडो बलवंत झटसे खिसका। और बड़ी चालाकी से उसने उस उन्मत्त बने साँड की पूँछ को पकड़ा। पूँछ की इस पकड़ के कारण वह महाकाय साँड चिढ़ उठा। गरजते हुए वह तीन बार अपनेही शरीरके चारों ओर घुमा। पर कोंडो बलवंतने अपनी पकड़ ज़राभी ढीली नहीं की। वह भी उस जानवर के साथ-साथ चारों ओर घुमा। अब तो साँड और भी चिढ़ गया। जोरोंसे तीन-चार बार वह गरजा। तो भी कोंडो बलवंत पूँछ छोड़नेका नाम नहीं ले रहा था। यह देखकर और चिढ़कर बैल ने छलाँग मारी और पूरी ताक़तके साथ वह पानी में लपका और देखते-देखते पानी में तैरने लगा। अपनी ताक़तसे वह बैल उस बढ़ते पानी के प्रवाह की परवाह किए बग़ैर नाथ के मंदिरकी तरफ जाने लगा। पूँछ हिलाकर कोंडो बलवंत की पकड़ को ढीला करनेकी कोशिश वह बार-बार कर रहा था, पर कोंडो बलवंत ने तो उसको छठीके दूधकी याद दिलवा दी। अपनी उंगलियों से उसने उसकी पूँछ को इतना मज़बूत पकड़ रखा था कि किसीको भी वह छुड़ाना मुश्किल था।

वर्षा की बूँदें गिर रहीं थी और कोंडो बलवंत उस साँड की पूँछ पकड़े भोगावती को पार किये चला जा रहा था। अब तंग आकर साँड ने पूँछकी पकड़ को छुड़ाने की कोशिश छोड़ दी थी और कोंडो बलवंत बड़े गर्व के साथ भोगावती की तरफ़ जीत की भावना चेहरेपर दिखाते हुए साँड़ के पीछे-पीछे बड़े ठाटसे तैरता जा रहा था। आज भी वह भोगावतीको चारों खाने चित करने में सफ़ल हुआ था।

वह महाक्रूर साँड़ अपनी असीम ताक़तसे कोंडो बलवंतका वह शरीर नदी के पार कर रहा था। ऐसी भयंकर हालतमें भी कोंडो बलवंत यह सोचने लगा कि साँड को ज़रा बताये — "अरे बेटे, ज़रा रुको भी; सरपर रखे हुए गठ्ठे से तमाखूका बटुआ ज़रा निकाल कर थोड़ी सी तमाखू मुँहमें डाल लूँ और फिर तुम आगे बढ़ो तो अच्छा होगा।" — पर इतनेमें उस साँडने एक भयंकर गर्जना की। वह कानोंको हिलाते तथा नाकसे हवा निकालते हुए उस असीम पानीके प्रवाह को काटते हुए आगे बढ़ने लगा।

नाथ के मंदिर से दस-बारह फ़ीट की दूरीपर आनेपर कोंडो बलवंत ने लोगों की चिल्लाहट सुनी। बड़े ग़ौर से उसने उसे सुना......

"कोंडिबा, बैलको छोड़ो भी... ऊपर आओगे तो वह तुम्हारा खून पी लेगा... अरे, पूँछ छोड़ तो दो ..."

लोगोंका यह कहना ठीक ही था। कोंडो बलवंत को आश्चर्य हुआ कि वह बात अबतक उसके ध्यान में क्योंकर नहीं आयी? पाँवों को ढीला करके देखा। अबतक उसके पाँव ज़मीनसे सट नहीं रहे थे। वह बैल सोंऽसोंऽ करते तैरता जा रहा था। उसके ककुद का बड़ा मनोहारी स्पंदन हो रहा था। कोंडो बलवंत ने तय किया कि उसके पाँव जमीनसे सटे नहीं कि वह पूँछ छोड़ देगा। लेकिन अब पानीमें पाँवोंको हिलाते हुए वह साँडके पीछे-पीछे जा रहा था।

"कोंडिबा, साँड को छोड़ दो। किनारेपर आ जाओगे तो वह तुम्हें बूरी तरहसे कुचल देगा। तुम्हारे सीनेपर वह नाचेगा!"

नाथ के मंदिर की दीवारसे चिल्लाहटें स्पष्ट सुनायी दे रही थीं। कोंडो बलवंतको अबयक़ीन हो गया कि अब मैं किनारे पर जाऊँ तो साँड मुझे जरूर कुचल देगा। बिलकुल उसी तरह जैसे कुम्हार कीचड़ तुड़वाता है। – मगर पाँवोंको तो आधार मिलही नहीं रहा था — अब करूँ भी तो क्या करूँ? कुछ सूझ नहीं रहा था। इतनेमें उसने एक बबूल का पेड़ पानीमें खड़ा पाया। किनारे का ही था वह पेड़। मगर पाँच-छः फीटतक पानीमें डूब गया था। पेड़के पास आते ही उसने साँडकी पूँछ छोड़ दी और बबुल की आड़ी ड़ाली को ज़ोरसे पकड़ लिया। एक निमिषको वह उन्मत्त साँड मंदिर की दीवारके पास गया और कोंडो बलवंत उस आड़ी डालीपर सवार हुआ।

किनारेपर खड़े आदमियोंमें साँड को देखकर डर के मारे भगदड़ मच गयी। सिर्फ मंदिर की दीवारपर खड़े-खड़े उन लोगों ने चिल्लाहट की — "कोंडिबा, साँड के जानेतक नीचे मत उतरो–साँड मस्त बना हुआ है; तुम्हारा कचुमर निकाल देगा।"

साँड मंदिर की दीवार के पास पहुँचतेही पीछे की ओर मुड़ा और एक बार कोंडो बलवंत की तरफ नज़र डालकर उसने अपने दो खुरोंसे कीचड़ उछालना शुरू किया।–और बार-बार कानोंके परदोंको फाड़ देनेवाली गर्जना करने लगा।

मगर कोंडो बलवंत को किसीकी फिक्र नहीं थी। बबूल की आड़ी डालीपर जमकर बैठे उसने पहले से ही तमाखू मलने को आरंभ किया था। वहाँ उस तरफ साँड अपने सामने के खुरोंसे कीचड़ उछाल रहा था और गर्जना किये जा रहा था। वर्षा की बूँदें गिर रही थीं। काले बादलोंने मानों आसमानको पूरी तरह से घेर लिया था। दिन के अब कितने प्रहर बाकी हैं यह जानना मुश्किल था।

यकायक, पता नहीं क्या हुआ?–वह मस्त साँड अपनी पूँछ को ऊपर उठाये पानी में फिर घुस गया और उस बबुल की तरफ लपका। पानी में तैरते-तैरते उस बबूल के पेड़ को धक्का देने लगा। एक धक्के से डाली पानी में घुसती। ऊपर आनेपर फिर एक बार वह उसे धक्का देता। कोंडो बलवंत तमाखू मुँहमें डाले उस साँड की तरफ देखता रहा। मंदिर की दीवापर बड़ा शोर मच गया। भगदड़में शामिल आदमी अब मकानोंके छज्जोंपर खड़े देखने लगे थे और वहींसे कोंडो बलवंत को धीरज बँधा रहे थे।

भोगावती का पानी जिस तेजीसे बढ़ा था उसी तेजीसे अब वह उतरने लगा था। जैसे पानी कम होने लगा, वैसेही लोगोंका शोर बढ़ने लगा। वह उन्मत्त जानवर और बिथका। अब वह अच्छी तरह जमीनपर पाँव रख सकता था। इसलिए और जोरसे वह उस पेड़को धक्का दे रहा था।

देखते-देखते भोगावती का पाट अपना मूल आकार ले चुका था। जिस बबूल के पेड़ पर कोंडो बलवंत बैठा हुआ था उसके पास अब पानी का नामोनिशान तक न रहा। वह साँड पीछे हटते हुए, उस बबूलके पेड़को धक्के लगा रहा था। अपना मस्तक उस बबूल के तनेसे बार-बार पूरी शक्ति लगाकर टकराये जा रहा था मानों उसकी आँखोंमें खून उतर आया हो। कोंडो बलवंतको लगातार धक्के लग रहे थे। अपने दोनों हाथोंसे डालीको मजबूती से वह पकड़े हुए था और सहमी आँखोंसे उस उन्मत्त जानवरकी तरफ देखा रहा था। बबूल की जड़ पानीसे गीला हो जानेके कारण अब सचमुच हिल रही थी।...प्रत्येक धक्केसे कोंडो बलवंत अपने-आपको संभाल नहीं पा रहा था। किसी भी समय वह पेड़ गिर सकता था।

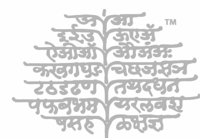
सारा गाँव चिल्ला रहा था। उनमेंसे आठ–दस आदमियोंने रस्सी फेंककर कोंडो बलवंत को

अनुक्रमणिका


मराठीचा विकास: महाराष्ट्राचा विकास



अनुक्रमणिका





बचानेका इरादा किया तो था, मगर वह करने को आगे कोई बढ़े तब न! रस्सी का वह फाँसा चूक जाय तो वह उन्मत्त जानवर कोंडिबा के साथ और तीन-चार आदमियोंका चकनाचूर किये बगैर नहीं रहेगा–इस डरसे फाँसा फेंकनेकी बात, बात ही रह गयी। गाँवके लोग चिल्लाते ही रह गये।

धाड़... धाड़... धाड़। वह उन्मत्त साँड धक्के दे रहा था और बबूलके तनेकी धज्जियाँ उड़ रही थीं। साँड का सारा मुँह अब खून से लथपथ हो गया। बबूल की निकलनेवाली धज्जियाँ ऐसी लाल थीं मानों खून से वे सराबोर हों।

फिर एक बार कोंडो बलवंत की हिम्मत पस्त हो गयी। सरकारी माल तो अबतक सुरक्षित रहा था। चार सौ सोलह की वह रक़म अब वालूजमें पहुँच गयी थी। वालूजके वासी भले थे। जिनके नाम वे पैसे थे उन्हें निःसंशय पहुँच सकते थे... मगर अब उसे अपनीही जान की चिंता लगी थी। साक्षात् मौत ही उसके सम्मुख खड़ी थी। बबूल के टूटते ही... वह साँड उसे अपने पैने सिंगोंपर लेकर चारों ओर हवामें घुमाकर ज़मीनपर ज़ोरोंसे पटक देनेवाला था। वह उसकी देहपर नृत्य करनेवाला था। उसके रक्त-मांस का कीचड़ बनाकर उसको रौंदनेवाला था वह साँड...

धाड़-धाड़-धाड़!! साँड का खून से भरा सिर बबूलके तनेसे टकरा रहा था... खून के फौव्वारोंके साथ-साथ तने की धज्जियाँ भी उड़ रही थीं। पेड़ अब जड़से हिलने लगा था। कोंडो बलवंत के सारे उपाय अब बेकार बन रहे थे। उसका खात्मा ही अब बाक़ी था। ग्रामवासी अफ़सोस कर रहे थे। औरतें पछता रही थीं, मगर वह साँड़ किसीकी सुननेवाला नहीं था। बबूल के गिरते ही वह कोंडो बलवंत को अपने सिंगोंपर उठा लेनेवाला था...और चारों ओर हवामें घुमाकर......

अपने सारे उपाय बेकार होनेपर जो कुछ साधारण आदमी करता है वही कोंडो बलवंत ने किया। नाथ के मंदिर की तरफ मुँह करके हाथ जोड़कर उसने नाथबाबा से प्रार्थना की, "नाथबाबा, मेरी भूल हुई... तुम्हारे साँड को मैंने अपना वाहन बनाया... माफ़ करो मुझे... मुझसे भूल हुई... अब हर मेले के अवसर पर मैं झूल भेंट करूँगा तुम्हारे साँड को... नाथबाबा मुझे माफ़ करो..."

और अेक दो - धक्के देकर साँड रुक गया। गर्दन उठाये वह कोंडो बलवंत की तरफ टकटकी लगाये देखने लगा। यह कहना कठिन था कि नाथबाबा ने उसे रोका या वह खुद थककर रुक गया। कान खड़े कर उस साँडने एक बार अपनी गर्दन हिला दी। कोंडो बलवंतने दिल से उसे प्रणाम किया। साँडने फिरसे गर्दन हिलाई और तुरंत मुड़कर गर्दन को झटकाये वह चलने लगा। नदी के किनारे के मार्ग से वह दूर चला गया।

मंदिर से लोग एकाएक चिल्ला उठे— "नाथबाबा की ही मेहरबानी!"

सारा गाँव उस जगहपर दौड़ आया। कोंडो बलवंत को उन्होंने कंधोंपर उठा लिया... और नाचते-कूदते उसे गाँव में ले गये।

अब वर्षा थम गयी थी। संध्याके समय आसमान थोड़ासा साफ़ हो रहा था। पश्चिम क्षितिज में डूबनेवाले सूरज की अंतिम किरणें एक पलभर मेघोंपर पीलापन बिखराये अब लुप्त हुई थीं। सूर्लपीले रंग ने सारे वातावरण को व्याप दिया था। सारा वातावरण उस संधिप्रकाश में प्रसन्न-सा था ...... शांत-शांत था और भोगावती मंद गतिसे बह रही थी।

• •

अनु. : अॅन्थोनी डीसोझा

रात और दुहरी जिन्दगी

—श्याम सुंदर घोष

लैम्प पोस्ट के नीचे
नंगी खड़ी है रात
इशारे करती है, सीटियाँ बजाती है।

शाम से हर उधर की राह बंद हो जाती है,
इक्के-दुक्के लोग गुज़रते हैं,
उलझने की कोशिशें होने पर
बचकर नाक की सीध चले जाते हैं,
क्योंकि कोई फ़ुर्सत में प्रायः नहीं होता।

दिन के उजाले में
सब कुछ निहायत भला लगता है,
साड़ी का पल्लू कंधे से खिसकता नहीं,
पिंडलियाँ साँचे से बाहर नहीं झाँकतीं,
आँखें अश्लील इशारे नहीं करतीं,
कूल्हे आवेग से स्पन्दित नहीं होते।

प्रभु, यह सब क्या है
ऐसी दुहरी ज़िन्दगी इस कच्ची उम्र में,
(माफ़ करना!)
एकदम अच्छी नहीं लगती!!



तैमूर की मौत

...और तैमूर गरज उठा — "लाओ उस कमीनेको ज़िन्दा मेरे सामने। उसकी खाल खिंचवा दूँगा। ज़िन्दा ज़मीन में गाड़ दूँगा। बोटी बोटी नुचवा डालूँगा" बेचारा दाऊद ज़मीन पर लुढ़क पड़ा, उसकी आँखें पथरा गईं और वह अंतिम सांस लेने लगा—

ह रि द त्त भ ट्ट शै ले श

समरकन्द में यह अफ़वाह बड़े जोरशोर से फैल रही थी कि तैमूर हिन्दुस्तान से लौट रहा है—मीलों लम्बे काफिले के साथ लाखों-करोडों की धनदौलत, बेहतरीन बेश क़ीमती हीरेमोती, हज़ारों हुनरमन्द, सैकड़ों हुस्न की परियां मतलब यह कि सारे हिन्दुस्तान को लेकर, पूरे दलबल के साथ। लोग इन चीज़ों को देखने के लिए लालायित हो रहे थे, इस खबर से फूले न समा रहे थे परन्तु तैमूर की दिलरुबा बीबीखुनम के गुलाबी चेहरे पर दुख और दुश्चिन्ता की पर्तें फैल गई थीं। उसका दिल तिल-तिलकर गल रहा था, प्राणपखेरू फड़फड़ा रहे थे, खाना पीना सब हराम हो गया था। अब क्या होगा इसी उधेड़बुन में घुटघुटकर सासें सिसक रही थीं।

बीबी खुनम तैमूर की सबसे प्यारी और जवान बेगम थी। वह थी भी जन्नत की हूर और जहाँ की नूर। उसके अंग-अंग में विधाता ने दुनिया भर की खूबसूरती बटोर बटोर कर भर दी थी और स्वर में ऐसी मिठास, ऐसा रस, ऐसा आकर्षण कि उसकी गुनगुनाहट से ही सब मन्त्रमुग्ध हो जाते। आवाज़ में एक ऐसी गूंज कि सुनकर दिल में हमेशा एक गुदगुदी सी उठती रहे। बीस—बाईस की बीबी खुनम वास्तव में सौंदर्य की देवी और रूप की परी थी। उसके हुस्न की जगमगाहट, महकती मुस्कराहट, नर्म गालों की सलसलाहट मदहोश बना देने वाली



मस्ती, शर्मीली मासूम निगाहें, गोरी गोरी नाजुक बाहें—बस तीन लोक से न्यारी थी। ऐसा हुस्न का दरिया कि पीते जाइये पर प्यास जैसी की तैसी। तैमूर उसपर फिदा था। वह उसकी जिन्दगी की रोशनी और महल की शान थी। अपनी सैकड़ों बेगमों में से बीबी खुनम ही ऐसी थी, जिसको वह तहे दिल से प्यार करता था, जी—जान से चाहता था।

तैमूर को लोगों ने अत्याचारी "अट्टीला" का अवतार कहा। अनाचार, अत्याचार और उत्पीड़न का जीता—जागता बुत माना, लूटपाट, उत्पात और विध्वंस का सन्देशवाहक कहा, खूँखार, बर्बर, दुर्दान्त लुटेरा, आततायी कहा किन्तु सौंदर्य का वह कितना बड़ा पुजारी था। इस पहलू पर किसी ने ध्यान न दिया। उसकी तमन्ना थी कि दुनिया भर का सौंदर्य उसके पास आ जाय। बचपन से ही जहाँ उसमें साहस, योग्यता, बहादुरी और जिन्दादिली थी वहाँ सौंदर्य-प्रेम की भावना भी उसमें कूट कूटकर भरी हुई थी। उसके इन अद्भुत अलौकिक गुणों को देखकर चगताई तुर्कों ने तैंतीस साल की उम्र में ही उसे अपना सरदार बना लिया था। उसके सौन्दर्य-प्रेम ने ही उसे फारस तथा समीपवर्ती देशों को जीतने के लिये प्रेरित किया और उसकी सौन्दर्य भावना ने ही उसे भारत पर चढ़ाई करने के लिए उकसाया। शाहरुख ने जब अपने शाब्दिक चमत्कारों से हिन्दुस्तान की खूबसूरती का रंगीन खाका खींचा तो तैमूर भारत आने के लिये पागल हो उठा और सन् १३९९ में उसने हिन्दुस्तान पर हमला करने की तैयारियाँ शुरू कर दीं। विदाई के वक़्त उसकी प्यारी बेगम बीबी खुनम आँखों में आँसू भरकर बोली—"आपके लौटने तक एक मक़बरा पूरा तैयार मिलेगा जो आपकी विजय और सही सलामत लौटने की निशानी होगी।"

तैमूर ने जैसे ही कूच किया, बीबी खुनम मकबरा बनाने की योजना में व्यस्त हो गई। समरकन्द, फारस और बारह देशों के कई पहुँचे हुए हुनरमन्द शिल्पी और हजारों मजदूर उस मकबरे को बनाने के लिये बुलाये गये। बाहर से किस्म किस्म का सामान लाया गया। बुनियाद पड़ी और बीबी खुनम की देखरेख में काम जोर-शोर से चलने लगा। धीरे-धीरे मक़बरा उठने लगा। वह सब काम अपनी देखभाल में करवाती थी, क्यों कि वह चाहती थी कि उसके प्रेम और पवित्रता की निशानी दुनिया में बेजोड़ हो। ऐसा खूबसूरत अनोखा मकबरा बने कि वक़्त भी देखने के लिये रुक जाये। लोग तरस जायें, मक्का जाने के बजाये इसे देखने आयें। धरती पर प्यार की ऐसी मजार कि जिसकी टक्कर का कोई न हो। जिसकी बराबरी का न कभी बना हो और न कोई बना सके। तैमूर भी देखकर दंग रह जाय।

अपने मन की मुराद और योजना के अनुसार वह काम में जी जान से जुट गई। दिन पंख लगाकर उड़ने लगे। किन्तु इधर अचानक कुछ दिनों से गड़बड़ सी होने लगी। रोज ऐसी ग़लतियाँ हो जाती थीं कि उसे फिर तोड़कर बनाना पड़ता था। कई दिनों तक जब यही सिलसिला चलता रहा तो बीबी खुनम परेशान सी हो गई। और इधर तैमूर के लौटने की खबरें बढ़ती जा रही थीं।

बीबी खुनम तैमूर को बहुत चाहती थी, अपने प्राणों से भी ज्यादा। वह तैमूर की अन्य बेगमों की तरह न थी जो उसके बिना भी महलों में गुलछर्रे उड़ाया करती थीं। बीबी खुनम वास्तव में पवित्रता और दिव्यता की मूर्ति थी। प्रेम और शील की देवी थी। उसकी हर सांस पर तैमूर का नाम और हर बात में शालीनता। ऐसा सोचते ही कि तैमूर के लौटने से पहले मक़बरा पूरा न हुआ तो... । उसका कलेजा थर-थर कांप जाता था, दिल की धड़कनें तेज हो जाती थीं, नस नस का खून ठण्डा हो जाता था पर उसे कोई उपाय न सूझ रहा था। और तब आखिर एक दिन उसे मुख्य शिल्पी से पूछना ही पड़ा—"दाऊद क्या बात है? रोज क्यों गड़बड़ हो जाती है?"

"क्या बताऊँ आलीजान, अब कुछ समझ में नहीं आता। मैं स्वयं बहुत बेचैन और परेशान हूँ। न जाने क्या हो गया, कुछ सूझता ही नहीं।"

"आखिर कोई बात तो होगी ही। नहीं तो क्यों ऐसा होता है। अगर तुम इसके लिये ज्यादा इनाम चाहते हो तो साफ साफ कह दो, तुम्हें मुँहमाँगा इनाम दिया जायेगा पर किसी न किसी तरह उनके आने से पहले इसे पूरा कर दो।"

"ऐसी बात नहीं आलीजान, मुझे धनदौलत की कोई चाह नहीं।"

"तो और कौन सी बात है?"

"मुझे स्वयं नहीं सूझता...मैं..."

"आखिर कुछ बताओ भी तो...तुम जानते हो कि मैं कितनी बेचैन और परेशान हूँ। अगर जल्दी ही मक़बरा पूरा ना हुआ तो जानते हो क्या होगा?"

"जानता हूँ आलीजान पर..."

"पर लगता है तुम्हारे दिल में कोई राज है और तुम उसे छुपाना चाहते हो, लेकीन तुम्हें इसे खोलना ही होगा। मैं यह सब कैसे बरदाश्त करूँ। तुम जानते हो मक़बरा मेरी जिन्दगी और मौत का सवाल है?"

"मुझे कुछ समय चाहिये आलीजान, मैं सब कुछ साफ साफ कह दूँगा।" कुछ हिम्मत बटोरकर तरुण शिल्पी ने कहा।

"तो कल तक तुम्हारे जवाब का इन्तजार करूँगी," इतना कहकर बीबी खुनम चली गयी और शिल्पी उसे हसरत भरी निगाहों से देखता ही रह गया।

समरकन्द में यह एकप्रकार की परंपरा-सी थी कि जब कोई सरदार या शाह मुल्क से बाहर जाता तो उसकी सबसे प्यारी बेगम उसके सही-सलामत लौटने के उपलक्ष्य में कोई नयी चीज बनाना शुरु कर देती थी। यह एक प्रकार के सच्चे प्रेम, सतीत्व और पवित्रता की निशानी समझी जाती थी। यदि वह चीज किसी कारणवश अधूरी ही रह जाती तो बड़ा अपशकुन समझा जाता था।

वास्तव में मुख्य शिल्पी स्वयं परेशान था कि यह क्या हो रहा है। उसके काम और नाप की चर्चा चारों ओर फैली हुई थी। लोग कहते थे कि ऐसा आला हुनरमन्द अब तक न हुआ और होगा ही। अभी पचीस-तीस का जवान पर अपने हुनर में बड़े बूढ़ों के कान काट देता है। धरती पर कोई इसका सानी नहीं। उसके हाथों में ऐसा कमाल, ऐसा जादू है कि उसके हाथ से लगा एक-एक पत्थर जिन्दा होकर उड़ने के लिए उतावलासा लगता। उसकी अद्भुत योजना, नई सूझबूझ और अनुपम शिल्प को देखकर लोग दाँतो तले उंगली दबाते थे। हुनरमन्द क्या पूरा जादूगार था वह। यह सब सोचकर मुख्य शिल्पी के मन में भयंकर अन्तर्द्वंद्व उमड़ रहा था। एक तरफ

उसकी कला और दूसरी तरफ उसका मन दोनों में कई दिनों से संघर्ष चल रहा था। बीबी खुनम को रूबरू देखते ही उसके हाथ अटपटा जाते, मन मतवाला हो जाता, रोम रोम बावला हो जाता, प्राणों के तार तार झनझना जाते और फिर वह कला को बिल्कुल भूल जाता। हाथ काम तो करते पर दिल दिमाग साथ न देते। अपनी ऐसी विषम द्विविधा से कभी कभी उसे रोना आता, अपनी असावधानी और कमजोरी पर गुस्सा आता। कई बार काम करने की छोबी पर हृदय में बीबी खुनम को नजदीक से देखने की चाह बरबस खींच ले जाती। बीबी खुनम को देखे बिना उसे चैन कहाँ, नींद कहाँ, प्यास कहाँ, परन्तु उसकी एक झलक पाते ही वह मदहोश हो जाता, सुधबुध खो बैठता, अपने को भूल जाता। और कभी कभी उसे अपना वादा भी याद आता, उसने मक़बरा पूरा करने का वचन दिया था।

"चुपचाप क्यों खड़े हो दाऊद, दो न अपना जवाब?"

कुछ देर और ऐसे खड़े रहकर शिल्पी ने कहा– "तो मुझे कहना ही पड़ेगा।"

"पहेलियाँ मत बुझाओ दाऊद, खुदा के लिए जल्दी कहो जो कुछ कहना चाहते हो।"

"हिम्मत नहीं होती आलीजान, कहीं आप..."

"मैं तुम्हारा मतलब नहीं समझी। मैंने कहा न साफ साफ कह दो। मैं तुम्हारी हर शर्त मानने को तैयार हूँ।"

"तो आप बुरा तो न मानेंगी।"

"फिर वही बात–मैं कहती हूँ खुदा के लिये कह दो जल्दी, मैं एक पल भी अब इन्तजार नहीं कर सकती।"

"आप जानती हैं कि मैं कितना बेबस कितना मजबूर हूँ। मेरे हाथ ठीक से काम नहीं करते, मेरा मन मेरे वस में नहीं रहा–मैं आपसे कुछ नहीं चाहता, पर अपने इस मन को बुझने के लिये..."

"क्या?

"बस जब मैं काम करता रहूँ तो आप सिर्फ मेरे नजदीक बैठकर थोडा गा दिया करें।" शिल्पी ने साहस बटोरकर कहा।

बीबी खुनम पर मानो बिजली गिर पड़ी। उसने शिल्पी से ऐसा सुनने की कभी उम्मीद न की थी। उसकी बात उसके दिल-दिमाग में एक बड़ा भारी प्रश्नवाचक चिन्ह बनकर छा गई। उसे लगा–उसके पैरों के नीचे से जमीन सरक रही थी। सारी परिस्थिति उसके सामने मुँह बाये खड़ी हो गई कि आखिर यहाँ गाऊंगी तो फिर न जाने क्या क्या बातें होंगी। और इसी भयंकर ऊहापोह में अपने पवित्र प्रेम और सतीत्व की रक्षा के लिये उसने कोई चारा न देख शिल्पी की शर्त मान ली।

बस यही सिलसिला चलता रहा, फिर क्या था देखते ही देखते कुछ ही दिनों में भव्य मक़बरा तैयार हो गया। उसकी छटा और शोभा निराली थी। लोगोंकी जबान पर जब तब मक़बरे की बातें, पर साथ ही साथ हवा में कुछ कानाफूसियाँ भी चल रही थीं। बीबी खुनम और दाऊद... !

असलमें, जब मक़बरा तैयार हो गया तो सभी हुनरमन्द और मज़दूर बिदा कर दिये गये, पर बीबी खुनम रोज चांदनी में मक़बरे को देखने आती। उस के अनुपम सौन्दर्य और कला-शिल्प को देखकर वह फूली न समाती। तैमूर के आने की इन्तजारी में यहाँ आकर घंटों गुनगुनाती। कभी दाऊद के हुनर और शिल्प-सौष्ठव की मन ही मन सराहना करती कि कलाकार क्या है बस पूरा जादूगर और उधर दाऊद उसके मीठे स्वरों के लिये तरसता रहता। उसके मन में एक अकुलाहट, एक हूक सी उठती। कई दिनों से उसने बीबी खुनम का जादू भरा स्वर नहीं सुना था। उसका दिल बेकरार हो रहा था और तब बेबस ही, एक चांदनी रात को वह मक़बरे की ओर चल दिया। मक़बरे की ओर चल दिया। मक़बरे का सम्पूर्ण वातावरण बीबी खुनम की स्वर-लहरियों में डूबा हुआ था।

पहरेदार के रोकने पर दाऊद ने कहा–"मलका से कह दो कि दाऊद आप से मिलना चाहता है।"

भीतर बीबी खुनम के पास खबर गई तो उसने दाऊद को अन्दर भेजने के लिये हुक्म दिया।

दाऊद सामने आया तो बीबी खुनम ने पूछा–"दाऊद इतनी रात क्यों आये, सही सलामत तो हो?"

दाऊद की जबान पर मानो ताला लग गया। बस टकटकी लगाये वह बीबी खुनम को निहारता रहा। उसके रूप मधु को पीता रहा और तब शराब और शराब के नशे में चूर लड़खड़ाते हुये उसने अपने दिल का राज़ खोल दिया, "मैं तुम्हें चाहता हूँ, तुम्हारे बिना एक पल भी अलग नहीं रहीं सकता...।"

बीबी खुनम जैसे आसमन से गिर पड़ी हो, उसके दिल को गहरा धक्का लगा। वह दाऊद के हुनर की बहुत इज्जत करती थी। इसलिये रहम खाकर उस ने दाऊद को उसी वक्त मक़बरे से बाहर करवा दिया।

और जब एक दिन पूरे दलबल के साथ तैमूर लौटा तो सबसे पहले उसके क़ानों में यही भनक पड़ी। गुस्से से आग बबूला हो, अपनी नंगी तलवार लेकर वह बीबी खुनम के महल में गया।

बीबी खुनम उसकी अगवानी की तैयारियों में जुटी थी, खुशी में दिल बाँसो उछल रहा था; पर यकायक सामने नंगी तलवार लिये खूँखार तैमूर को देखा तो उसके देवता कूच कर गये।

तैमूर ने शेर की तरह दहाड़ते और पागल की तरह झल्लाते हुए कहा–
"मक्कार, गुस्ताख, तुम इतनी नापाक और बेवफ़ा भी हो सकती हो, हमें यकीन न था।"

बीबी खुनम की आँखों में अंधेरा छा गया।

तैमूर ने कुछ और आगे सरककर गरजते और बरसते हुए कहा— "हम जो सुन रहे हैं, सही है... सच सच बताओ, नहीं तो टुकड़े टुकड़े कर दूँगा।"

बीबी खुनम की आवाज़ लड़खड़ा गयी। पाक आँखों से आँसुओं की धारा बह निकली, सिसकियाँ बंध गईं।

तैमूर की आँखों में खून उतर आया। उसने ज़ोर से उसका हाथ पकड़कर कहा–" दगाबाज़ जल्दी से मुँह खोल, नहीं तो अभी कच्चा चबा जाऊंगा, तूने दाऊद के साथ..."

"मालिक मैंने जो कुछ किया सब आपके लिये किया, मैं बिल्कुल पाक हूँ। आप यक़ीन मानिये। मैं सिर्फ़ उसके साथ बैठकर गाती ही थी। मैं मजबूर थी, मेरे मालिक..." बीबी खुनम ने कुछ संभलते हुए कहा।

इतना सुनना था कि तैमूर का खून खौल गया और नंगी तलवार बीबी खुनम के नाज़ुक गले में घुस गई।

और फिर ज़ोरशोर से दाऊद की तलाश होने लगी। तैमूर गरज रहा था–"लाओ, उस कमीने को ज़िन्दा मेरे सामने। उसकी खाल खिंचवा दूँगा। ज़िन्दा ज़मीन में गाड़ दूँगा। बोटी बोटी नुचवा डालूंगा" और तब कुछ देर के बाद दाऊद अपने आप हाज़िर हो गया।

दाऊद को देखते ही तैमूर भूखे भेड़िये की तरह झपटने को तैयार हुआ तो दाऊद ने अपने आपको उसके हवाले सौंपकर गर्दन झुकाकर कहा "लो काटो मेरी गर्दन, तुम अपने को बड़ा बहादुर समझते हो न, पर मुझे कत्ल करने से पहले मेरी एक बात ध्यान से सुनो–तुमने ऐसा गुनाह किया कि खुदा भी तुमको माफ़ नहीं कर सकता। तुमने एक पाक रूह, ऐसी बेक़सूर को मारा जिसका क़सूर यही था कि उसने कोई क़सूर न किया था। ऐसी देवी को तुमने कत्ल किया जो दिलोजान से तुम्हें चाहती थी। जो तुम्हारे लिये जीती थी, जिसकी हर साँस पर तुम्हारा नाम था जो भीतर बाहर से बिल्कुल पाक थी।..." ऐसा कहते दाऊद ज़मीन पर लुढ़क पड़ा, उसकी आँखें पथरा गईं पर उसने अन्तिम सांस लेते हुए कहा "तैमूर तुमने बड़ा ज़ुल्म किया, उस देवी को... मैंने सिर्फ़ उसका मीठा स्वर ही सुना था।" ऐसा बड़बड़ाते ही उसके प्राणपखेरू उड़ गये। उसने ज़हर खा लिया था। यह सोचकर कि उसके कारण ही उस देवी की जान गयी, उसकी छोटी भूल या कमजोरी के कारण ही धरती पर से एक पवित्र आत्मा हमेशा के लिये उठ गयी।

इस घटना से तैमूर के दिल के ताने-बाने सब टूट गये। उसका दिल शीशे की तरह चूर चूर हो गया, उसके दिल को ऐसा धक्का लगा कि फिर उठ ही न सका। उसकी तमन्नाओं और हसरतों पर पानी फिर गया। चीन जाने के मन्सूबे हवा में उड़ गये। वह पागल सा हो गया।

और जब एक एक बात तैमूर के दिलो-दिमाग़ में घूमी तो वह बच्चों की तरह बिलख पड़ा, वह उसी मक़बरे के पास रातदिन पड़ा रहता और तब एक दिन तलवार से अपनी उंगली काटकर उसने मक़बरे पर खून से लिख दिया था–"बीबी खुनम का मकबरा, जिस देवी को तैमूर ने अविश्वास, नासमझी और उतावलेपन में हमेशा के लिये खो दिया। लानत है उसकी तलवार को और लानत है तैमूर को जिसने अपने हाथों अपनेको लूटा!" और उसी समय मकबरे में सिर पटककर उसने ख़ुदकुशी कर ली।

...नहीं, बिल्कुल नहीं ! आज कोशिश दिल से की मैंने कि तुम्हें खुश करूं ! वरना तुम जानते हो मुझको—

तुमही सिर्फ़ जानते हो ! आज सुबह से मुझे कुछ अनमनासा लग रहा था !...आज मेरा मन बेचैन है, बेताब है !......

इतना बेचैन कि मेरे कमरे में जाने को भी दिल नहीं चाहता ! वहाँ रखा भी क्या है ?......



अजीब वाक़या है ! मन में आता है कि कोई सपना होगा ! लेकिन वह सपना नहीं था। सपना कब आता है ? उस समय, जब कोई बात मन में तैरती रहती है बिल्कुल अन्दर-अन्दर ! किन्तु ऐसी कोई बात मनमें न उठी थी, न उसका तैरना मैंने महसूस किया था। इसीलिये तो अजीब वाक़या !

श्रीमती लीला पाण्डे ! उमर बाईस साल ! खुद कुछ अहमियत रखती है, खुद कुछ सोच सकती है। सुख चाहनेवाली, सुखवादिनी ! सुन्दर नहीं फिर भी सलोनापन जैसे जहाँ-वहाँ से टपक रहा हो। उसके पतिदेव कुछ समय के लिए विलायत गये थे। अब अकेली घर में बैठे करे भी क्या ? इसलिए हमारे इस कॉलिज में आकर शिक्षाशास्त्र का अध्ययन करने लगी। पढ़ने की जरूरत तो उसे कुछ भी नहीं थी; किन्तु कौन जाने, जरूरत कब और कैसे खड़ी होगी सामने आकर ! आखिर पढ़ाई बेकार थोड़ेही जायेगी ! न हो तो कहीं मास्टरनी का काम तो कर ही लेगी। पढ़ी-लिखी स्त्री का अंतिम उद्देश्य सिवाय नौकरी के और हो ही क्या सकता है ?

मैं लीला को जानता हूँ। सिर्फ जानना, दोस्ती नहीं। यूँही पहिचान। दोस्त किसे कहा जाता है ? उसे, जिससे अपनी बिल्कुल बनती नहीं ? जिसकी एक भी कल्पना अपनी कल्पना से मिलती नहीं ?

फिरभी उससे बात किये बग़ैर मुझसे रहा नहीं जाता। उसने भी कभी इसके लिए नाराजी नहीं जताई। बोलने में उसके रंग न हो, ढंग जरूर था। एक बार मैंने बात-बात में उससे कहा था —" तुमने अपने लिए जो पति चुना है, यूँही है, तुम्हारे लायक़ क़तई नहीं "। उससे जवाब मिला था — " मैंने उसे अपने लिए चुना है, तुम्हारे लिए नहीं "। बात तो ठीक थी। मैंने केवल अपना मत जाहिर किया था। दुनिया की हर कोई होनीपर हमारे मत जो होते हैं !

और एक दिन की बात है। उसने ख़ुद के लिए एक साड़ी ख़रीदी थी। मैंने देख-परखकर कहा—" इसका रंग तो फीका पड़ जायगा। " सवाल आया—" शायद पहन के देखा है ना ? " और यह ठीक ही तो था।

हम दोनों के बीच दिनोंदिन यही चलता। मैं कुछ बोलता, वह जवाब देती। बेमतलब की बातें थी सब।

तो फिर उससे बात ही क्यों की जाये ?

जवाब इसका दूँ भी तो कैसे ? लेकिन महज कुछ बोलना चाहिये इस लिए मैं उससे बातें करता था, ऐसा नहीं। एक तोमें भी मेरे अपने लोगों से दूर था। मेरे साथ पढ़नेवालों से मेल बढ़ाने में मुझे रुचि नहीं थी।

रोजमर्रा की वही-वही बातें—किसने क्या दिया और क्या लिया। ना उनमें कुछ राम था ना काम, ना कोई उलझन ना शिकवा। बात ऐसी हो जो कोई सुने, कोई समझे। किन्तु उन लोगों की महज बातें ही होती थीं — ' कहो भाई कैसे हो, क्या हाल है ? जवाब भी वैसा ही — ठीक ठीक, चाय पियो, जी नहीं ! दिल लगे ऐसी कोई दिल्लगी नहीं। '

और इनकी उन बातोंसे अगर दिल नहीं माना तो ? तो कुछ नहीं। वे कोई तो यहाँ नहीं थे जिनसे जी का बयान करूँ। मन के मीत तो बहुत दूर थे।

आदमी के दिल की किसीने सोची है ? दिल चाहता है कि उसे कोई कमजोर समझे। नातवाँ न होनेपर भी वैसा कहलाने में उसे तसल्ली मिलती है। शायद स्त्री की जरूरत उसको इसीलिए होती है। वह चाहता है कि स्त्री उसकी इस कमी को पूरा करे जिसमें उसे खुशी होती है। स्त्री के बिना उसका बहुत कुछ रुक जाता

ढूँढ़ो!

वामन चोरघडे

है; तन का भी, मन का भी। वह चाहता है कि कभी निर्बल बन जाऊँ, निष्प्रभ हो जाऊँ; दिनरोज की दुनियादारी से कुछ देर तक और कुछ दूरतक हट जाऊँ। इसीलिए वह भटकता, ढूँढ़ता फिरता है।

शायद इसी कारण मैं लीलासे खिंच गया था। मेरी और कोई चाह नहीं थी। ना उसके बुद्धिगुणों का ना हृदयगुणों का मैं भागी था। उससे मुझे रश्क भी नहीं था। लीला ने खुदको एक व्यक्ति के हाथों में सौंप दिया था। इस समर्पण में उसकी खुशी थी। उसे ना तो सरोकार था, ना परवाह थी दूसरे किसी के दिल की। कोई कमी नहीं थी, कोई वजह नहीं थी।

और हो सकता है कि हम दोनों के बीच की तनातनी की यही वजह थी। मैं कुछ भी चाहता नहीं यही महसूस करवाने की चाह! क्या इसी-लिए यह जान-पहिचान? इस ढूँढ-ढाँढ के चक्कर में भी ना हमने कभी एक दूसरे के दिल को टटोला ना टटोलने दिया।

लेकिन मेरे मन के उस अकेलेपन में मुझे बहुत कुछ लगता था कि लीला मुझसे अच्छी-अच्छी बातें करें, उसका मेरे प्रति बर्ताव कुछ विशेष हो, चंद रोज हम यहाँ रहेंगे, इतनी तनातनी से मतलब ही क्या? – कितनेही दिन मैंने यही सोचने में बिताये कि ऐसा हो तो अच्छा, ऐसा न हो तो ठीक!

मैं जो कुछ और जिस तरह चाहता था, अगर वैसा ही होता तो? लीला के लिए मेरे मन में अपनापन था, डर भी था। जिनसे झूठमूठ डरते हैं उनका बाद में सचमुच डर लगने लगता है।

मतलब यह है कि इस प्रकार थी मिसेस् लीला पाण्डे और ऐसे थे हम! इसके बाद वह सपना जिसका जिक्र मैंने किया था।

यह स्त्री एक दिन अचानक शाम के पाँच बजे अच्छी पोशाक पहने जब मेरे कमरे में आ खड़ी हुई तब मैं मारे ताज्जुब के न कुछ बोल सका न कुछ कर सका। मेरे कपड़े, मेरा कमरा – इन सबकी हालत – ! मैं देखता ही रह गया।

"मैं कह रही हूँ कि मैंने अच्छे कपड़े पहिने हैं।"

चेहरेपर खुशी, आवाज में अपनापन। सुन लेने में कोई दिक्कत नहीं थी।

"मैं फिर दोहराती हूँ कि मैं अच्छे कपड़े पहने हूँ।"

"तो फिर?"

"ऐसे कपड़े कब पहिने जाते हैं?"

"जब किसी नातवाँ के कमरे पर हमला किया जाता है।"

"बात को काटने-कटवाने में मुझको आज रुचि नहीं। मैं आयी हूँ सैर करने की इच्छासे। चलो, हम चलें; कहीं दूर दूर चलने की इच्छा है।"

यहाँ तक तो सब ठीक हुआ; लेकिन मुझको कपड़े जो बदलने थे। कैसे बदलूँ और कहाँ? एक ही कमरा, अकेले राम, ब्रह्मचारी की तरह रहना, न कोई परदा, न कोई पार्टिशन! किसी दूसरे के कमरे में जा कपड़े बदलूँ तो वह कम्बख़्त पूछ बैठेगा कि कहो भई, कहाँ जा रहे हो बनठन के? क्यों जा रहे हो? कैसे? किसके साथ? यहाँतक भी कोई हर्ज नहीं; लेकिन अगर इरादा करें कि चलो, मैं भी तुम्हारे साथ आता हूँ! तो फिर?

"तो बदल लीजिये न कपड़े।"

"जी हाँ, लेकिन —"

"लेकिन-बेकिन कुछ नहीं; मैं खड़ी रहती हूँ दरवाजे के बाहर सड़क की ओर देखती हुई! आप झटपट कपड़े बदल लीजिए!"

... यह निःसंकोच! यह दिलखुलासपन! सिवाय हक्का-बक्का हो खड़े रहने के मैं और कर क्या सकता था? कपड़े बदलूँ तो भी कैसे?

"बदल लिए कपड़े आपने? देखूँ मैं उधर को?"

आखिर में एक लम्बा कुरता और पाजामा-याने जो कपड़े मैं पहिने हुए था वे ही। तैयारी हो गई और हम निकल पड़े।

"चाँद-सितारोंसे तुम... आपकी खूब बनती है, नहीं?"

ऊपर आकाश में शुक्र अपने तेजोधवल प्रकाश से सबको मानो चुनौती दे रहा था। कह रहा था, बढ़ो बढ़ जाओ– !

"एक दिन आपने ऐसे ही कहा था कि जिनके आँखें हैं वे ही उनको देख सकते हैं।"

कहा था जरूर। लेकिन अब इस वक्त इसका जवाब दूँ भी तो कैसे? बस, सामने देखता गया और चलता गया।

"लेकिन मेरा मत है कि हर समय हर चीज अच्छी लगे सो बात नहीं। कुदरत का भला-बूरापन कूतती हैं आँखें। सृष्टि भले ही न हो, दृष्टि चाहिए।"

यह जानकारी गलत नहीं थी। फिर बोलते को रोकना क्यों?

"आज क्या आपका मौन–दिन है गांधीबाबा?"

"नहीं तो।"

"तो फिर मुझ नाकिस से बोलने के लिए क्या अदा करना होगा?"

मैं डर गया कि अब लड़ाई-झगड़ा शुरू होगा जिसे टालने के लिए मैं चुप था।

"कह डालिए क्या कीमत है एक शब्द की?"

"यह भी कोई बात में... "

"फिर किस तरह बात की जाये? निकले हैं सैर करने, सब तरफ बहार है और आप... ? आपकी बोलती बंद है और चाल हर कदम पर रुक जाती है। फिर भी जानते हैं कि आज मैं जानबूझ कर आपके साथ निकल पड़ी हूँ।"

मन में धीरज हो गया कि लड़ाई हुई होगी कभी लेकिन आज इसकी कोई संभावना नहीं। बात में मात नहीं होगी। सोचही रहा था कि कैसे बात शुरू करूँ—

किन्तु स्टेशनपर पानी पीने के लिए उतरे हुए मुसाफिर के लिए क्या कभी ट्रेन रुकती है?

"एक बात कहूँ?"

अनुक्रमणिका





" जरूर, इसमें पूछने की क्या बात है।"

" नहीं, लेकिन आप शायद नाराज ... "

" कहिये न ! "

" आज जैसे मैं सवेरे जागी तो देखती हूँ कि आसमाँ में तुम्हारा वही प्यारा सितारा कुछ ऐसा देखा जैसा आप मुझसे हमेशा कहते हैं ! मन को लगा कि जैसे खिले हुए बेले के बड़े-बड़े फूल अभी टपक पड़ेंगे– अभी, यहाँ... ! लगता था कि आँचल पसारकर समेट लूँ ! "

जैसे कोई बोलता है सुधबुध गँवाकर ! भाने लगा है उसे वही जिसमें मेरी खुशी है !

" आपने कुछ कहा जो नहीं ! "

" कहना तो बहुत है, चाहता भी हद से ज्यादा, लेकिन कहूँ तो कैसे ? "

" तो फिर यही–तेरी चुप मेरी भी चुप ! "

" नहीं, ऐसा नहीं, आप... "

" एक बात और कहूँ ? "

" क्यों नहीं ! जान पड़ता है आज कहने को बहुत है, सुनने को नहीं ! "

" फिर नहीं कहूँगी ! "

यह नाराजी का बहाना, यह बेरोक खिंचाव, यह अपने तई की हूक ! यह उतावली भावभंगी ! समझने से मजबूर था मैं कि यह है तो क्या है और जो है सो क्यों है ! इसी मजबूरी में आगे की राह कटी और घर की ओर लौटना शुरू !

" तो फिर वह एक और बात कहने की रही... ! "

" आज आपने मेरे कपड़े देखे ? "

" क्यों ? क्या उनमें कोई खास बात ? "

" जाओ, मैं नहीं बतानेकी — "

" अरे हाँ, ये तो खादी के हैं ... "

" हाँ ! हाँ ! मन में आया कि मेरी रोज की महीन साडियाँ आज पहनूँ तो शायद तुम्हें अच्छा नहीं लगेगा। मन तुम्हारा खटकता रहेगा, दिल खोलकर बातें नहीं कर सकोगे। ठीक है न ? "

" किन्तु सच बताओ कि यह साड़ी तुम... आपने क्यों पहनी ? "

" क्यों ? यह अच्छी नहीं लग रही है तुम्हें ? क्या मैं यह पहिनने के क़ाबिल... "

" नहीं, सो बात नहीं ! लेकिन मन में मेरे जो कुछ हो रहा है ... ! मन को खोलना आसान भी तो नहीं। देखूँ तो कैसे ? और दिखाऊँ भी तो कैसे ? रही बात एहसान जतलाने की। अगर दिलोजान से जतलाऊँ... "

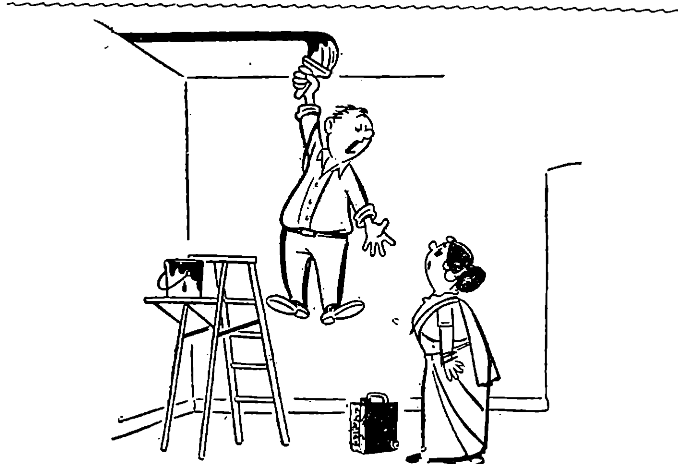
" नहीं ! "

" नहीं के माने ? "

" नहीं के माने कि कमसे कम आज एहसानी नहीं सुनूँगी ! "

" और इसके माने ? "

" इसके माने भी पूछते रहोगे ? आज मुझको एहसानी की जरूरत नहीं। मैं चाहती थी तुम्हें खुश करना। आज मैं इसी तुम्हारी खुशी की क़ायल हूँ। आज जिससे तुमको अच्छा लगे–जिससे तुम खुश हो... । "



अरी, रंग में मेल बिलकुल नहीं, जरा डिब्बा तो दो।

न जाने क्यों लेकिन मन में मेरे हूक उठ गई। ऐसा लगा कि मन की कली खिल गई है। मेरे मन की इस कली को फूल बनाने के लिए लीला पाण्डे उतावली हो उठे, सुहागिनी लीलादेवी, किसीकी वधू कोशिश करे... आखिर माजरा क्या है ? यह उलझन है या सुलझन ?

अब हमारा होस्टेल नजदीक था। बिजली की बत्तियाँ नजर आ रही थीं। राह सूनी थी। धूल का उड़ना कम हो गया था। जानेवाले न जाने कहाँ लेकिन कदम भारी किये जा रहे थे। चमगादड़ के बच्चे फड़फड़ा रहे थे। सड़क के किनारे खड़ी बत्तियाँ पहरा दे रही थीं। उनकी धीमी रौशनी राहगिरों के दिलों का सहारा थी।

अब मँजिल आ ही जायेगी और बात भी अधूरी ही रहेगी। उसे पूरी करना जरूरी था। यही तो अहंकार है।

वह वृक्ष दिखाई दे रहा है। वहीं से हम दोनों की राहें अलग हो जायेंगी। जो कुछ हाथ में आया, चला जायेगा। हो सकता है कि कल, परसों, कभी भी पकड़ में नहीं आनेका।

अब उतावला होने की बारी मेरी थी।

" एक बात कहूँ ? "

" कहो, आज ही कह सकोगे, फिर नहीं, फिर कभी नहीं ! "

" तुम अभी-अभी कह गयी कि मेरी खुशी के लिए... ! मेरी खुशी के ख़्याल से आपको जरूरत ? "

" जरूरत तो है ही ! लेकिन वह तुम्हारे समझने की बात नहीं ! "

" कोशिश जरूर करूँगा, कहो ! "

" नहीं कहूँगी, क्यों कि तुम्हारा मन उतर जायेगा ! सारी बनी-बनाई बिगड़ जायेगी ! "

" लेकिन न कहने से भी तो हो सकता है। "

वह ठिठक गई। चारों ओर अंधेरा छाने लगा था—मनमें और बाहर भी। जैसे कोई सपना नजर के सामने तैर जाये और देखते ही मिट जाये। कुहरा दिखता है और देखते ही नहीं के बराबर हो जाता है, फिर दम घुटने लगता है !

उस अंधेरे में चुप रहना मेरे लिए दुश्वार हो उठा ! – " तो कहो न ? "

" नहीं, बिल्कुल नहीं ! आज कोशिश दिलसे की मैंने कि तुम्हें खुश करूँ ! वरना तुम जानते हो मुझको-तुमही सिर्फ़ जानते हो ! आज सुबह

से मुझे कुछ अनमना-सा लग रहा था!... आज मेरा मन बेचैन है, बेताब हैं! इतना बेचैन कि मेरे कमरे में जाने को भी दिल नहीं चाहता। वहाँ रखा भी क्या है...

आज दिन है 'उन' की चिट्ठी आने का। कल से मैं उनकी चिट्ठी के लिए आँखें बिछाये राह देख रही हूँ! उनका खत! उस खत को पढ़ने के लिए भी मैं अपने मनको तैयार करती, हूँ! जिस दिन उनकी चिट्ठी आती है मैं अपनी अंतरतम भावनाओं को जगा, बाट देखती रहती हूँ! पुरुष के सहवास की सिर्फ़ कल्पना में भी कितनी बेसुधी होती है। वाह रे औरत का दिल!

"तुम नहीं, हम औरतें जान सकती हैं। उनका पत्र आनेका दिन, आने के बाद का उनका अटूट सहवास! मन का बंधन टूट जाता है।

"लेकिन आज उनका खत नहीं आया! मेरा धीरज बाँधना बेकार रहा! बेचैन, बेताब–इसी बेचैनीसे मुझे मेरी सहेलियाँ फीकी मालूम दीं।

"यही तो! किन्तु मैं अपनी ज़िम्मेवारी जानती हूँ! इसीसे तुम्हारे पास आयी! तुम्हारे साथ ज़रा देर हो ली। मैं तुमपर भरोसा करती हूँ। जानती हूँ कि तुम कुछ भी क्यों न हो, तुम भरोसे के क़ाबिल हो। इसीसे तो... सिर्फ इसीसे चाहती थी कि तुम मुझसे कम-से-कम आज अच्छी बात करो... इसीसे तो..."

वह अपने आप बोलने लगी थी, अपने आप ही चुप हो गई। और अचानक लम्बी-लम्बी डगें भरती हुई दूरतक चली गई। मानो आगे कुछ कहना नहीं चाहती, जो कुछ कह गई, हो सकता है मन की कुछ बेकली...!

वह लौटकर फिर मेरे सामने आ खड़ी हुई।

"लौटी हूँ एक बात कहने के लिए। यह सब यहीं भूल जाना। इसे मन में रखना मना है। इस नींव पर कोई इमारत खड़ी करना मना है। मनाही इसलिए कि तुम्हारा मन कोमल है, मैं जानती हूँ तुम्हें। इतना पहिचानने लगी हूँ कि शायद तुम्हें किसीने आजतक नहीं जाना, तुम्हारे बच्चों की माँने भी नहीं! पुरुष का इतना कोमल होना ठीक नहीं। इसी लिए लौट कर आई हूँ यह कहने कि इन बातों में कुछ धरा नहीं। अंदाज़ नहीं, भरोसा भी कुछ नहीं..."

"और इनमें दोष भी नहीं, अधर्म नहीं! कल उनकी चिट्ठी जरूर मुझे मिलेगी। मैं भी उन्हें जवाब में लिखूंगी—सारे मन के परदे खोलकर, जिसमें तुम्हारा भी ज़िक्र करूँगी। जाओ, लौट जाओ। जैसा बने, मुझको समझने की कोशिश करो, और खुद को भी—समझ न सको तो कमसे कम करो कि ग़लत न समझो। भगवान से दुआ माँगती हूँ तुम्हारे लिए, तुम्हारी सुख की नींद के लिए! गुड़ नाइट!" ऐसा कहकर वह तेज़ी से चल दी।

अंधेरे में उसकी सफेद साड़ी का पल्ला दूर-दूर सरकता जा रहा था। जैसे कोई—! नदी के किनारे खड़े, पानी में रात के समय जैसे कोई पुष्प-दीप छोड़ देता है और वह दीप पानी की लहरोंपर हिलता हुआ, डोलता हुआ बहता जाता है, दूर-दूर, सर-सर करता हुआ, अपनी गति से नहीं, पानी की गति से, अपनी रौशनी से।

मैं देखता रहा, देखता ही रह गया।

यह सब क्या हुआ था?

आसमान में बहुत ऊँची, बहुत दूरीपर चील उड़ती जाती है, नीचे को कुछ देखती है; कुछ पाने की आस से तेज़ी से नीचे को उतरती है। जो देखा था उसे झपट लेती है, फिर उड़ जाती है—उतनी ही दूर, उसी ऊँची सतह तक! मानों आसमान को नाप रही है।

और उसकी झपट में जिसका जो कुछ उसके साथ चला जाता है, वह जहाँ-का-तहाँ रह जाता है, देखता ही रह जाता है!



पदचाप तुम्हारे.......

—गंगाप्रसाद विमल

अभी सोते हुए मुझे झकझोरा है
पथ का पथ सूना—शय्या के तट सूनापन लेटा
सरकते हुए पल को मापती हुई ध्वनियाँ
अभी भी रात के वक्ष को भार देती हुई
अटक जाती हैं
मुझे झकझोर कर भटक जाती हैं।
शीर्ष हवा लहरियाँ चुम्बन बरसा कर
चुपके से छिप छिप चली जाती हैं
पदचाप पहचाने नहीं जाते
मोमबत्ती के वृत्त को झिंझोड़ कर
एक बार सिर्फ
मुझे चूम भर जाती हैं
मेरे भाल पर चुमता है तुम्हारा
कई दिनों का बासी चुम्बन।
अभी सोते हुए झकझोरा है मुझे
किसीने ख़यालाती दर्द बन कर
एक सूनेपन के फैलाव में
मुझे तैरा दिया है
डूबती हुई परछाइयों में
जलवृत्त पर सिर्फ मैं ही
तैरता रहा हूँ।



—प्रेम कपूर कंचन

'प्राण–मदिरा से परिपूर्ण यौवन' डाक्टर ने सोचा 'सुगठित देह। वह उग्र सौंदर्य, किंतु होठों में अनंत कोमलता। रजनी-गंधा-सी सरल ग्रीवा।' अपनी रूप–गर्वा पत्नी के बारे में सोचते हुए वह चल रहे थे। डाक्टर वर्मा दवाइयों के नहीं लिटरेचर के डाक्टर है। पिछले पंद्रह सालों से यहाँ विश्वविद्यालय में अंगरेजी पढ़ा रहे हैं। मजे से छुट्टियाँ मिलती हैं। कई बार विदेश हो आए हैं। साढ़े चार बजे क्लास खत्म हो जाता है। पाँच बजे तक घर पहुँच जाते हैं। पर आज अचानक उनके मन में पश्चिमी फैशन में ढली पत्नी की बातें क्यों जाग पड़ीं? इस फैशन ने उसके भोलेपन को तनिक भी विकृत किया है। साइकिल पर चलते हुए डाक्टर के पैर शीघ्रता से पैडिल चला रहे थे। वह सोच रहे थे–'मेरा मन जमा हुआ पानी है! स्थिर! परिष्कृत होना ही बड़प्पन है। उनके मन में आदिम बर्बर भावनाओं का अंत हो चुका है। नंदा!' एक बार मन में पत्नी का नाम दुहरा कर वह चुप हो गए। और उन्हें क्लास में दिए गए लेक्चर की बातें याद आने लगीं। पर यह विचार ज्यादा देर नहीं ठहरे और पुनः उनके मन में विचार घुमड़ने लगे –'यह सब मुझे नहीं सोचना चाहिए। आखिर मैं प्रोफेसर हूँ, दूसरों से भिन्न। लेकिन नंदा मुझको समझ क्यों नहीं पाती! आज उसे अवश्य समझाना पड़ेगा।'

तब तक घर सामने आ गया था। हमेशा की तरह उनके हाथ घंटी पर आ पड़े। टन्–टन् की ध्वनि उठी। साइकिल पार्टिगो तक पहुँच गई। माली सामने था। उसको साइकिल दे वह अंदर गए। घुसते ही उन्होंने आवाज दी–'नंदा, नंदा!' पर उत्तर कहीं से नहीं आया।

कपड़े उतार, वाश-बेसिन से हाथ धोते हुए उन्होंने चौके में झाँका। एक मोहक खुशबू आ रही थी। नंदा थी वहाँ, वह उसके पीछे जाकर खड़े हो गए। कुछ कहना चाहा। उनके हाथ नंदा के कँधे पर जा पड़े थे। पर नंदा शिथिल रही। उसके चेहरे पर कोई परिवर्तन नहीं आया। हाथ मशीन की तरह चलता रहा। हर बात का उत्तर वह 'हां' या 'ना' में दे रही थी। बहुत रूखा। बहुत संक्षिप्त।

डाक्टर मँजे हुए परिष्कृत स्वभाव के हैं। एक ब्रेक-सा लगा। वह स्टेडी रूम में आकर बैठ गए। वहीं चाय आई। खाना आया। वह दूसरे दिन का लेक्चर तैयार करने में व्यस्त रहे। मोटी किताब के काले अक्षरों में वह खो उठे थे। काम समाप्त कर उठे, तो नंदा सो रही थी। उनके जी में आया कि वह उसे जगाएँ, उससे बातें करें। लेकिन इस

दांत पीस लिया डाक्टर ने। जो कुछ वह सुन रहे थे, अब उनके बर्दाश्त के बाहर था। वह चाहते थे कि एक बारगी उस केबिन में टूट पड़ें और...लेकिन जो कुछ आदमी चाहता है वह सब कुछ कर नहीं पाता। एक नक़ली नकाब उसे घेरे रहती है.....

तरह पत्नी की नींद में खलल डालना उन्हें अच्छा न लगा। वह लेट गए, पर नींद के इस तरह आने के वह आदी नहीं थे। नींद न आई। विस्मृत के अंधकार को मन भेदने लगा। वह अचरज में पड़े थे। क्या वास्तव में सुधीर के शब्दों का प्रभाव था उन पर!! सुधीर उनसे जूनियर है। उस पर तो मनोविज्ञान का भूत सवार है। पर स्वयं डाक्टर ने केवल कोरा समय नहीं बिताया पर कुछ किया है। उन्हें जीवन का कटु अनुभव है। पर रह-रह कर बार-बार उनके मन के किसी दबे कोने से एक ही बात उठ रही थी। वह स्पष्ट में उससे सामना करना नहीं चाहते थे। परंतु मजबूर होकर उन्होंने सोचना आरंभ किया। सुधीर नंदा का सहपाठी था। जब पहले पहले यह तथ्य सामने आया, तो वह चौंक उठे थे। नंदा ने कभी सुधीर का नाम नहीं लिया था। परसों दोपहर को अचानक सुधीर के साथ लंच लेना पड़ गया। नंदा भी साथ थी। वहीं बातों के बीच मानव के आदिम विचारों पर बहस चल पड़ी। सुधीर ने कहा था– 'मनुष्य कितनी उन्नति क्यों न कर ले डाक्टर साहब, उसके अंतर का पिशाच नहीं मरता। वह जो आदिम जानवर है, वह बर्बर एक बार जाग पड़ने पर फिर कठिनाई से पीछा छोड़ता है।'

डाक्टर वर्मा इसे मानने के लिए तैयार नहीं थे। और बात-बात में सुधीर कह गया था– "डाक्टर साहब, आप इसके अपवाद नहीं हैं! मैं, यदि आप बुरा न माने, तो सिद्ध कर सकता हूँ कि वह जानवर आप के अंदर जीवित है। ठीक उसी तरह जैसे किसी अनपढ़ या गँवार के अंतर में जीवित रहता है।"

प्रोफेसर सुधीर की बात पर डाक्टर जोर से खिलखिला कर हँस पड़े थे। उनके आत्मसम्मान को ठेस लगी थी। वह बोले– "मैं जुआ नहीं खेलता, प्रोफेसर। पर तुम यदि सिद्ध कर सको तो मैं बहुत कुछ हारने के लिए तैयार हूँ।"

और बात जहाँ–की–तहाँ रह गई। लेकिन आज जब वह बातों के सूत्र जोड़ रहे थे, उन्हें पहली बार अनुभव हुआ कि उनका मन उतना शान्त नहीं है, जितना वह सोचते हैं। सबसे पहले उनको अपने अंतर में प्रतिस्पर्धा के भूत से साक्षात्कार हुआ। वह भूत जो बदला लेने के लिए कमर कस कर खड़ा हो रहा था। मन में उग रहा यह कसैलापन वह निकाल फेंकना चाहते थे। लेकिन विचारधारा अपने आप पक्की पड़ती जा रही थी। वह भूल गए थे कि स्वयं ही नंदा के प्रति उनके मन में एकाएक जो स्नेह छलक आया था, वह नया था। पिछले कई वर्षों के बीच उन्होंने कभी नंदा को अलग रख कर नहीं सोचा। वह थी, बस थी! एक इकाई थी, जो उनसे इतनी घुलमिल गई थी कि उसको अलग रख कर सोचा ही नहीं जा सकता था। धीरे-धीरे उनकी वह परिधि एक कोल्ड एप्रोन में बदल गई। नंदा थी, उनकी नींद का मार सहने के लिए मशीन मात्र, एक दवा की गोली की तरह; इसके अलावा सब कुछ था। कमी के नाम पर संतान नहीं थी। इसमें उनका दोष नहीं था। वह औरों की तरह अपनी कमज़ोरी ईश्वर के ऊपर नहीं झोंक सकते थे। नास्तिक के लिए इन बातों का कोई अस्तित्व नहीं होता। कोई प्रश्न ही नहीं था।

बहुत दूर-दूर तक उनकी आत्मा भटकती रही। वह सो नहीं सके। नंदा को जगाना उनके बस के बाहर की बात हो चुकी थी। नंदा का शरीर एक हाथ के फासले पर था। पर वह उनके मन की आँखों में मीलों दूर दिखाई पड़ रही थी। पिछली बातें, अपने किए पर उन्होंने पर्दा डाल लिया था। उन्होंने नंदा और सुधीर के संबंधों को जोड़ना, नंदा की खामियों, कमजोरियों को गिनना आरंभ कर दिया। इसी में उनकी आँख लग गई।

सुबह देर से उठते हैं। कालेज के लिए तैयार किए गए नोट्स यदि एक बार फिर न देखे गए, तो कभी-कभी बड़ी भूल हो जाती है। नोट्स को उलटते-पलटते ही नौ बजने लगता है। जल्दी-जल्दी तैयार होकर वह कालेज भाग जाते हैं। उस दिन कोई मर गया था। कालेज में जल्दी छुट्टी हो गई थी। कहाँ जाय? उनकी समझ में नहीं आ रहा था। इतना बड़ा शहर है। इने-गिने ही लोग हैं जिनके यहाँ वह आते-जाते हैं। फिर किसी के यहाँ जब जी आया जा धमके, इस तरह सभ्य समाज में तो नहीं चलता। वह लाइब्रेरी में गए पर वहाँ भी तबीयत नहीं लगी। साइकिल लेकर घर लौट रहे थे कि अगले चौराहे पर उन्हें लगा सुधीर जा रहा है। सुधीर अकेला नहीं है। उसके बगल में कोई लड़की है। वह! यह तो नंदा ही है!

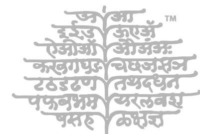
उनके मन में आया चलो वह लोग अच्छे मिले। कुछ बहस-मुबाहिसा ही होगी। बड़े उत्साह से वह उस ओर बढ़े जिधर दोनों जा रहे थे। पर जब तक वह पहुँचें-पहुँचें कि दोनों निकट के रेस्टोरेंट में चले गए। वर्मा साहब के पैर जहाँ–के–तहाँ ठहर गए। एक क्षण के लिए वह सकते में आ गए। यह वही नंदा है, जो कभी होटलों की सूरत देखना नहीं चाहती थी। लाख कहने पर भी होटल की चाय उसे अच्छी नहीं लगती थी। कैसा मुँह बनाती थी एक कप चाय के लिए। पर आज! कितने मज़े में कहकहे लगाते जा रही है। उनका दिल खौल उठा। साइकिल बाहर टिका कर वह जल्दी–जल्दी अंदर गए। बाईं ओर के केबिन में दो जोड़ा पैर दिखाई पड़ रहे थे। पहचानने की झंझट नहीं थी। नंदा के पैर में सफेद रंग की चप्पल थी। दूसरे सभी केबिन खाली थे। वह बगल के केबिन में जाकर बैठ गए। सारी बातें पहचाने स्वर में हो रही थीं। दो क्षण बाद उन्हें ऐसा लगा कि वह उठ कर बाहर चले जाएँ। पर वह लाख चाहने के बाद भी उठ नहीं सके।

सुधीर के शब्द थे—"आज तो डाक्टर साहब भी आ गए होंगे। उनके यहाँ भी छुट्टी हो गई होगी।"

नंदा—"चिंता क्यों करते हो, वह हमेशा लाइब्रेरी में रह जाते हैं। जल्दी आना असंभव है। पांच तक तो हम लोग घर पहुँच ही जाएंगे।"

सुधीर—"और अगर आ गए तो।"

अनुक्रमणिका





नंदा—" ही इज टू कोल्ड। वह मेरे संबंध में इतना नहीं सोच सकते। तुम मुझसे ज्यादा जानते हो सुधीर ! फिर तुमने जाल भी तो गहरा बिछाया है।"

दांत पीस लिया डाक्टर ने। जो कुछ वह सुन रहे थे, अब उनके बर्दाश्त के बाहर था। वह चाहते थे कि एक बारगी उस केबिन में टूट पड़ें और... लेकिन जो कुछ आदमी चाहता है, वह सब कुछ कर नहीं पाता। एक नकली नकाब थी, जो उन्हें घेरे थी। उनमें इतना साहस जीवित नहीं था कि वह सामना कर सकते। अपनी रूप-गर्वा पत्नी के प्रेमालापों को जब वह सुन न सके तो खुद ही उठ कर भाग निकले। एक अजीब विषम परिस्थिति में घेर रखा था सुधीर ने उनको। सभ्यता का ऐसा चक्रव्यूह उसने रचा था जिसे फाँद जाना उनके लिए नितांत असंभव था। वह जितनी तेजी से साइकिल का पैडिल चलाते उतनेही शीघ्र सुधीर के शब्द उनका पीछा करते—" वह जान भी लें नंदा, तो क्या होगा। मैं तुरंत ही कह दूँगा—डाक्टरसाहब यह तो आपकी सहनशीलता जाँचने की बात थी। आप भी क्या कहते हैं। अरे कोई विवाहित स्त्री से प्रेम करेगा ? क्या अकाल पड़ गया है खूबसूरत नारियों का ! और डाक्टर साहब, कालेज में क्या कम माल मिलता है ? जो भैं भाभी पर ही हाथ साफ करूँगा !"

सदा की चुप रहने वाली नंदा ने कहकहे बाँध कर कहा था—" तब तो हम हमेशा बिना रोक–टोक के मिल सकेंगे। तुमने आज़ादी दिला दी है उस कोल्डनेस से।" और उसके बाद चूमने की जो आवाज डाक्टर के कानों में पड़ी थी, वह उनके कलेजे को तीर तरह बींध गई।

'कोल्ड ! हां, हां, मैं कोल्ड हूँ।' डाक्टर ने सोचा। उनके चारों ओर का रास्ता अंधकार में ढँका था। वह यह नहीं समझ पा रहे थे कि उनके पैर उन्हें कहाँ लिए जा रहे हैं। कहीं राह नहीं सूझ रही थी। वह क्या करें ? जितनी गहराई से वह नंदा और सुधीर की बातें सोच रहे थे उतनी गहराई से बातें जड़ पकड़ती जा रहीं थी। क्या वह इतने नाकाबिल हैं ! उन्हें अंगरेजी साहित्य के विभिन्न पात्रों की बातें याद आती रहीं। हर जगह बदला लेने के लिए हत्या की गई थी। हर कहीं एक ही किस्सा था। वही खून–खराबी। हैम्लेट हो या ओथेलो। वह स्वयं चाहे कितने एडवांस क्यों न हो गए हों पर उनकी घरवाली, उनकी हमसाया इस तरह उनकी आँखों के नीचे खुल कर खेले और वह इतने ...नहीं। क्या करें वह ? क्या ? क्या आत्महत्या ? नहीं, इससे कोई प्रश्न हल होने वाला नहीं। मर कर ही बदला लें, तभी कोई बात होगी। पर इस तरह का बदला कोरा कायरपन होगा। सुधीर उनको शिक्षित कायर क्यों समझता है। अब तक रात ढल गई थी। वह मीलों चलते हुए सोचते चले जा रहे थे। 'माना कि मैं हार जाऊँगा लेकिन जितनी आसानी से वह मेरी पत्नी को उड़ा ले जाना चाहता है, उतनी आसानी से मैं मुक्ति देने वाला नहीं।' अंतर में एक दूसरा प्रश्न उठा– 'लेकिन इस सारे विस्फोट के बाद तुम क्या मुँह लेकर कालैज में जाओगे। तुम्हारे वे स्टुडेंट–वह कम उमर के लड़के और लड़कियाँ क्या कहेंगे ?'

क्या मैं अपनी आँखों पर पट्टी बाँध लूँ और जो अनाचार हो रहा है उसे होने दूँ; सब-कुछ इसी तरह सहता रहूँ। ऐसी ही दशा में लोग आत्म-हत्या कर लेते हैं। ट्रेन के पहियों के नीचे कट जाया करते हैं। बदला लेना बहुत साधारण है। एक पत्र और मेरी मौत। इन दोनों का शांतपूर्ण जीवन छिन्न–भिन्न हो जाएगा। लेकिन मैं यह सब क्यों करूँ ? मेरे में क्या कमी थी ? नंदा क्यों इस तरह मुझसे मुकर गई। क्या नहीं दिया मैंने उसे। वह मुझे कोल्ड कहती है...। इतना ध्यान आते ही उनकी आत्मा भड़क उठी। काश ! मैं एक रिवाल्वर पा जाता, तो उस बदज़ात से पूछता कि दिनदहाड़े किसी की आँख में धूल झोंकना किसे कहते हैं। जितनी तेज़ी से उसके मन में विचार आते, मन का राक्षस उतनी ही कटुता से विस्फोट चाहता था। पर सामाजिक नकाब, बडप्पन, परिष्कृत स्वभाव इत्यादि सारी ऐसी चीजें थीं, जो इस जानवर को घेरे थीं। और डाक्टर केवल भाग सकते थे। भाग रहे थे। चारों ओर अंधकार था। सामने रेल की पटरियाँ थीं। बदला लेने का एक ही तरीका था। अंधकार में डूब जाना।

सुबह जब नंदा उठी, तो डाक्टर का बिस्तर खाली था। वह परेशान बैठी रही। आज जीवन में पहली बार वह बिना कहे कहीं गए हैं। पर गए कहाँ ? किसीने उनको घर छोड़ते नहीं देखा था। कलेजा धकधका रहा था। एक-एक पल पहाड़ की तरह हो उठे थे। ज़रा-सा खटका होता और लगता वह आ गए हैं। दिन चढ़ते-चढ़ते एक कानिस्टेबिल आया। नंदा को थाने में बुलाया गया था। जब वह पुलिस थाने पर पहुँची तो डाक्टर की लिखी चिट वहाँ टेबिल पर रखी थी। प्रोफेसर सुधीर मौजूद थे। नंदा का माथा ठनक गया।

पुलिस थाने पर कोई मनोवैज्ञानिक ऐसा नहीं था, जो मृत प्राणी के मानस का विवरण बता सकता। इतना सही था कि डाक्टर नींद में ही उठकर घर से मीलों दूर चले गए थे। और थ्री डाउन कलकत्ता मेल के नीचे उनकी कटी हुई लाश मिली थी। उनके शरीर पर जो कुछ सामान मिला था उसके साथ एक पत्र भी था, जिसे लेकर नंदा हतबुद्ध-सी बैठी रह गई। पत्र में लिखा था—"डीन सिद्धांत की मृत्यु हो गई। आज कालेज बंद था। घर लौटते हुए नंदा के साथ मैंने सुधीर को देखा। वह मेरी पत्नी को एडल्टरी के लिए मनोवैज्ञानिक धरातल पर बरगला रहा था। जिसे जान लेने के बाद जीवन की इच्छा मुझमें नहीं रही...।"

सुधीर का बयान हुआ। बयान नंदा को भी देना पड़ा। पुलिस कमिश्नर अपनी छान-बीन में उलझे थे। डीन आफ् आर्ट्स प्रोफेसर सिद्धांत जीवित थे। लेकिन वह मन का आदिम जानवर जिसे डाक्टर वर्मा जीवन नहीं देना चाहते थे, उन पर हावी हो उठा था। उन पर छा गया था। विजयी हुआ था।

अपने लेक्चर को आगे बढ़ाते हुए मनोविज्ञान के प्रोफेसर मेहरा ने दोहराया—"क्या इसके बाद भी आप लोग शंका कर सकते हैं कि हम उस बर्बर युग से एक इंच आगे आ पाए हैं ? हो सकता है डाक्टर वर्मा का मानसिक धरातल और अधिक उलझा हुआ रहा हो, परंतु यह निश्चित है कि उनकी कुंठा केवल बौद्धिक ही नहीं, वरन् आत्मिक भी थी जिससे मुक्ति पाने के लिए उन्होंने आत्महत्या की।"

प्रगैतिहासिक मानव का चरित्र सबके सामने उभड़ आया था। गोष्ठी में भाग लेने वाले कई सदस्य प्रोफेसर मेहरा के इस कथन से सहमत नहीं थे। फिर भी सभी सदस्यों को कहीं-न-कहीं दूसरे कामों में जाना था, उनके आगे नाम कमाने के और भी महत्वपूर्ण अवसर थे। समय बचाने के लिए सभी ने मेहरा साहब की बात मान ली और मनोविज्ञान का एक नया चैप्टर उन सभी की मुहर के साथ इतिहास में जोड़ दिया गया कि डाक्टर वर्मा के केस ने यह साफ़-साफ़ सिद्ध कर दिया है कि जानवर अभी जीवित है।

• •

अनुक्रमणिका







मिस्टर रामलिंगम अय्यर बोले–"मैं जानता हूँ।"

मिस्टर त्रिपाठी ने पूछा–"आप जानते हैं?"

मजलिस क़रीब–क़रीब खतम होने जा रही थी, पर यकायक फिर नये सिरे से जम उठी। हफ़्ते में एक दिन सब आते हैं थोड़ा मिलने-जुलने, इसी दवाखाने में बैठते हैं। डाक्टर रामपाल सिंह के दवाखाने में शाम को कोई मरीज़ या ख़रीददार प्रायः नहीं आता। अजमेर के गोल मार्केट की भीड़ खतम हो गई है। फरवरी का आखिर है। अजमेर-शरीफ़ के मेले की भीड़ भी नहीं है। तब दुकानें बहुत रात तक खुली रहती थीं। बिक्री-बट्टा भी अब कोई खास नहीं है। ये कुछ दिन अब आराम के हैं।

बात उठी थी एक बंगाली लड़की को लेकर। एक बंगाली लड़की धर्मशाला में टिकी थी। साथ एक लड़का भी था। फिर हठात् न जाने क्यों पुलिस को कुछ शक होने से वह उन्हें पकड़ कर हवालात में ले गयी। फिर खबर पाकर बंगाल से लड़की के बाप आकर उसे लिवा ले गये।

डाक्टर रामपाल सिंह कह रहे थे–"मैं साहब तीस साल से प्रेक्टिस कर रहा हूँ यहाँ, इस तरह के केस, न जाने कितने देखे हैं, और सब में बंगाली लड़कियाँ–"

मिस्टर त्रिपाठी बोले–"बड़े रोमान्टिक होते हैं बंगाली, बड़े इमोशनल।"

डाक्टर रामपाल सिंह बोले–"ऐसी बात तो नहीं, मिस्टर त्रिपाठी। मेरे पास मेडिकल केनवेसर मिस्टर दास आते हैं। देखा है, बड़े चालाक आदमी। टी. ए. बिल बड़े हिसाब से बनाते हैं। झूठा टी. ए. बिल बनाने में एक्सपर्ट हैं।"

मिस्टर चौहान बड़ी तल्लीनता से सिगरेट पी रहे थे; बोले–"जो कुछ भी हो वे दिमाग के तेज होते हैं। गहराई से सोचने-समझने में उनका मुकाबिला कोई भी जाति नहीं कर सकती।"

मिस्टर त्रिपाठी ने कहा–"लेकिन हैं बड़े आलसी। मेहनत से घबराते हैं।"

फिर शुरू हुई बंगालियों की निन्दा। इन्डिया की सब जातियों में ऐसी अस्थिर जाति दूसरी नहीं। उनको खुश करना भी एक समस्या है। किसी का ऑर्डर नहीं मानना चाहते। तभी आर्मी में कोई मिलिटरी ऑफिसर बंगाली अर्दली नहीं रखना चाहता। बात–बात में आर्मी–कोड दिखाते हैं। ज्यादा अक्लमंदी भी मुसीबत का बाइस होती है। देखते नहीं हड़ताल लगी ही रहती है कलकत्ते में। बंगाल ब्रिटिश सरकार का सरदर्द था, अब दिल्ली सरकार का बन गया है। देख नहीं रहे राजगोपालाचारी...

आलोचना इकतरफ़ा चल रही थी अब तक। एकाएक मिस्टर रामलिंगम अय्यर बोल उठे–"पर एक विशेषता है बंगालियों में।"

सब मिस्टर अय्यर की ओर मुखातिब हुए। मिस्टर रामलिंगम अय्यर जयपुर स्टेट के चीफ़ एकाउन्टेन्ट थे। रिटायर होकर अब यहीं रह रहे हैं। यहाँ के समाज में उनकी शोहरत एक सच्चे और गंभीर व्यक्ति के रूप में है। सब ने एक स्वर में पूछा–"क्या विशेषता है?"



विमल मित्र

मिस्टर अय्यर संजीदगी के साथ बोले—"बंगाली ही असल प्रेमियों की जाति है।"

अपने कानों पर विश्वास न कर सके सब। इस बात पर विश्वास करने का सवाल नहीं था कि बंगाली प्रेमियों की जाति है या नहीं? सवाल था मिस्टर अय्यर की बात का। मिस्टर रामलिंगम अय्यर को उन्होंने अब तक एक गुरु-गंभीर गणितज्ञ के रूप में ही जाना है। सुबह पूजा-पाठ करके, तिलक-टीका लगा करके ऑफिस के काम में जुट जाते, लौटते शाम के बाद। जितने दिन नौकरी में थे किसीने उन्हें बाहर के समाज में शामिल होते नहीं देखा। बड़े आदमी हैं। हँसते कम हैं, डाट-फटकार ज्यादा करते हैं। अब भी कोई जरूरी काम आ पड़ने पर महाराजा खास सलाह के लिए कभी-कभी उन्हें बुलवा भेजते हैं। अब अजमेर शहर से दूर पहाड़ों के बीच मकान बनवाया हैं। हफ्ते में केवल एक दिन शाम के वक्त आकर बैठते हैं डाक्टर रामपालसिंह के दवाखाने में। मिस्टर त्रिपाठी आते हैं, मिस्टर चौहान आते हैं, मिस्टर जयसुरिया आते हैं। सब जयपुर स्टेट के रिटायर्ड अफसरान हैं। तरह-तरह की बातचीत, टीका-टिप्पणी करने के बाद फिर सब अपने-अपने घर लौट जाते हैं। हफ्ते में बस इसी एक दिन।

आज की यह बैठक भी खतम होने जा रही थी हमेशा की तरह। सब जब उठने को थे, तब यकायक उठी धर्मशाला में आयी बंगाली लड़की की बात। उसे और उसके साथी को पुलिस के पकड़ने की बात। लड़की के बाप के उसे ले जाने की बात। सब कुछ!

मिस्टर चौहान उठने वाले थे। मिस्टर अय्यर की बात सुनकर फिर बैठ गये। बोले—"हम राजपूत क्या प्रेमियों की जाति नहीं हैं? हमारे जाति की स्त्रियाँ मुगलों के जमाने में जो जौहर-व्रत करती थीं, वह क्या प्रेम नहीं?"

मिस्टर अय्यर बोले—"सो तो ठीक है। फिर भी आप लोग प्रेमियों की जाति नहीं। हम लोग भी नहीं हैं, मिस्टर चौहान।"

"क्यों?"

मिस्टर अय्यर बोले—"हमारे प्रदेश में शंकराचार्य पैदा हो सकते हैं, आपके यहां राणा प्रताप पैदा हो सकते हैं, लेकिन—"

"लेकिन क्या?"

"लेकिन चैतन्यदेव का जन्म तो केवल बंगाल में ही हो सकता है। और चंडीदास जैसे पोयेट का जन्म भी बंगाल की मिट्टी में ही संभव हैं।"

मिस्टर चौहान बोले—"पर हमारे प्रदेश में भी भाट हुए हैं, वे भी सब बहुत बड़े कवि हैं।"

मिस्टर अय्यर ने कहा—"नारियल किस जगह में नहीं होता, पर हमारे प्रान्त के नारियल इतने मशहूर क्यों हैं?"

डाक्टर रामपाल सिंह ने कहा—"तो क्या बंगाल के सब आदमी ही अधिक प्रेमी होते हैं?"

मिस्टर अय्यर बोले—"हाँ, कम से कम मेरी तो यही राय है।"

"आप यह बात क्या किताब पढ़कर कह रहे हैं या निजी अनुभव के आधार पर?"

मिस्टर अय्यर बोले—"पढ़ा है, देखा हैं। मैं जानता हूँ।"

मिस्टर त्रिपाठी ने पूछा—"कैसे जाना आपने? आपने देखा है?"

मिस्टर अय्यर ने कहा—"मैंने अपनी आँखों से देखा है।"

सब स्तब्ध हो गये इसे सुनकर। पहले भी बहुत दिन बहुत तरह की बातचीत हुई है यहाँ। ऐसा कोई भी विषय नहीं है जिसकी चर्चा इस बैठक में नहीं होती। लेकिन अधिकतर यहाँ गंभीर विषयों पर ही बातचीत होती है। राजनीति, समाजशास्त्र, एटोमिक एनर्जी, हिस्ट्री, मेटाफिजिक्स यही सब। वैशेषिक दर्शन से शुरू करके तत्वज्ञान के जितने विभाग हैं सब पर विचार होता है! और भी चर्चा के विषय हैं—धर्म, उपनिषद्, वेद और गीता।

पर आज अभावनीय ढंग से एक नया प्रसंग उपस्थित हुआ। एकदम प्रत्यक्ष, वास्तविक।

डाक्टर रामपाल सिंह बोले—"बताइयें न मिस्टर अय्यर, अपनी आँखों-देखी घटना को।"

मिस्टर त्रिपाठी बोले—"हाँ, बताइये मिस्टर अय्यर। अभी रात भी अधिक नहीं हुई है।"

सब ने घड़ी की ओर देखा। हाँ, रात अधिक नहीं हुई है। दिल्ली की लास्ट ट्रेन अभी-अभी गयी है। गोल मार्केट की दूसरी दूकानें बन्द हो गयी हैं बहुत पहिले। और सब तो पास ही रहते हैं। लेकिन मिस्टर अय्यर को तो बहुत दूर जाना पड़ेगा। उनका ड्राइवर बीमार है कई दिन से। वे खुद ही ड्राइव करके आये हैं। तो भी न जाने क्या हो गया! शायद इन बूढ़ों के मन में बहुत दिनों की भूली जवानी की कहानी सुनने की इच्छा जग गयी। सब जैसे अपनी जवानी के दिनों में फिर लौट आये।

मिस्टर अय्यर ने कहा—"आगरे में था तब मैं। नयी नौकरी थी। आज से क़रीब पचास साल पहले। तब मेरी उमर शायद बीस या बाईस रही होगी। नौकरी करता था मेरिना होटल में। मेरिना होटल अब नहीं है। वह होटल कब का बन्द हो गया है। पर उन दिनों वही होटल सबसे कास्टली था। सिर्फ अधिकतर योरोपियन टूरिस्ट ही वहाँ ठहरते थे। मैं था मनेजर।"

मिस्टर त्रिपाठी ने कहा—"इतनी कम उम्र में आप मनेजर बन गये?"

मिस्टर अय्यर ने उत्तर दिया—"उसकी भी एक कहानी है। होटल के मालिक थे रॉबिनसन साहब, मुझसे मुलाक़ात हुई थी त्रिविन्द्रम में। मेरी गणित की योग्यता देखकर उन्होंने मुझे नौकरी दी थी। इससे पहले दो साल नौकरी की थी एकाउन्टेन्ट ऑफिस में। उसके बाद होटल

[अनुक्रमणिका](#)





अनुक्रमणिका

का मैनेजर जब रिटायर हुआ, तब रॉबिनसन साहब ने मुझे उस पोस्ट पर बैठा दिया।"

मिस्टर त्रिपाठी ने पूछा–"एकदम से मैनेजर?"

मिस्टर अय्यर बोले–"हाँ, एकदम से मैनेजर, और उस कम उमर में। मैं हूँ साउथ इन्डियन, तामीलीयन। बचपन में जहाँ रहा, वह था एक गँवई गाँव, एकदम अरब सागर के किनारे। केवल काजू, सूखी मछली और नारियल ही जहाँ की पैदावार है। वहाँ से न जाने कैसे मैं सुदूर उत्तरी भारत में आगरे के मेरिना होटल का मैनेजर बन गया। इसे जब सोचता हूँ, तब मुझे खुद अचंभा होता है। थोड़ा सोचिये, उस जमाने में मेरी तनख़ाह थी दो सौ रुपये।"

डाक्टर रामपाल सिंह को बहुत विस्मय हुआ–"दो सौ रुपया! यानी आजकल के एक हजार।"

मिस्टर अय्यर बोले–"लेकिन उससे क्या? तब मेरा स्वप्न था दो हजार रुपये का।"

मिस्टर चौहान ने पूछा—"आप बचपन से ही बहुत एम्बिशश मालूम पड़ते हैं?"

मिस्टर अय्यर ने कहा–"सिर्फ मैं ही क्यों हमारी तरफ का हर आदमी होता है एम्बिशश। हम 'प्लेन लिविंग' में विश्वासी जरूर हैं, किन्तु 'हाई थिंकिंग' हमारी जाति के खून में है। शंकराचार्य पैदा हुए हैं हमारे प्रदेश में। उनका नाम ही आप लोग जानते हैं, पर हमारी तरफ का हर आदमी शंकराचार्य का एक-एक लघु संस्करण है। एक दिन जैसे बंगाल से चैतन्यदेव ने आकर शंकराचार्य के सब मतों को ध्वस्त कर दिया, वैसे ही मेरी भी सब ध्यान-धारणाएँ बदल दे गया एक बंगाली कपल। एक लड़की और एक लड़का—"

मिस्टर त्रिपाठी बोले—"क्या आप कहना चाहते हैं इससे आपकी क्षति हुई?"

मिस्टर अय्यर बोले–"क्षति?" फिर थोड़ा सोचकर बोले–"क्षति कौन कर सकता है किसकी मिस्टर त्रिपाठी? शंकराचार्य की ही क्या कोई क्षति कर सके हैं चैतन्यदेव? मैं हूँ मेथेमेटिशियन, फॉरमूला में विश्वासी —फॉरमूला के बंधन से मुक्ति मिली उस दिन, और उसके लिए वह लड़का और लड़की ही जिम्मेदार थे।"

"क्या मतलब?"

मिस्टर अय्यर ने कहा–"वही तो मेरी कहानी है। कहानी को बयान करते ही मतलब समझ जायेंगे आप लोग।"

डाक्टर रामपाल सिंह ने पूछा–"वे मैरिड थे या अनमैरिड?"

मिस्टर अय्यर ने जवाब दिया–"इस बात को बताने से पहले मुझे कुछ अपनी बात भी बतलानी पड़ेगी। कारण, यह एक बंगाली लड़के और लड़की की कहानी होने पर भी, असल में, यह मेरी अपनी कहानी है! वे तो केवल निमित्त हैं, तत्व तो हूँ मैं स्वयं। वे हैं थियोरी, मैं हूँ एकजाम्पल। वे हैं रूल, मैं हूँ रूल – ऑफ – थ्री।"

फिर थोड़ा ठहरकर बोले–"इसीलिए अपनी ही बात कहनी पड़ेगी पहले।"

यह कहकर थोड़ी देर न जाने क्या सोचते रहे मिस्टर अय्यर। अजमेर के गोल बाजार की सब दुकानें बन्द हो चुकी थीं। अजमेर–शरीफ़ की ओर के चौड़े कांक्रीट की सड़क पर अब फेरीवालों की भीड़ नहीं है।



अश्रु ना ढालो....

–चन्द्रकान्त सोनवलकर

अपने दर्पण की शपथ तुम्हें देता हूँ,
शृंगार करो सोलह, पर अश्रु ना ढालो

क्या चिन्ता करना साथी हमको मिलने की,
चिंता है केवल पुष्पों–सा ही खिलने की,
ये तो जीवन चलना है धर्म हमारा,
चिंता कर लो बस दो पग साथ चलने की,
सीपी आँखों से ये मोती यों ना ढालो।

अपने दर्पण की शपथ तुम्हें देता हूँ,
शृंगार करो सोलह, पर अश्रु ना ढालो॥

यदि दर्पण–सा ही स्वच्छ रूप पाया है,
यदि इसी रूप ने तुमको भी भरमाया है,
तो खूब सोच लो सच्ची बात सुनो,
ये चार दिवस की धूप कहीं पर छाया है
मन मंदिर में देवता ला आरती सजा लो।

अपने दर्पण की शपथ तुम्हें देता हूँ,
शृंगार करो सोलह, पर अश्रु ना ढालो॥

दर्पण तो सच्ची छवि ही अरे दिखावेगा,
रोके को भी ये शृंगार सजावेगा,
यदि रूप स्वयं ही मलिन हो चले साथी,
तो कैसे कवि मीठे गान सुनावेगा,
बस इसीलिए तुम मेरे संग–संग गा लो।

अपने दर्पण की शपथ तुम्हें देता हूँ,
शृंगार करो सोलह, पर अश्रु ना ढालो॥



तुम्हारी जय हो !

—सियाराम शरण प्रसाद

रात्रि का निस्तब्ध प्रहर। सन्नाटगी की भयंकरता से यह बात प्रकट होती थी; नगर-प्रान्त का जनरव निद्रा की शैय्या पर विश्राम ले रहा है। और कोमल विचार-जाल में उलझा सुकुमार देख रहा था अपने देश के प्रसिद्ध कवि को अनासक्त भाव से पोथी लिखते, जैसे धरती के कंठ की प्यास मिटती ही न हो इसलिए कज्जल घुंघराले बादल बारम्बार बरसकर, नन्हीं-नन्हीं बून्दों से उसे तृप्त कर देना चाह रहे हो। वह ऊब गया। उसने पूछा–" कवि इतने विकल क्यों हो? तुम बहुत प्रशंसित हो चुके हो, अब भी शान्त हो। विश्राम लो!"

कवि के भव्य भाल पर विचारों की अनेक रेखाएँ उगीं और क्षण में विलीन हो गईं। उसने मुस्करा दिया गम्भीरतापूर्वक और भूमि की ओर देखने लगा उस चींटी को, जो अपने छोटे से निर्बल तन पर बड़ा बोझ लादे भागी जा रही थी और पास ही एक बरसाती कीड़ा पूछ रहा था– " अरी चींटी, तू इतना परिश्रम व्यर्थ क्यों करती है? माँद में अभी भी इतना अन्न है कि तू उसीसे आजन्म आनन्द की बंशी बजा सकती है।"

चींटी ने उसकी अनभिज्ञता पर उपेक्षापूर्ण हँसी हँसकर उत्तर दिया– " केवल अपने लिए नहीं, समाज के लिए, आने वाले युग के लिए मैं सतत् प्रयत्नवान बनी रहती हूँ, परिश्रम करती हूँ, जिससे उनका जीवन सुखमय बने, मंगल मंडित हो। हमारे गर्भ में ही तो भविष्य है, इसे मैं कैसे भूल जाऊँ? प्रत्येक क्षण में अनुभव की कुछ किरणें प्राप्त होती ही रहती हैं, निष्क्रिय बन उनसे कैसे मुँह मोड़ लूँ। जीवन के छोटे से दीप से यथासंभव जब तक स्नेह है, आलोक सम्प्रारित कर सकूँ, यही मुख्य लक्ष्य है।"

बैठा हुआ युवक सुकुमार हतप्रभ हो गया। वह कवि के चरणों पर गिरकर कहने लगा–" सचमुच तुम महान् आदर्श के निर्माण कर्ता हो, तुम अमर हो। तुम्हारी जय हो!"

मेले में शरीक होने के लिए जिन तवायफ़ों ने आकर दूसरी मंजिल के कमरों को किराये पर लिया था, वे ज्यादातर अब वापस लौट गयी हैं। सो इधर का मुहल्ला, अब निस्तब्ध है। मिस्टर अय्यर इतने दिनों से यहाँ हैं। परन्तु इस तरह की कहानी पहले उन्होंने कभी नहीं कही थी। ऐसी चर्चा भी पहले नहीं हुई थी यहाँ। मिस्टर त्रिपाठी सवेरे जल्दी उठने के आदी हैं। मिस्टर चौहान भी सुबह मार्निंग-वाक करते हैं। इसलिए अधिक रात तक बाहर रहने के पक्षपाती नहीं हैं। मिस्टर रामलिंगम अय्यर भी अपने सब काम हमेशा नियम और समय से करते हैं। और सब की उमर ढल चुकी है। इसलिए कोई भी बाहर देर तक बैठकबाजी करना नहीं चाहता। लेकिन आज सब अपने नियम और समय की बात भूल गये। सब उत्कंठित होकर मिस्टर अय्यर की कहानी सुनने लगे।

मिस्टर अय्यर कहने लगे–" आप तो जानते हैं कि मैं कितने स्ट्रिक्ट प्रिन्सिपल्स का आदमी हूँ। यह आज की बात नहीं, ऐसा प्रायः बचपन से ही है। बचपन से ही मेरी आदत है कि सवेरे चार बजे उठता हूँ, स्नान करता हूँ, तिलक- छाप लगाता हूँ, निरामिष भोजन करता हूँ – यह मेरी हमेशा की चर्या है। होटल में नौकरी करने पर भी इसमें कभी अन्तर नहीं आया। योरोपियन होटल और मैं उसका मैनेजर। खाने – पीने का विराट आयोजन रहता है वहाँ। सब तरह की शराब, सब तरह के मछली-मांस – इसलिए अगर मैं चाहता तो सब तरह की मौज कर सकता था। लेकिन किसी दिन मैंने यह नहीं किया। आजीवन निरामिष भोजन करता आया हूँ, नियमित पूजा – पाठ करता आया हूँ, जी-जान से नौकरी करता आया हूँ, और साथ ही फारमूला से जीवन – जीविका सब कुछ पर विचार करता आया हूँ।"

थोड़ा रुक कर फिर बोले–" लेकिन एक दिन इस सुनिश्चित क्रम में अन्तर आया। इस सत्तर साल के जीवन में केवल एक दिन बेहिसाब हो गया, सिर्फ एक दिन के लिए मैं विचलित हो गया।"

डाक्टर रामपाल सिंह भी अवाक् हो गये; बोले–" विचलित हो गये?"

मिस्टर त्रिपाठी बोले–" आप भी विचलित हो गये!"

मिस्टर चौहान को भी जैसे यकीन नहीं हुआ। बोले–" क्या कह रहे हैं आप—!"

" हाँ, मैं विचलित हो गया।"

कहकर कुछ देर चुप रहे। फिर खुद ही बोल उठे–" हाँ, मैं भी विचलित हो गया। पर यह हुआ एक बंगाली लड़के और एक बंगाली लड़की की वजह से–और किसी बात के लिए नहीं। वे आकर ठहरे थे मेरिना होटल के सत्रह नंबर कमरे में—"

इस बार किसी ने कोई सवाल नहीं पूछा। सवाल पूछकर गैल्प की स्वाभाविक गति में बाधा नहीं दी किसी ने।

मिस्टर अय्यर कहने लगे—" उसका मुझे अभी तक पछतावा है, जिन्दगी के आखिरी दिन तक पछताता रहूँगा भी। लेकिन वही केवल एक दिन, सिर्फ एक बार, और कभी नहीं–"

मिस्टर अय्यर ने फिर कहना शुरू किया–" मेरी नौकरी तब तीन साल की हो चुकी थी। बिल्कुल जवान उमर। मैनेजर की हैसियत से मैंने खूब नाम भी कमा लिया है। रॉबिनसन साहब का आदमी हूँ मैं, और कामकाज में भी अच्छा हूँ–देखा जाय तो मैं ही होटल चलाता हूँ, मैं ही कन्ट्रोल करता हूँ सब कुछ, पूरा स्टाफ मेरे इशारे पर चलता

अनुक्रमणिका

है। आगरा का तब वही था बेस्ट होटल, सबसे कॉस्टली होटल। जो आराम या सुविधा आप चाहते हों सब आपको वहाँ मिलेगा। जाड़े में गरम जल, गरमी में बरफ़, आठ कोर्स का डिनर और लंच, तरह-तरह और विभिन्न देशों के ड्रिंक्स-ये सब आपको उपलब्ध हैं वहाँ। 'पे' करने पर ऐसी कोई भी चीज़ नहीं जो यहाँ आपको न मिल सके। होटल के इकहत्तर कमरे हमेशा मेरे ही रहते हैं। विभिन्न देशों के लोग आते हैं-पृथ्वी के सब देशों के टूरिस्ट-जर्मन, फ्रेंच, ब्रिटिश और न जाने कहाँ-कहाँ से। वे सब खास तौर से ताजमहल ही देखने आते हैं, आसपास की अन्य दर्शनीय चीज़ें भी देखते हैं, और सब देख-दाखकर फिर एक दिन होटल का बिल चुका कर चले जाते हैं। फॉरेनर्स के अलावा इस देश के लोग भी आते हैं-मदरासी, पारसी, गुजराती, पंजाबी। वे भी ताजमहल देखते हैं। पूर्णिमा की रात को ही विजिटर्स अधिक संख्या में आते हैं। आकर होटल में ठहरते हैं, किराये पर तांगा या टॅक्सी लेकर सारे दिन दर्शनीय स्थानों को देखते-फिरते हैं, फिर एक दिन अपना बोरिया-बिस्तर बाँध कर अपने-अपने घर की राह लेते हैं। मैंने सब कुछ देख लिया है-जो कुछ देखने लोग आगरे में आते हैं, मैं सब देख चुका हूँ। मैंने फतेहपुर-सिकरी देखा है। बादशाह अकबर की राजधानी देखकर मेरे मन में जो भावनाएँ उठीं उन्हें अगर आपके सामने न प्रकट करूँ तो ही अच्छा हो। दूसरे लोग जब बादशाह के अतुल ऐश्वर्य को देखकर वाह्-वाह् करते थे, मैं इसपर विचार करता था-रुपया-आना-पाई की दृष्टि से। मैं सोचता था इतनी रक़म खर्च करके इतनी बडी विलासिता करने की क्या जरूरत थी? ताजमहल को देखकर जब सब शाहजहाँ के 'एस्थेटिक सेन्स' की तारीफ़ करते थे, मैं अपने फॉरमूला से उसे पैसे की बरबादी के प्रतीक के अलावा और कुछ नहीं समझता था। मैं सोचता, थोड़ी शान-शौक़त अगर और कम होती तो क्या हर्ज होता? ताजमहल मेरे लिए सफ़ेद संगमर्मर से बनी कब्र के सिवाय और कुछ नहीं है। राजा-बादशाहों के विलासमय प्रदर्शन को देखकर मेरे मन में घृणा ही उपजी है उनके प्रति। मैंने रुपयों को



अरे भाई, मुझे ज़रा ऊँचा सुनाई देता है!

हमेशा रुपये की शकल में ही देखा है, और रुपये की कीमत देकर खरीदी हुई विलासिता को रुपये की बरबादी ही समझा है। आख़िर अपने प्रान्त में मैं जिन परिस्थितियों के बीच पला-पोसा हूँ, उसी तरह मेरी भावनाओं का विकास हुआ है, उसी तरह अपनी जिन्दगी गुज़ारी है, अभी तक मैं उसी धारणा को लेकर चलता आया हूँ और यह धारणा ठीक है-यही मेरा विश्वास है अब भी। मेरे लिए विवाह करना एक प्रकार की जरूरत है, जरूरत के अलावा कुछ भी नहीं। रुपये की तरह जीवन में विवाह करना भी एक जरूरत है, यही मेरे मत है। और इसे भी मैं सत्य मानता हूँ कि विवाह करने से भी काम चल सकता है, परन्तु रुपये के बिना नहीं। इस विषय में आप भी मुझसे जरूर सहमत होंगे। आप लोग ही क्यों, इस देश में जितनी जातियाँ हैं सबका यही विश्वास है। गुजराती, पंजाबी, भाटिया, मारवाड़ी-सब का। अकेले शायद बंगाली ही इस मामले में अलहदा हैं। तभी बंगालियों को ही देखता था ताजमहल के विषय में अधिक उच्छ्वास प्रकट करते हुए। ताजमहल के पीछे प्रेम का जो करुण इतिहास है, वह बंगालियों को जितना विकलित करता है, उतना मैंने अन्य किसी जाति को होते नहीं देखा। सुना है, 'पोयेट' टैगोर ने ताजमहल पर एक बहुत बड़ी कविता ही लिख डाली है। पता नहीं कहाँ तक ठीक है यह। मैं 'पोयेट्री' नहीं पढ़ता, पोयेट्री पढ़ कर मुझे कभी आनंद नहीं आया। उससे अधिक रस और आनन्द मुझे मिलता है केलकुलस के प्रश्न हल करके। मज़ा मिला है फारमूला निकालकर। लेकिन एक दिन-सिर्फ़ एक रात के लिए मेरा यह ख्याल बदल गया था। एक दिन के लिए मैं भ्रष्ट हो गया था अपने पथ से, एक दिन के लिए मैं फिसल गया था। और इसके लिए जिम्मेदार हैं एक बंगाली लड़का और एक बंगाली लड़की। वे आगरा आये थे ताजमहल देखने, और मेरिना होटल के सत्रह नंबर के कमरे में टिके थे-"

मिस्टर अय्यर फिर कहने लगे-"यह घटना बहुत कुछ महाकवि वाल्मीकि के रामायण लिखने के समानवाली घटना से मिलती है। उस दिन सुबह मैं यथानियम ऑफिस में बैठा काम कर रहा था। तूफानमेल आगरा सिटी स्टेशन पर दिन के ग्यारह बजे आता है। कलकत्ते से बहुत से टूरिस्ट इसी ट्रेन से आते हैं। हमारे होटल का गाइड पेसेंजर लाने स्टेशन पर जाता है। कार्ड लेकर मोतीलाल स्टेशन पर खड़ा रहता है, फिर टूरिस्टों का एक दल लाकर मेरे ज़िम्मे छोड़ जाता है। मैं उनके रहने के कमरे ठीक करता हूँ, उनके आराम-सहूलियत का इन्तज़ाम करता हूँ। किसके नाम कितने लंच, कितने ब्रेकफास्ट, कितने डिनर, किसने कितने टब गरम पानी लिया, किसने कितने आफ्टरनून टी लिया-सब मेरे ऑफिस के रजिस्टर में दर्ज हो जाता। फिर वे तांगे पर चढ़कर चले जाते हैं। कोई जाता है दिल्ली, कोई मथुरा, कोई कलकत्ता, कोई जयपुर या कोई माउंट आबू। मेरी तब उमर कम थी इससे क्या, सब गाइड-बुक बार-बार देखते-देखते कंठस्थ हो गयी थी। अगर कोई टूरिस्ट पूछ बैठता कि आगरे में देखने की क्या-क्या चीजें हैं, मुझे तुरंत इसका जवाब देना पड़ता। कहता-ताजमहल। किसी-किसी को इसकी कहानी भी सुना देता। एक दिन बादशाह और बेगम शतरंज खेल रहे थे। सहसा मुमताज महल पूछ बैठीं-'अच्छा जहाँपनाह, मैं अगर पहले मर जाऊँ तो तुम मेरे लिए क्या करोगे?' बादशाह शाहजहाँ

ने कहा था –'अगर ऐसा हुआ, तो तुम्हारी यादगार में कुछ ऐसा करूँगा, जिसे दुनिया अवाक् विस्मय से चिर काल तक देखेगी।' और भी कहता हूँ सिकन्दरा की बात। छः मील दूर लाहौर और दिल्ली की सड़क पर बादशाह अकबर की समाधि। अकबर ने स्वयं इसका आरंभ किया था, लेकिन खतम किया जहाँगीर ने। इसके भीतर अकबर की समाधि के अलावा है अकबर की लड़की आरामबानू की कब्र, और है जहाँगीर के एक छः महीने की लड़की की कब्र। और है एतमादुद्दौला, नूरजहाँ के पिता की कब्र। और भी हैं आगरा फोर्ट, फतेहपुर-सीकरी। फतेहपुर-सीकरी की लम्बी लिस्ट मुझे हिब्ज थी। बुलन्द दरवाजा, हमाम, अकबर की तुर्की बेगम का कमरा, दीवान-ए-आम, बेगमों के साथ दस-पच्चीस खेलने की जगह, बादशाह-बेगम के 'हाइड एण्ड सीक' खेलने की जगह, हिरन-मीनार, तेरह-मोहरी, जोधाबाई के गुरु का मंदिर, मरियम बेगम का कमरा, सलीम चिश्ती की कब्र–सब बतला जाता था मैं जबानी एक-एक करके। खूब रंग चढ़ा करके बयान करता था, जिससे और अधिक टूरिस्ट आयें, होटल की आय बढ़े।

किन्तु एक दिन हठात् अन्य यात्रियों के साथ आये एक लड़का और एक लड़की। लड़का साढ़े पांच फीट लंबा और लड़की भी थी काफी खूबसूरत। मेरे होटल का एजेन्ट मोतीलाल ले आया उन्हें मेरे ऑफिस में।

मोतीलाल ने कहा–" ये तीन दिन रहेंगे। तीनों दिन ताजमहल देखकर ही चले जायेंगे।"

पूछा–" कहाँ से आ रहे हैं आप लोग ?"

लड़का बोला–" कलकत्ते से।"

समझ गया बंगाली हैं। लड़की भी है बंगाली। बड़े स्मार्ट हैं दोनों। साथ है सिर्फ एक सूटकेस। और कुछ नहीं। ऐसे यात्री पहले भी आये हैं कोई खास बात नहीं। आते हैं, तीन–चार दिन रहते हैं फिर चले जाते हैं। आगरे में तीन–चार दिन से अधिक देखने की कोई चीज़ भी नहीं। लड़का कीमती सूट पहने है। सिगरेट मुँह में है। लड़की की आँखों में जैसे बिजली की तड़पन है। मेरे ऑफिस में खड़े होकर ही बातें करने लगे दोनों। सीट–रेंट की बात हुई, खाने–पीने की बात हुई।

मैंने पूछा–" आप लोग तीन ही दिन रहेंगे या और अधिक ?"

लड़की बोली इस बार; जैसा सुंदर चेहरा है, वैसा ही सुन्दर कंठ-स्वर है। जूड़े में एक गुलाब का फूल। बोली–" तीन दिन से अधिक देखने लायक़ कोई चीज है क्या आगरे में ?"

बोला–" है क्यों नहीं, फतेहपुर–सीकरी देखने में ही पूरा दिन लग जाता है। अगर कोई अच्छी तरह देखे तो। इसके अलावा हैं, एतमादुद्दौला, सिकन्दरा, आगरा फोर्ट, और ताजमहल तो है ही। ताजमहल तो रोज़ देखनेपर भी खतम नहीं होता।"– कहकर लंबी याद की हुई लिस्ट सुना गया। कहाँ का क्या इतिहास, कहाँ का क्या रोमान्स है, कहाँ कौन–कौनसी घटना घटी है। इतिहास और गाईड–बुक से याद की हुई बातें सब।

बोला–" बैठिये।"

सामने की कुर्सियों पर दोनों बैठ गये। कल रात में कलकत्ते से चढ़े हैं ट्रेन में और अब दिन के बारह बजे हैं। पूरी रात ट्रेन में गुजारने के बावजूद भी थकावट का कोई चिन्ह नहीं है उनके शरीर में। बिलकुल फ्रेश मालूम पड़ते हैं। शायद ट्रेन में ही नहा-खा-टायलेट करके और कपड़े बदल कर उतरे हैं एकदम।

फिर बोला–" आज तो पूर्णिमा है। आज रात को ताजमहल देख आइये।"

लड़की न जाने क्या सोचने लगी। जैसे कोई दुविधा हो उसके मन में। बोली–" आज पूर्णिमा है ?"

बोला–" हाँ, आज ही पूर्णिमा है, तभी विजिटर्स की इतनी भीड़ है होटल में—"

लड़की जैसे डर गई। बोली—" बहुत भीड़ है शायद आपके होटल में आज ?"

बोला–" आज है भीड़ थोड़ी, बात यह है कि हमारा होटल ही यहाँ बेस्ट है न, तभी जो लोग थोड़ा कमफर्ट चाहते हैं वे हमारे यहाँ ही ठहरते हैं। हमारा खाना अगर आप लोग एक दिन खायें तो समझ जायेंगे—"

बीच ही में लड़का बोल उठा–" हम लोग खाने तो नहीं आये हैं यहाँ।"

लड़की ने भी कहा–" हाँ, खाने के लिए हम लोग कलकत्ते से इतनी दूर किराया खर्च करके नहीं आये हैं।"

लड़का बोला–" असल में हम आये हैं ताजमहल देखने।"

लड़की ने कहा–" ताजमहल देखने के लिए ही आपके होटल में ठहरे हैं। हो सकता है, दिन में कहीं बाहर ही खाना खा लें जहाँ पर भी हो। मुझे खाने की उतनी फ़िकर नहीं है।"

अनुक्रमणिका

लड़के ने कहा–" मुझे भी नहीं, सिर्फ़ रात को कई घंटे विश्राम के लिए होटल के आश्रय की जरूरत है।"

" हाँ, रहने–खाने के लिए तो कलकत्ते में मकान मौजूद हैं ही। उसके लिए तकलीफ़ बरदाश्त करके इतनी दूर क्यों आयेंगे ?"

लड़के ने कहा–" देखिये मिस्टर मैनेजर, हमारे खाने की इतनी चिन्ता आप न करें। हम अभी यंग हैं। वह चिन्ता होनी चाहिए बूढ़ों के लिए। आप एक उपकार करेंगे हमारा ?"

उत्सुकता से मैंने पूछा–" क्या ?"

हठात् लड़की बोल उठी–" हमारे कमरे में एटेच्ड बाथरूम चाहिये।"

बोला–" मेरिना होटल में आपको कोई असुविधा नहीं होगी–आपको जो कुछ जरूरत हो सब मुझे बतावें। अपने कमरे में बैठे ही सब चीजें आपको मिल जायेंगी।"

लड़की बोली–" थोड़ा एकान्त तो होगा न ?"

बोला–" आपके लिए मैंने सत्रह नंबर का कमरा ठीक किया है। कोई असुविधा नहीं होगी आपको वहाँ, देख लीजिये–"

फिर मैंने कहा–" अधिक दिन रहते तो कुछ कन्सेशन कर देता।"

लड़के ने कहा–" अधिक दिन रहने की गुंजाइश नहीं–पांच दिन की छुट्टी है केवल।"

लड़की ने कहा–" मेरा कॉलेज भी तेरह तारीख को खुलेगा।"

मैं बोला–" तो फतेहपुर–सीकरी नहीं देखेंगे ?"

लड़की बोली–" नहीं।"

लड़के ने भी कहा–" नहीं। हम ताजमहल देखने ही आये हैं।"

लड़की भी बोली–" हम केवल घूम–फिर कर ताजमहल ही देखेंगे–भोर में देखेंगे, सुबह देखेंगे, दोपहर को देखेंगे, दिन ढले देखेंगे, शाम को देखेंगे, रात को देखेंगे, अंधेरे में भी देखेंगे, चांदनी में भी देखेंगे–यह हम दोनों की बहुत दिनों की साध है।"

मैं बोला–" सिकन्दरा ? बादशाह अकबर की समाधि ?"

लड़की ने कहा–" नहीं।"

बोला–" एतमादुद्दौला ?"

लड़की बोली–" नहीं साहब, नहीं। ताजमहल को देखने से ही हमारा सब कुछ हो जायगा।"

मिस्टर अय्यर बोले–" सोचिये तो, बंगालियों की कैसी विचित्र धारणा होती है ! वे प्रेम के अलावा और कुछ नहीं समझते। और भी तो बंगाली बोर्डर आये हैं न, प्रायः सभी में यही बात देखी है मैंने। 'ताजमहल' शब्द ही उन्हें पागल बना देता है। कितनी बार देखा है, बंगाली आये हैं होटल में, घूम–फिर कर केवल ताजमहल को ही देखा है उन्होंने। देख कर थकते नहीं, अघाते नहीं। एक अजीब जाति है। फ्रेंच, जर्मन, अंग्रेज, गुजराती, मारवाड़ी, पारसी–सब आते हैं–वे ताजमहल का आर्किटेक्चर देखते हैं, इसके निर्माण के व्यय का विचार करते हैं–लेकिन कोई इतनी ज्यादती नहीं करता।

तो वैसी ही व्यवस्था हुई।

लड़के ने कहा–" एक विश्वासी ताँगावाला भी ठीक कर दीजिये, जो हमें इन तीन दिन घुमा–फिरा सके।"

बोला–" एक ही ताँगे में–न देंगे।"

लड़के ने कहा–" हाँ, कितना लेगा ?"

लड़की ने कहा–" आज अभी खा–पीकर निकलेंगे, रातको आठ बजे के क़रीब लौटेंगे, फिर खा–पीकर निकलेंगे, और पूनों का ताज देखकर रात के बारह बजे तक लौट आयेंगे। इसके बाद–कल भोर के पाँच बजे फिर निकलेंगे। यही क्रम रहेगा, फिर परसों शाम की गाड़ी में हमें चढ़ा देगा।"

एक तांगेवाले को बुलाकर मैंने सब बंदोबस्त कर दिया। पन्द्रह रुपये रोज पर तय हुआ। प्रातःकाल के पांच बजे से लेकर रात के बारह बजे तक। तीन दिन के पैंतालिस रुपये। उसे पन्द्रह रुपये एडवांस भी दे दिये लड़के ने।

लड़के ने कहा–" उसे थोड़ा इन्तज़ार करने को कहिये, हम अभी खाना खाकर निकलेंगे।"

मिस्टर अय्यर बोले–" उस समय यहीं तक हुआ। फिर सत्रह नम्बर कमरे में उन्हें भेजकर मैं अपना काम करने लगा।"

मिस्टर चौहान बोले–" इसके बाद ?"

मिस्टर अय्यर ने कहा–" रात शायद बहुत हो गयी है।"

डाक्टर राजपाल सिंह बोले–" होने दीजिये, कहानी खतम किये बिना आज आपको छुट्टी नहीं मिलेगी।"

मिस्टर अय्यर बोले–" आप लोगों को तो शुरू में ही मैंने बता दिया है कि यह मेरे अधःपतन की कहानी है, चाहे वह एक क्षण के लिए हो चाहे एक रात के लिए ही हो। सारी ज़िन्दगी मुझे इसका पछतावा रहेगा। बहुत से लोग मुझसे पूछते हैं, मैंने बंगालियों को कभी कोई नौकरी क्यों नहीं दी ? मैंने इसका जवाब अलबत्ता नहीं दिया, लेकिन इसका एकमात्र कारण है मेरिना होटल की वह घटना। जयपुर स्टेट में जब मैं था, मैंने बहुत सी जातियों के लोगों को नौकरी दी थी अपने ऑफिस में–पर बंगालियों को कभी कोई नौकरी नहीं दी। मेरे मन में उस दिन की उस पचास साल पहिले की घटना के लिए आज भी एक चुभन जैसी हो रही है।"

मिस्टर त्रिपाठी बोले–" फिर !"

मिस्टर अय्यर ने कहा–" फिर क्या, मैं तो उनकी बात भूल ही गया था काम के बोझ से। शाम को तांगे वाले को देखकर याद आयी। होटल के सामने तब भी वह उसी तरह खड़ा था तांगा लेकर।"

पूछा–" साहब को ताजमहल दिखाया ?"

तांगेवाले ने कहा–" नहीं हुज़ूर, साहब तो अभी कमरे से बाहर ही नहीं निकले।"

" अच्छा ! तभी तो ताजमहल देखने के लिए निकलने की बात थी। और अब तो शाम हो चली !"

मैंने कहा–" रुक जाओ थोड़ा, साहब सारी रात ट्रेन में आये हैं, शायद आराम कर रहे हों।"

तांगेवाला वैसे ही खड़ा रहा।

अपने भोजन आदि से निवृत्त होकर जब मैंने बरामदे से बाहर की ओर देखा तो तांगेवाले को तब भी खड़े पाया।

बेयरों से मैंने पूछा। उन्होंने कहा–" सत्रह नंबर कमरे में शाम को चाय–टोस्ट दिया गया था और अब रात का खाना भी भेज दिया गया है।"





मैंने कहा– "पूछो, तांगावाला क्या खड़ा रहेगा ?"

बेयरे ने पता लगाकर कहा– "साहब ने कहा है, ताँगा अब लौट जाय। कल सवेरे ठीक पांच बजे तयार मिले, तब साहब ताजमहल देखने जायेंगे !"

तांगेवाले को मैंने यह बात बता दी। सवेरे पांच बजे जरूर हाजिर रहे, थोड़ी भी देर नहीं।

तांगावाला चला गया। मैं भी सोने चला गया अपने कमरे में। अगले दिन यथानियम सवेरे चार बजे उठा। पूजा–पाठ किया, तिलक लगाया। भोजन करके ऑफिस आया। देखा–तांगावाला तब भी खड़ा है।

पूछा– "साहब को ताजमहल दिखाया ?"

तांगावाला बोला– "साहब तो नहीं गये हुजूर, मैं सवेरे पांच बजे से खड़ा हूँ।"

इस बार मैं भी अवाक् रह गया। तब क्या सो गये दोनों ? ठीक समय पर नींद नहीं खुली होगी। लेकिन उन्हें सवेरे जगा देने की व्यवस्था भी तो थी। बेयरे को पूछा। पता चला; चाय–ब्रेकफास्ट कमरे में दे आया था सवेरे।

बेयरे ने कहा– "साहब ने कहा है खा-पीकर निकलेंगे। तांगेवाले को रुकने को कहा है।"

तांगेवाले से मैंने कहा–"और थोड़ा रुक जाओ, साहब खाना खाकर दोपहर को निकलेंगे।"

लेकिन दोपहर को भी वे नहीं निकले। मैं खाना खा आया। ताँगावाला भी अपने घर से खा आया। दूसरे बोर्डरों ने, जो बहुत दूर से आये थे, एक दिन में बहुत कुछ देख लिया। उनमें से कोई–कोई तो होटल का बिल चुका कर चला भी गया यहाँ से। लेकिन दोपहर ढल कर दिन डूबने का वक्त आया। फिर शाम हुई। तो भी नहीं। इस बीच में एक बार चाय की फरमाइश हुई सत्रह नंबर में से। चाय अन्दर गयी। दो दिनों से चाय, ब्रेकफास्ट, लंच, डिनर–सब कुछ अंदर भेजे गये। पर वे बाहर नहीं निकले। अंदर ही रहे वे दिन-रात। बाहर से खिड़की–दरवाजे सब बंद। सिर्फ खाना देते वक्त दरवाजा खुलता है और फिर बन्द हो जाता है। रात हो गयी। रात में शायद ताजमहल देखने जायें, यह सोच कर ताँगावाला रुका रहा ताँगा लेकर। रात के बारह बजे तांगेवाला धीरे–धीरे चला गया। मैं भी सारे दिन के काम के बाद बिस्तर पर पड़ गया। लेकिन नींद नहीं आयी। जितनी बार मैं अपने मन में दूसरी बातों को सोचने की कोशिश करता उतनी ही बार लौट-फिर कर उन दोनों की बात ही मेरे मन में आती। कौन हैं वे ? क्या कर रहे हैं कमरे के अन्दर दरवाजा बन्द करके ? क्यों इस तरह पैसा बरबाद कर रहे हैं बेकार तांगेवाले को खड़ा रख के ? कह क्यों नहीं देते कि तांगे की जरूरत नहीं ? तीस रुपये बेकार गये। एक रुपये में अगर सोलह आने हैं तो तीस रुपये में कितने आने हुए ? हमेशा गणित के नियमों से मैंने जीवन को मापा है, फॉरमूला से ही जीवन का विचार करना सीखा है छुटपन से। इस बेहिसाबी ने मुझे अचंभे में डाल दिया। इतना अपव्यय ! घंटा–मिनिट से मिलाकर रुपया–आना–पाई का तारतम्य निकालना सीखा है मैंने। तभी ऐसी बेचलनी मुझे नहीं भायी। अपने अतीत, वर्तमान और भविष्य की परिक्रमा करके भी ऐसी खामखयाली का कोई मतलब नहीं निकाल सका उस रात को। यह कैसे संभव है ? ऐसा तो न कभी देखा था और न इसकी कल्पना ही की थी। यह कैसा जीवन है ! ये किस देश के आदमी हैं ?

सारी रात मुझे नींद नहीं आयी। बिस्तर पर पड़ा तड़पता रहा। सवेरे ताँगे के शब्द को सुनकर उठ पड़ा। खिड़की में से देखा ताँगा खड़ा है। आज का दिन बीतने पर उसे पूरे पेंतालीस रुपये मिलेंगे। बिना मेहनत किये। खड़े-खड़े।

बिछौना छोड़कर उठ बैठा। फिर बरामदे में टहलने लगा। फिर धीरे-धीरे चलते-चलते न जाने कब सत्रह नंबर कमरे के सामने आ गया मुझे खुद ही पता नहीं। मालूम पड़ा, जगे हैं भीतर वे दोनों। उनकी धीमी-धीमी बातचीत सुनाई दे रही थी। धीरे-धीरे चल-फिर रहे थे अंदर। साफ़ मालूम हो रहा था कि भीतर जो लोग हैं, वे जगे हैं, सो नहीं रहे हैं।

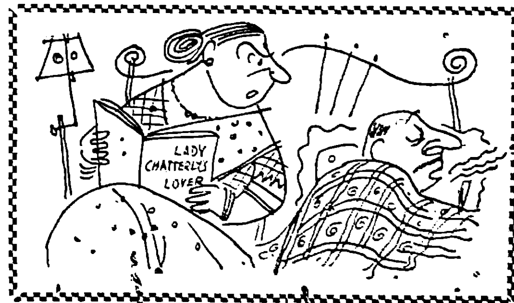
फिर दिन निकला। दिन का काम शुरू हुआ होटल में। फिर नये बोर्डर, नये चेहरे। फिर वही टी, ब्रेकफास्ट, लंच, डिनर का एकाउन्ट। फिर वही दैनिक कार्यक्रम। फिर वही फार्मूला। लेकिन उस दिन मेरा सब कुछ गड़बड़ हो गया। लेजर चेक करने जाकर किसी तरह हिसाब नहीं मिला पाया। किसी भी तरह फॉरमूला नहीं लगा पाया। बार-बार गलती होने लगी। बार-बार ध्यान बटने लगा। बचपन से ही हिसाब-किताब में मैंने नाम कमाया था, रॉबिनसन साहब मुझे चाहते थे, इस होटल की नौकरी और सामने और भी प्रोमोशन—सब कुछ जैसे उस दिन निस्सार मालूम पड़ने लगा। मन में आया, मैं एक दूर देश का वासी हूँ, इतनी दूर से रुपये के मोह में आया हूँ। सब झूठ है। रुपया ही सब कुछ नहीं है। फारमूला ही सत्य नहीं है केवल। और भी कुछ है संसार में, और भी है कुछ सत्य। और भी है कुछ महत्व का।

उस दिन दोपहर को भीतर से फिर लंच का ऑर्डर आया। दरवाजा बन्द हो गया फिर। फिर शाम को ही आठ बजे डिनर। डिनर के बाद बाहर निकले वे। एकदम मेरे सामने उपस्थित हुए।

मैं उनके चेहरे देखकर चमक उठा। लेकिन मेरे मुँह से कोई बात नहीं निकली। उनकी तरफ़ जैसे अच्छी तरह देखने में मुझे ही लाज आने लगी।

लड़के ने हँसते हुए पूछा–"क्या हुआ मिस्टर मैनेजर, आपकी तबीयत खराब है क्या ?"

लड़की ने भी कहा–"अरे, आपको तो पहचाना ही नहीं जा रहा है। एकदम, क्या हुआ है आपको ?"



क्या कहता उन्हें मैं। मेरा सारा शरीर थर-थर काँप रहा था, तब। जैसे मेरी चेतना लुप्त हो गयी हो। जैसे मेरी धड़कन बन्द हो गयी हो, मैं मृत, स्थिर, निश्चल हो गया हूँ एकदम।

मिस्टर चौहान बोले–"फिर क्या हुआ?"

मिस्टर त्रिपाठी बोले–"इसके बाद क्या हुआ बताइये मिस्टर अय्यर! ताजमहल देखने गये वे?"

डाक्टर रामपाल सिंह ने कहा–"आपने एक एस्पिरिन की गोली क्यों नहीं खायी?"

मिस्टर अय्यर ने कहा–"नहीं डाक्टर, एस्पिरिन से मेरा कुछ नहीं होता तब।"

डाक्टर रामपाल सिंह बोले–"जरूर होता–एस्पिरिन से सब ठीक हो जाता।"

मिस्टर चौहान बोले–"एस्पिरिन की बात रहने दीजिये। क्या किया यही कहिये। ताजमहल देखने गये?"

मिस्टर अय्यर ने पूछा–"आप लोग ही बताइये, क्या किया उन्होंने?"

मिस्टर चौहान ने कहा–"और एक दिन ठहरे होटल में?"

मिस्टर अय्यर बोले–"नहीं।"

मिस्टर त्रिपाठी ने पूछा–"तब क्या ताजमहल देखने निकल गये तभी।"

मिस्टर अय्यर बोले–"नहीं, यह भी नहीं।"

डाक्टर रामपाल सिंह ने कहा–"आपने अगर तभी दो टिकियाँ एस्पिरिन ले ली होती तो देखते सब ठीक हो जाता–सारी रात नींद नहीं आई थी न?"

मिस्टर त्रिपाठी बोले–"उस बात को जान दीजिये। उन्होंने ताजमहल देखा या नहीं, यही बताइये मिस्टर अय्यर।"

मिस्टर अय्यर ने कहा–"वे उसी तांगे में बैठकर रात की ट्रेन से कलकत्ता चले गये। लेकिन उन्होंने ताजमहल क्यों नहीं देखा यह सोचकर तब मैंने सिर नहीं खपाया। या इन तीन दिनों में बंद दरवाजे के अंदर उन्होंने एक और नया ताजमहल बनाया था या नहीं, इस पर भी मैंने कुछ नहीं सोचा। उनके चले जाने के बाद ही मुझे और भी बुरा लगने लगा।"

डाक्टर रामपाल सिंह ने कहा–"रात में नींद न आने से यह तो होगा ही।"

मिस्टर अय्यर बोले–"नहीं, इसलिए नहीं। मेरे मन में आया, मैंने अपने जीवन में कुछ भी नहीं पाया है। होटल की दो सौ रुपये तनखाह, अंग्रेजी होटल के मैनेजर का पद, आजीवन गणित के प्रश्नों पर इतना परिश्रम–सब झूठ है। मुझे एक जबरदस्त धक्का लगा। और उसी रात को मेरा पतन हुआ। जिन्दगी में जो काम मैंने कभी नहीं किया उस दिन–उस रात को।"

मिस्टर त्रिपाठी ने पूछा–"क्या किया?"

अजमेर की सड़कें निस्तब्ध हो गयी थीं। कई कुत्ते सिर्फ गन्दे नाले के किनारे-किनारे घूमते हुए चिल्ला रहे थे। आखिरी ट्रेन में यात्रियों को पहुँचाकर तांगे लौट चुके थे अब तक। इतनी रात गये कभी भी डाक्टर रामपाल सिंह का दवाखाना नहीं खुला रहता।

मिस्टर अय्यर ने कहा–"सुना है न जाने कब, किस युग में, महाकवि वाल्मीकि ने एक दिन क्रौंच-मिथुन की घटना से व्यथित होकर रामायण की पुस्तक ही लिख डाली थी। नहीं जानता वे किस प्रदेश के निवासी थे–वे बंगाली थे या नहीं यह भी नहीं जानता। लेकिन मैंने एक और अजीब काम किया।"

"क्या?"

मिस्टर अय्यर कहने लगे–"मैं चुपचाप उसी सत्रह नंबर के कमरे में घुसा। तब सामने के बरामदे में अंधेरा हो गया था। सब की नजर बचाकर उस कमरे में घुसकर चारों ओर देखने लगा। बिस्तर-तकिये–सब अस्तव्यस्त। सिर्फ एक गुलाब का फूल पड़ा है बिछौने पर। जूड़े में लगा देखा था इसी फूल को। मुझे न जाने क्यों बड़ा सुन्दर लगा वह फूल देखने पर। ऐसा लगा जैसे कि वह फूल लाखों रुपये से भी अधिक कीमती है, अधिक आकर्षक है।

"बेशक उस दिन मेरी मति मारी गयी थी। नहीं तो ऐसा क्यों होता मुझे। मैं उस सूखे फूल को लेकर अपने कमरे में आया। दूसरे दिन तो पूजा–पाठ करता था उस वक्त। उस दिन वह नहीं कर सका। उस फूल को एक कांच के ग्लास में रखकर मैं सामने कुर्सी पर बैठ गया। फिर होटल की लाइब्रेरी से फिटजरेल्ड की 'उमर खय्याम' मँगवायी। पाठ चला फिर। जिन्दगी में जो कभी नहीं किया, वही किया तब मैंने। सामने वह फूल और हाथ में कविता की पुस्तक। रात भर में खतम की सारी किताब। पढ़ते–पढ़ते ऐसा लगा, जैसे कि शाहजहाँ और मुमताज महल ने फिर तीन सौ साल बाद इस पृथ्वी पर नया जनम लिया है। इस होटल के सत्रह नंबर के कमरे में एक नये ताजमहल की रचना कर गये हैं।......

मिस्टर त्रिपाठी ने पूछा—"फिर?"

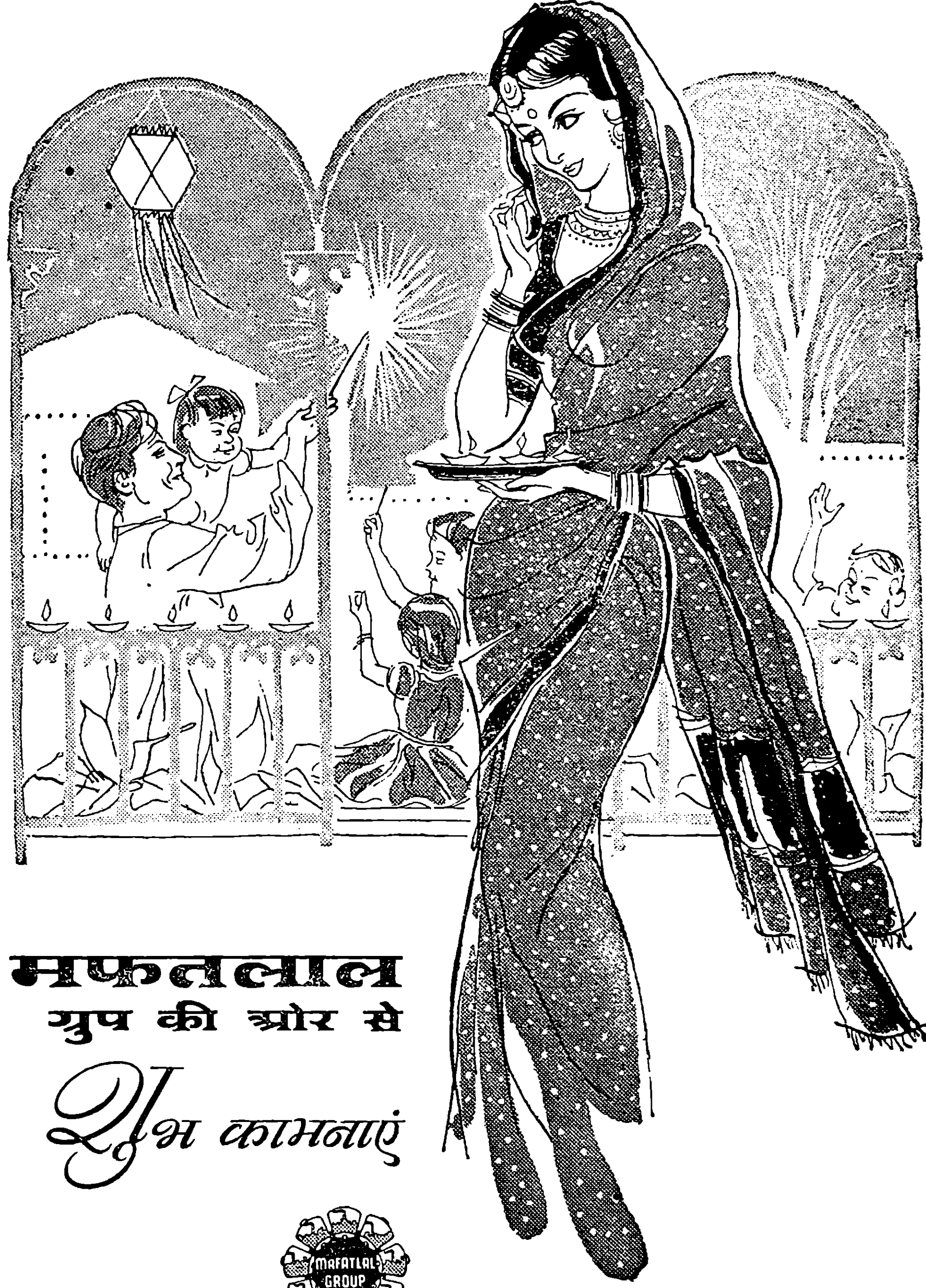
मिस्टर चौहान ने कहा–"फिर? आपका पतन कैसे हुआ यह नहीं बताया?"

मिस्टर अय्यर ने कहा–"उस बात को आजतक कोई नहीं जानने पाया है। सिर्फ अगले दिन होटल में एक बोतल ब्रांडी का हिसाब किसी तरह नहीं मिल पाया।"

अनु.: **रसिक बिहारी**



ईश्वर अपने बच्चों के नेत्रों को कभी-कभी आँसुओं से धोता है ताकि वे उसकी प्रकृति और आदेशों को सही-सही पढ़ सकें।





HIN
दिपा. १२

बताया जाता है कि नारी यह अर्धांगी है; मगर व्यवहारमें अनुभव बिलकुल विपरीत है। उसे हमेशा समानाधिकार न देकर सूत्रोंसे बाँधकर उसपर दास्यत्व लादा जाता है!......अपने शत्रुको समझनेके लिए हर सयानी नारी पढ़े...

सुभगा वात्स्यायनी–वर्णित



प्रस्ताविका : दमयंती सरपटवार

महर्षि मल्लनाग वात्स्यायन ईसवी सन् की चौथी सदी में पैदा हुए। उन्होंने अपने गुरु श्वेतकेतु, बाभ्रव्य, दत्तक, चारायण, घोटकमुख, गोनदीय, गोणिकापुत्र तथा कुचुमार इनसे कामशास्त्र का विशेष अध्ययन प्राप्त किया। इसी भूमि में प्रत्यक्ष अनुभव लेकर उन्होंने अपने कुछ मत स्थिर किये और फिर 'कामशास्त्र' पर अपना एक प्रबन्ध गुरुकुल को पेश किया। कुलपति ने शिष्य की वैषयिक पारंगता तथा अनुभवपूर्ण अनुमान देखकर उन्हें महर्षि की उपाधि प्रदान की। यह हस्तलिखित ग्रंथ पहले मौखिक रूप में और फिर लिखित साधनों द्वारा अनेक पीढ़ियों से आज की बीसवीं सदी तक ला पहुँचाने का सारा श्रेय वात्स्यायन के अनगिनत छात्रपरिवार को ही देना पड़ेगा। आज यद्यपि इस शास्त्र में नवीन अनुसंधान तथा साधनों की बहुतायत के कारण इसकी लोकप्रियता दिन-ब-दिन वृद्धिंगत हो रही है तथापि इस जीवनोपयोगी व्यवहार को शास्त्रबद्ध करनेका श्रेय मुनिवर्य को ही देना होगा।

परंतु मुनिवर्य की पत्नी सुभगा वात्स्यायनी का उल्लेख इतिहास में उपलब्ध नहीं। गुरुवर्य की तन-मन-धन से सारा समय सेवा करनेवाली, उनके लेखन-कार्य में पूरा सहयोग प्रदान करनेवाली मातोश्री वात्स्यायनी स्वतंत्र–प्रज्ञा, विदुषी स्त्री थीं। महर्षि के साथ इनकी बार-बार चर्चाएँ हुआ करती थीं। उनका यह मत था कि महर्षि के इस ग्रंथ से, पहले से दास्यत्व की जंजीर में जकड़ी हुई नारियों की स्थिति और खराब होगी; इस ग्रंथके परिशीलन से पुरुष जाति हमेशा के लिए श्रेष्ठ बन कर नारी के भोले स्वभाव के कारण उसकी बाह्य उन्नतिपर ही उसे संतोष दिलाएगी और स्वतः केवल पुरोगामीत्व के यश को अपनाकर अपनी शान दिखाती रहेगी। लेकिन महर्षि के ऊपर उनका बस नहीं चल सका। इसीलिए गुरुपत्नी वात्स्यायनी नें स्त्रीजाति के उद्धार के लिए स्वयं प्रयत्न करनेका निश्चय किया और गुप्त रीति से प्रात्यक्षिकों के आधारपर मुनिवर्य के ग्रंथ की बराबरी करनेवाला एक ग्रंथ खास नारी जाति के लिए निर्माण किया। सूत्रकालीन इतिहास में यह उल्लेख प्राप्त होता है कि इस ग्रंथ की चर्चाएँ तत्कालीन महिला मंडलों में गुप्त रीति से हुआ करती थीं। सुभगा वात्स्यायनी का उल्लेख नारी-स्वातंत्र्य की आद्य पुरस्कर्ती के रूप में करना ही ठीक है। अनेक सदियाँ बीत गयी हैं तथापि इस ग्रंथ का प्रचार गुप्त रीतिसे ही क्यों न हो अनेक पीढ़ियों से जारी है और आज भी महिला मंडलों में इसके ऊपर चर्चाएँ सुनी जा सकती हैं।

'कामकुसल' यह सुभगा वात्स्यायनी का ग्रंथ मूल प्राकृत भाषा में है। इसमें कुल चौदह अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय में इस शास्त्र के विविध अंगोंपर विचार करके क्लिष्ट बातोंपर सोदाहरण चर्चा हुई है। तत्कालीन संदर्भ के लिए ग्रंथ के अंतमें टिप्पणी तथा सूची भी जोड़ी गयी है। यद्यपि यह 'कामकुसल' ग्रंथ, मुनिवर्य वात्स्यायन के साहचर्यमें प्राप्त अनुभवों के आधारपर है, तथापि सुभगा वात्स्यायनी के स्वतंत्र परिश्रम, ज्ञान तथा स्वभावज्ञान आदि गुण ग्रंथ के पन्ने-पन्ने में फूट पड़ते हुए नज़र आते हैं।

प्राचीन हस्तलिखितों की जाँच करते समय इस ग्रंथ का एक अध्याय किसी अग्निहोत्री नामक परिवार में उपलब्ध हुआ और उसका अवलोकन करते हुए आर्ष ग्रंथ की जानकारी प्राप्त हुई। इसके बाद कृष्णा नदी के किनारे की घाटियों तथा झाड़ियों के स्थानों में संशोधन करके अब कामकुसल ग्रंथ को पूरी तरह से तैयार किया गया है। इस ग्रंथ का विशुद्ध सरल अनुवाद हमारे रसिक पाठकों के सम्मुख रखने की अभिलाषा के कारण, यहाँ उस ग्रंथ का एक अध्याय प्रकाशित किया जा रहा है। विश्वास है कि इससे, इस ग्रंथ की महत्ता पाठकों के ध्यानमें अवश्य आयेगी।

अष्टनायक

मेरी भोली-भाली बहनें यह बात हमेशा ध्यान में रखें कि बाह्यतः पुरुषजाति उदारमना दिखती हो तो भी असल में नारी की गुप्त शत्रु है। पुरुष का मुक़ाबला करते समय बहनों को सतर्क रहना चाहिए। पुरुष, नारी को अबला मानकर उसकी चुप्पी ही सम्मति समझता है और अपने कार्य-पूर्ति की ओर अग्रसर होता रहता है। इष्टानिष्टता, नीति-अनीति, कार्यकारण आदि मतों के बंधनों में उसे जकड़कर अपने स्वैराचार की पूर्ति के लिए कोई साधन ढूँढ़ता रहता है। निसर्ग के इस वैश्विक व्यवहार में भी पशु-पक्षी नर-मादी, सहकारी तत्वके आधारपर कार्य करते हैं पर वह तत्व उनके व्यक्तिनिष्ठ जीवन की स्वायत्ततापर आक्रमण नहीं करता। इसके विपरीत यहाँ यह दृष्टिगत

होता है कि मनुष्य प्राणि में इस संबंध के बारे में नैतिकता की पार्श्वभूमि पर लिंग-भेद में वर्ग-विग्रह निर्माण किये जाते हैं। आम तौरपर यह बताया जाता है कि नारी यह अर्धांगी है; मगर व्यवहार में अनुभव इसके बिलकुल विपरीत है। उसे हमेशा समानाधिकारी न मानते हुए सूत्रों से बाँधकर उसपर दास्यत्व लादा जाता है। स्त्री-पुरुष में जो भेद निसर्गतः है, वह संधि के लिए है न कि विग्रह के लिए; मगर प्रत्यक्ष जीवन में पुरुष ने अधिकतर हिस्सा उठाया है और स्त्री पर अन्याय ही किया है। अपने लिए बहुपत्नीत्व-विधान की सुविधा उसने कर रखी है, मगर बहुपतित्व की सुविधा स्त्री को प्रदान नहीं की। वह अपना खजाना सुरक्षित रखकर स्त्री का खजाना तन-मन-धन से लूटने का दुष्ट जाल बिछाने के लिए हमेशा तैयार रहता है। ऐसी यह पुरुषजाति यदि मीठी बातोंसे, झूठी भेंटोंसे अनुनय-विनय करनेकी कोशिश करती है तो भी यह मुग्ध बना हुआ जहरीला साँप अपनी प्रवृत्तिको नहीं त्यागेगा और स्वभावतः एक-न-एक दिन दंश करके ही रहेगा। इस बात को बहनें भली-भाँति ध्यान में रखें। व्यावहारिक वृत्ति रखनेवाली इस पुरुषजाति ने स्त्री का उद्धार करने का श्रेय यद्यपि अपनी त्यागी वृत्ति को ही दिया हो तथापि हर नारी यह कभी न भूले कि उसकी उन्नति में उसका अपना हिस्सा भी है।

वात्स्यायन महर्षि ने अपने कामशास्त्र में नायिका–प्रकारों का जो वर्णन किया है, उसके कारण नारी स्वभाव की कलई खुल गई है। अपने शत्रु को समझने के लिए हर सयानी नारी को इस ग्रंथ का अध्ययन करना अवश्यंभावी है। मगर इतने ही परिशीलन से उनका कार्य सफल होनेवाला नहीं। इसीलिए प्रस्तुत लेख में पुरुष जाति का विचार किया जा रहा है। पुरुष जब कामातुर होता है तब वह भय या लज्जा नाम-मात्र के लिए भी नहीं रखता। इसीलिए ऐसे निर्लज्ज पुरुषों को टाल कर अपना इच्छित पुरुष कैसे चुनना चाहिये इसका दिग्दर्शन इस लेख में उपलब्ध होगा। साथ-साथ हरेक व्यवहार-चतुर-नारी यदि जीवन-शास्त्र के अबाध्य नियमों के अनुसार अपना-अपना प्रकृति-धर्म पहले समझने की कोशिश करे तो नायक का चुनाव योग्य रीतिसे करना आसान होगा।

स्वाभाविक प्रकृतिधर्म, मनःप्रवृत्ति तथा जीवन–वृत्ति इनका साकल्य से परिशीलन करें तो पुरुष जाति के प्रमुख तीन भेद पाये जायेंगे। उत्तम, मध्यम तथा कनिष्ट। इनके अतिरिक्त अनिष्ट तथा एकनिष्ट ऐसे दो भेद भी कभी-कभी पाये जा सकते हैं।

उत्तम पुरुष काम-व्यवहार में यद्यपि अधम या नीच हो तो भी उसका मूल्य-निरूपण उसकी सुप्त प्रकृतियोंपर ही करना योग्य नहीं होगा। व्यवहार-काण्ड के अनुसार मान्य निम्न दण्डक काम-व्यवहार को भी लागू होता है—

" उत्तमं स्वार्जितं भुक्तं, मध्यमं च पराजितम्।
कनिष्ठं याचितं प्राप्तं, अधमं त्यक्तसेवनम्॥"

जो स्वयं प्रयत्न करके अपनी इच्छित वस्तु प्राप्त कर लेता है, वह उत्तम माना जाना चाहिए; मालिक की अनुपस्थिति में मौक़ा देखकर



तन गोरा – मन काला !

दूसरों के अधिकार की वस्तु का, धोका देकर उपभोग लेता है वह मध्यम तथा जो याचना करके अपनी वासनापूर्ति कर लेता है वह कनिष्ठ तथा जो दूसरों के जूठे का सेवन करनेको हमेशा तैयार रहता है वह अधम मानना चाहिए। कुचुमार के निर्णय के अनुसार क्षणिक सुख के लिए त्यागी बननेवाले वीर या निरपेक्ष तथा निरस वृत्ति से व्यवहार चतुर बननेवाले पुरुष से आत्मसंतोष के लिए सहेतुक मगर लगातार परिश्रम करनेवाला पुरुष ही उत्तम माना जाना चाहिए। लेख के आरंभ में पुरुषत्व के बारे में चर्चा हो चुकी है, इसलिए यहाँ उसे न दोहराकर इस लेख के विषय को ही आरंभ करना उचित होगा।

पुरुषों के जो सर्वसाधारण प्रकार ऊपर बताए गये हैं, उनसे उन पुरुषों की विशिष्टताएँ जाहिर नहीं होतीं। अतः उनकी उपजातियों तथा वर्णों का स्पष्टीकरण करना ही उचित होगा। दैहिक रचना, स्थूल स्वभाव तथा वैचारिक संस्कार इनका परिणाम पुरुष के काम-व्यवहार और तदनुसार उनकी पूर्वोत्तर वृत्तिपर हुआ करता है, इसीलिए इन बातोंके आधारपर पुरुष जातिके आठ प्रकार माने गये हैं।

(१) **ग्रामहस्ती :** वह पुरुष ग्रामहस्ती जाति का माना जाये जिसकी देह स्थूल हो, बुद्धि मंद तथा जो आचार-विचारों में सामंजस्य न रखता हो। इसका संबंध अधिकतर कर्मकांडोंसे रहा करता है। ग्रामभोजन तथा जलसों में उसकी उपस्थिति निःसंशय पायी जाती है; क्योंकि 'उदरं भरणं' ही इसका प्रमुख उद्देश्य होता है। इसका घ्राणेंद्रिय बड़ा ही तीव्र होता है और इसलिए वह कुकर्मों को जल्द पहचान लेता है। वह सौंदर्यपूर्ण पुष्प की अपेक्षा पंकज को ही अधिक प्रेम करता है। और यदि यह पुरुष ब्राह्मण निकला तो अपनी पवित्रता की आड़ में सर्वाधिकार अपनी ही ओर लेकर वह ईश्वर के चरणोंपर चढ़ाया हुआ फूल सर्वप्रथम स्वतः सूँघने को नहीं चूकता। यह षड्रिपुओं का अनभिषिक्त राजा होता है, इसीलिए भ्रष्ट होनेपर भी श्रेष्ठ माना जाता है। यद्यपि इसे मीठी चीजें पसंद होती हैं तथापि इसके मुखपर खटाई ही झलकती है। उदरविस्तार ही इसकी सहज पहचान हो सकती है। इससे गरमी सही नहीं जाती और इसीलिए यह भोजन के समय कूपवास्तुपर या घरमें अपनी उत्तरदेह विवस्त्र रखा करता है। सुदृढ़ देह और उदरविस्तार के कारण इसमें स्वभावतः मंदता कूट-कूट कर

दमयंती सरपटवार :

मराठी साहित्य में संशोधनपूर्ण रचनाअें करनेवाली विदुषियोंमें से आप अेक हैं। आप पी. अेच्. डी. हैं तथापि आपकी रचनाशैली सुबोध तथा सुंदर हुआ करती है। आपको साहित्यप्रेमियोंके सम्मुख लानेका श्रेय मराठी 'दीपावली' को ही है। और आज आपकी रचनाओंपर पाठक-वर्ग अेकदम लट्टू-सा है।

आपकी रचना भी हम पहली बार यहाँ प्रकाशित कर रहे हैं। आशा है कि 'अष्टनायक' यह संशोधनपूर्ण लेख पाठकों के लिए दिलचस्प होगा।

भरी रहती है। वह काल, काम या वेग की कभी परवाह नहीं करता। उसका प्रमुख ध्येय भूखशमन होता है, इसलिए वह स्थान तथा साधनों की पूछताछ कभी नहीं करता। भलेही इसका वर्ण श्रेष्ठ हो, इसकी मनोवृत्ति शृगाल की होती है। नारी पर अपना अधिकार है और वह केवल उपभोग्य वस्तु ही है ऐसा वह माना करता है। नारी को अपने वस में करने के लिए वह उत्सुक हो तो भी अपनी पवित्रता अबाधित रखने लिए अपने को अंधा साबित करते हुए वह अपने तीक्ष्ण कानोंसे अपना शिकार ढूँढा करता है। दीवाभीता की तरह यह अपना शिकार अंधेरे में ही ढूँढा करता है। इसकी वृत्ति असल में निशाचर की है मगर शास्त्राधार देते हुए वह अपने को संयमी प्रकट करता रहता है। प्रकाश में स्पृश्यास्पृश्यता का कड़ा बंधन मानता है, मगर अंधेरे में अस्पृश्योद्धार करनेमें जराभी नहीं हिचकिचाता। मेरी बहनों, इस प्रकार के ग्रामहस्ती पुरुष को कुछ दूरीपर ही हमेशा रखा कीजिये; क्यों कि उसके कारण संभव है आप अपना स्वत्व भी गँवा बैठें। यह धर्मार्थ वृत्ति का पुरुष, चारों पुरुषार्थों में श्रेष्ठ माना जानेवाला कामपुरुषार्थ मुफ्तमें पाना चाहता है। ऐसे पुरुषों से भलीभाँति अपनी रक्षा करा लेना व्यावहारिक दृष्टि से या शारीरिक दृष्टि से उचित ही होगा। क्यों कि महामुनि गोणिकापुत्र की तत्वप्रणाली के अनुसार 'असंगों से संग प्रस्थापित करना आँसुओंका उत्सर्ग करना है।'

(२) **पद्मश्री :** पुरुषश्रेष्ठ जातियों में इसे उच्च स्थान प्राप्त है। नारी के सहवास में इस पुरुष को स्फूर्ति मिलती है और वह अपना कार्य बड़े जोश के साथ करने के लिए तैयार होता है। पोशाक तथा सुवासिक चीजोंका वह शौकीन होता है। मौसम के अनुसार पोशाक में बदल करना यद्यपि स्वभावतः आवश्यक होता है तथापि उस स्वाभाविकता को गौण समझकर केवल गौरव प्राप्त करनेकी महत्वाकांक्षा से हमेशा वह अनिष्ट पोशाक पहनकर घूमा करता है। यह नारी-सहवास की अभिलाषा सदैव रखा करता है, इसीलिए जलसों में, वाहनों में तथा चलते समय भी नारी-वर्ग के अस्तित्व का संशोधन करके उसके निकट रहनेका प्रयत्न करता है। इसे चौदह विद्याएँ और चौसठ कलाओं का शौक होने पर भी इसका अंतिम ध्येय एकही कला की ओर झुका रहता है। कला के माध्यम की भलीभाँति जाँच करके उसके द्वारा भावनाओं की तरंगें निर्माण करके किसीको वश करनेमें ही पद्मश्री की कुशलता सिद्ध होती है। नारीवर्ग पद्मश्रीको आकृष्ट करना चाहता हो तो उसे चित्ताकर्षक पोशाक, अलंकार, नेत्राभिनय तथा स्वअंगोंकी रचना आकर्षक बनाना बिलकुल आवश्यक होगा। एक बार यह आकर्षित होकर काबू में आ जाय तो यह हमेशा आश्लिष्ट रहनेमेंही सुख मानता है। अपमान, विरह या त्याग इनके प्रति विरक्त नहीं होता, उलटे अपनी इष्ट नायिका के प्रति इसका प्रेम वृद्धिंगत होता रहता है। जनसमूह में अपनी प्रियतमा के साथ प्रेमालाप करना यद्यपि उचित नहीं होता तथापि स्वतः राजनीतिज्ञ होनेके कारण यह जनसमूह के अनवधान से मौका उठाकर अपनी सुप्त भावनाओं का प्रदर्शन करनेका साहस भी किया करता है। धंधे-पेशे में इसको गौरव प्राप्त हुआ करता है और इसकी प्रार्थना से नारीवर्ग को गौरवमय सहजीवन सरलतासे प्राप्त होता है। आप सुख तथा गौरव प्राप्त करना चाहती हैं तो पद्मश्री के सहवास की महत्वाकांक्षा रखकर उसकी प्राप्ति के लिए लगातार कोशिश करते रहना ही आपको योग्य होगा।



नारी-सहवासाभिलाषि

(३) **शंख :** देवानांप्रिय होनेके कारण इस भूमिपर रहते हुए भी देवों की कृपादृष्टि जिनपर रहा करती है ऐसे समाजज्ञानी तथा सम्पन्न नरपति शंख नामक पुरुषजाति में समाविष्ट होते हैं। सम्पन्नता तथा दानी वृत्ति के कारण जनता में बड़े ही लोकप्रिय होते हुए भी नारियों के बारे में पक्षपाती-भाव इनमें हुआ करता है। इसी भाव को भलीभाँति जानकर कुछ चालाक लोग उनसे

अनुक्रमणिका







टायपिस्ट कैसी सुंदर हो !

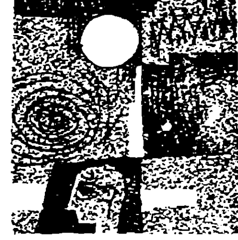
कार्य करवाने के उद्देश्य से नारियों को जनसेवक बनानेकी व्यवस्था किया करते हैं। धनवान हो तो अपने खास कामों की व्यवस्था के लिए नारी-वर्गकी नियुक्ति कर लेते है और उनपर अधिकार जमाकर उनका सहवास प्राप्त कर लेते हैं। वे समाजज्ञानी तो विजनवास में अपने दैनिक कार्यों की व्यवस्था के लिए स्त्री स्वयंसेविकाएँ रखा करते हैं। उनके दिन का अधिकतर समय अष्टांगमर्दन, गोपीचंदी स्नान तथा फलाहार आदि कार्यों में बीत जाता है, क्यों कि वही उनके स्वभाव की विशेषता होती है। ये शंखपुरुष मितभाषी होते हैं; क्यों कि ये अधिकांश काल चिंतन में डूबे रहते हैं। इसी सद्गुण के कारण तथा इनकी दातृत्व भावना के कारण इनको जलसों, उद्घाटन-समारोहों आदि में आदर का स्थान दिया जाता है और किसी प्रगतिशील स्त्री-कार्यकर्ता की ओरसे इन्हें पुष्पमाला पहनाकर इनके गौरव-गीत गाये जाते हैं। शंखजनों का कार्यरत होना बिलकुल असंभव होता है। इसीलिए महिला-सम्मेलनों में इन्हें आमंत्रित करके अध्यक्ष का स्थान या ऐसा ही कोई प्रमुख स्थान विभूषित करनेको कहा जाय तो चतुर तथा सुंदर नारी-समुदाय के बीच रहनेसे इनका बुद्धिभ्रंश हो जाता है और इनसे कार्यक्रमों में विशेष उपद्रव न होकर ज़्यादा-से-ज़्यादा लाभ लिया जा सकता है। मेरी चतुर बहनें यदि शंख पुरुषों की इस प्रवृत्ति को जानते हुए अपनी क्षमता तथा आवश्यकतानुसार उन्हें प्रेरित करें तो वैयक्तिक और साथ-साथ सामाजिक ऐसे दुगुने लाभ प्राप्त करा लेने के लिए काफ़ी गुँजाइश हो सकती है।

(४) **व्याघ्र :** इस जाति के पुरुष को उसकी प्रवृत्ति के कारण व्याघ्र, पुरुषव्याघ्र ऐसे अभिधान दिया जाता हैं। इसमें अधिकार जमाने की विशेष प्रवृत्ते होनेके कारण नारी-जाति को विशेष कष्ट संभवनीय है। यह हट्टाकट्टा होता है और डाढ़ी-मूँछ को पुरुषत्व का चिन्ह मानकर उसे रखा करता है। वीरता की आवश्यकता पड़नेपर डाढ़ी-मूँछोंपर हाथ फेरते हुए यह स्फूर्ति निर्माण कर लेता है। युवावस्था में यह ब्रह्मचर्य का पालन किया करता है और अपनी वीरता की रक्षा के लिए कसरत करना, संयमित आहार आदि का अवलंबन करता है। गुरोपदेश के कारण इसे नारी सहवास से घृणा रहती है और इसलिए रास्ते पर चलते हुए आँखें बंद करके चलता हुआ वह नज़र आता है। यह मानते हुए कि नारी-पुरुष संबंध गर्ह्य है, वह ग्राम-नीतिपालन का सारा अधिकार अपने पास रखता है और उसकी रक्षा करनेके लिए हमेशा तैयार



निरा जंगली

रहता है। काफ़ी शारीरिक शक्ति प्राप्त करके यह गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता है और हनुमान स्मरण करने के बाद ही ब्रह्मचर्य को त्याग देता है। यह नाम से व्याघ्र होनेके कारण अपने शिकारपर यकायक झपटता है और अपनी भूख-प्यास बड़ी क्रूरता से मिटा देता है। मगर भोजन के कुछ समय बाद यह निरुपद्रवी हो जाता है। विवाह के पहले सात्विक भोजन की उसकी अभिरुचि विवाह के बाद लुप्त होती जाती है और जायकेदार रसमय पदार्थों के प्रति रुचि निर्माण होती है। अतः अपना घरका भोजन त्यागकर यह बाहर के भोजन के प्रति अधिक आकृष्ट रहता है। ऐसे व्याघ्र पुरुष से बर्ताव करते



बीसवीं सदी का प्रतिनिधि लेखक

—योगेंद्र कुमार लल्ला

नंगा, भूखा, चेहरा सूखा,
(मई, जून में सूखा पोखरा)
चिप-चिप करती
बिना कांच की दुर्बल आंखें
खोज रहीं जैसे कुछ खोकर।
नहीं कोई था मुझे जानता,
लेखक तो क्या?
पढ़ा-लिखा भी नहीं मानता।

स्वाभिमान को होकर निर्भय
रखा ताक पर, काम पा गया।
तिकड़म और खुशामद की जय,
नाम पा गया।

अब सम्पादक हूँ सरकारी।
काम नहीं, आराम बहुत है
लेकिन 'शो' (SHOW) करना होता है
काम-बहुत है, मुश्किल, भारी।
ओ गॉड (GOD)!

जो कह देता, जो लिख देता
मुहर उसी पर लग जाती है,
हो जाता सब कुछ सरकारी।
वही बात फिर सब लिखते हैं,
सब कहते हैं।

अब मेरा चिकना चेहरा है,
(जैसे कहीं दूध का सागर)
माथे पर यश का सेहरा है
कंधों पर खादी की चादर।
आंखों पर सोने की ऐनक।
अब हूँ बीसवीं सदी का
प्रतिनिधि लेखक।

अनुक्रमणिका

समय नारी को सदा सावधान रहना चाहिए; क्योंकि उसके शरीरबल के कारण उसके सहवास के सुख की अपेक्षा नारी का जीवन यांत्रिक बनने की ही अधिक संभावना होती है।

(५) **वृश्चिक :** नारी जातिको अकारण कष्ट किसी पुरुष जाति से होता हो तो वह है नीचतम जाति – वृश्चिक जनों की। यद्यपि शरीर से यह बड़ा ही मामूली दिखता हो तो भी इसकी डंक में काफ़ी शक्ति रहती है और यह दंश करे तो असह्य पीड़ा हुआ करती है। नारियों को कष्ट देने में वह अपनी सार्थकता मानता है। चाहे इसके वश में हो चाहे न हो तो भी वह कष्ट दिये बग़ैर नहीं रहता। प्रथम अपने मूल स्वभाव के कारण और बाद में वश न होनेपर अपनी वक्रनीति के कारण कष्ट देता है। देह कृष होनेके कारण यह टेढ़े-मेढ़े मार्गोंसे अंधेरे में और लुक-छिपकर हमला करने के लिए तैयार रहता है। मगर इसकी शक्ति का जिस नारी ने अनुभव किया है वही इसकी ख़बर जूतोंसे ले सकती है। कमज़ोर हो जानेपर भी इसकी बदले की भावना ज़ारी रहती है। और एक बार पराजित हो जानेपर भी यह किसी-न-किसी मार्ग से दंश करने की अभिलाषा मनमें रखा करता है। निंदा, अपमान, काल्पनिक अनाचार आदि से पूर्ण कथाएँ बताकर अप्राप्य नारी के जीवन को यह बरबाद कर सकता है। खुद को जो साध्य नहीं, वही यदि दूसरा कोई करने लगे तो इससे वह सहा नहीं जाता और बारबार डंक मारता रहता है। इसे हमेशा इसी बात की चिंता रहती है कि बलवान, सुदैवी अथवा यशप्राप्त व्यक्तियों के चरित्रों में बाधाएँ किस प्रकार निर्माण की जायें। वृश्चिक यद्यपि अकेला है तथापि आवश्यकता पड़नेपर समर के समय वह अपने साथियों की सहायता से चारों ओरसे हमला करनेको हमेशा तैयार रहता है। ऐसे अवसरों पर यदि कोई नारी ज़ोरोंसे चिल्लाकर उसकी बातें ज़ाहिर करनेकी कोशिश करे तो यह वृश्चिक दुम दबाकर भाग जाता है।

(६) **वृषभ :** इनके सींग होते हैं और इसीसे इनकी यह अवास्तव कल्पना होती है कि इनके पास सुप्त शक्ति है। चलते समय बीचही में दूसरों को लापरवाही से वे रोका करते हैं और भूलसे



दासानुदास

यदि कोई व्यक्ति इनपर हमला करने की कोशिश करे तो वे उसे अपने सिंगोंपर उठा लेनके लिए भी तैयार रहते हैं। इनके बुद्धि होती है मगर उसका उपयोग सिर्फ़ दूसरों को तकलीफ़ देनेके लिए वे किया करते हैं। इनके पीछे-पीछे रहनेसे वे लताड़ा करते हैं, साथमें रहने से मुँह से प्रहार किया करते हैं और पुरोगामी या आगे रहने से शृंगप्रहार किया करते हैं। इसलिए इनसे डर रहता है। निर्जन रास्ते में अकेली नारी को ये देख पायें तो इनमें बल का संचार हो जाता है। और यह बेमुरौवत उसपर हमला करने को तैयार हो जाता है। एकांत में जिस प्रकार यह अपनी वीरश्री का दिखावा करता है, उसी प्रकार जनसमूह में भी यह नर, नारी देहसे घिसकर चलता है और अपने व्यक्तित्व की जानकारी दिया करता है। अपनी जिव्हासे यद्यपि यह अपना बाहर का शरीर चाटकर साफ़ करनेकी कोशिश करता हो तो भी इसका आंतरिक मन बिलकुल मलीन रहा करता है। योग्य समयपर इसकी मारपीट न की जाय तो संभव है कि वह और उन्मत्त बन जाये। इसलिए अपनी दुर्दशा को समय पर ही रोकने के लिए ऐसे वृषभपुरुष से दूर रहना चाहिए, ऐसी अमूल्य चेतावनी मेरी बहनों को मैं दे रही हूँ।

(७) **शशश्वानक :** शशक का चपल डरपोकपन तथा कुत्तेकी दुम हिलाने की वृत्ति जिसमें समान रीतिसे पायी जाती है, उसे शशश्वानक जाति का पुरुष समझना चाहिए। नाटा और पतली देहवालाहोनेपर भी अपने व्यक्तित्व का प्रभाव डालने के लिए यह पोशाक़, अलंकार आदि कृत्रिम उपायों का अवलंबन करके फुदकते, पूँछ हिलाते चलने की पूरी कोशिश किया करता है। अपना प्रतिस्पर्धी बलवान हो तो वह अपनी रक्षा के लिए दूर जाकर खड़ा रहता है और गुर्राते रहता है। इसकी कुशाग्र बुद्धि का उपयोग कामवासना में विशेष रूप से होता है। अपनी सुंदरता नारियों के ध्यानमें लायी जाए इसलिए वह व्याकुल नज़र से उनकी ओर देखा करता है। अतः स्वभावतः



अंधेरे का 'अस्पृश्योद्धारक'



बिलकुल मामूली

भोलीभाली नारी उसकी नज़रसे आकर्षित होती है और उसे समझा–मनानेकी कोशिश करती है। तब यह अपना अनुराग प्रकट किये बगैर नहीं रहता। एक बार वह नारी उसके वशमें आ जाय तो फिर दूसरे किसी पुरुष का उस नारी के सहवास में आना वह पसंद नहीं करता। कोई पास आये तो वह यकायक टूट पड़ता है और नारी के समझानेपर वह अधखुली आँखों से तथा तीक्ष्ण कानों से यह जानकारी लेते रहता हैं कि वह व्यक्ति क्या कर रहा है। नारी यदि अपना ममत्व प्रकट करे तो यह सिर्फ़ दिखावे के लिए अनासक्ति बताकर निर्लज्जता से समस्त जनसमुदाय में भी उसकी गोद में बैठने का साहस करके दिखाता है। सुखी नारी अपना अधिकार जमाने के लिए शशश्वानक का भलीभाँति उपयोग करा ले सकती है। वह खुद कमज़ोर होता है इसलिए इसे आदत-सी बनी रहती है दास्यत्वकी। वह आदत इतनी सीमातक पहुँची रहती है कि उसके ज़ाहिर प्रेम तथा खुशामदी प्रेम से तंग आकर अपनेसे कुछ दूरीपर ही उसको रखना नारी को बिलकुल मुश्किल हो जाता है। उसकी यह विशेषता ध्यानमें ली जाय तो मेरी बहनें यह भलीभाँति जान सकती हैं कि अपनी रक्षा या अनिवार्य देहपीड़ा को टालनेके लिए शशश्वानक जातिके पुरुषसे लाभ उठाया जा सकता है।



सुरक्षित

(८) **किंचित्पुंध्वज :** शारीरिक दृष्टिसे पुरुष से साम्य मगर स्त्रीसुलभ प्रकृति रखनेवाले पुरुषको किंचित्पुंध्वज कहा जाता है। काव्य, संगीत, चित्रकला, नाट्य, वक्तृत्व आदि में यह बड़ाही निपुण रहता है। नारी समूह में वह लजाता है और इसीलिए चतुर नारियोंको इसके सहवास से लाभ होता है। अपनी चित्तचलित–वृत्ति के कारण यह जनसमूह में सर्वसाधारणतः बड़ी ही नम्रतासे रहता है। अपने कोमल और आर्त स्वरोंके कारण भाव-गीतोंमें इसे काफ़ी लोकप्रियता मिला करती है। प्रायः नारियाँ ही इसका शिष्यवर्ग होता है क्यों कि पुरुष–जाति इसकी नारी-सुलभ हावभावों की आलो-चना किया करती है। सामाजिक कार्य या राजकारण में यह हिस्सा ले तो भी स्वयं-सेविकाओं के इर्दगिर्द रहने या उनका अगुआ बननेमें ही अपना गौरव मानता है। इससे नारीत्व को कोई धोखा नहीं पहुँच सकता और इसीलिए चतुर नारियाँ किंचित्-पुंध्वज का उपयोग अपने दिल बहलाव के लिए करा लेती हैं।

पुरुष–जाति के अष्टवर्गोंकी जानकारी मैंने आपके सम्मुख रखी है। साधारणतः विचार करनेसे उत्तम नायक का पद पद्मश्री को, मध्यम-पद शंख, व्याघ्र तथा वृषभ को देना चाहिए और ग्रामहस्ती, शशश्वानक तथा किंचित्-पुंध्वज कनिष्ठ माने जाने चाहिए। वृश्चिक को सबसे अधम मानना चाहिए। • •

अनु. : **मनोहर चंदावरकर**



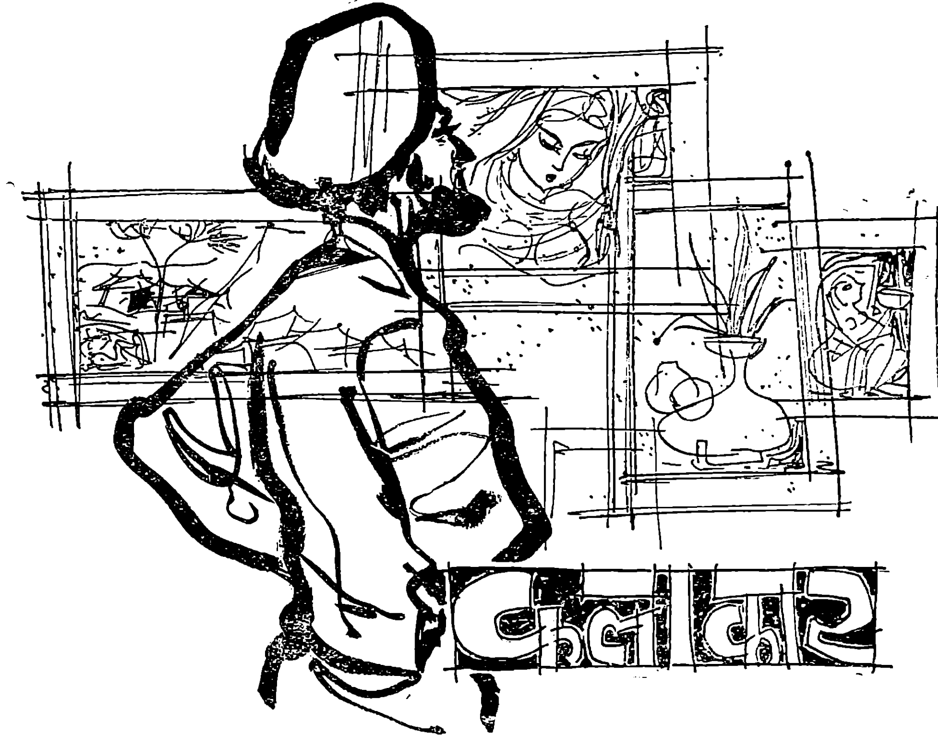
पुरुष नारियों के खिलौने हैं किंतु स्वयं नारियाँ शैतान के खेलने के उपकरण हैं।

दीपावली शुभचिंतन





अनुक्रमणिका



"तीन कहानियों के पचासी। बस छुट्टी लो और चलें। मैंने सारा प्रोग्राम बनाया है।"......मगर इस समय राजेश्वर धीमे-धीमे अपने 'मूड' में से उतर रहा था। कहने लगा, "दोस्त दिल चाहता है कि ये सभी चित्र खरीदकर रोज़ देखा करूँ...

सुखवीर

राजेश्वर जब दफ़्तर में आया तो उसकी भूरी आँखें खुशी से चमक रही थीं। खुशी उनमें जैसे छलक रही थी। उन आँखों में मैं अधिकतर एक तलख़ उदासी ही देखा करता था। किसी गहरे भँवर में फँसी हुई एक दृष्टि। अडोल और अथाह। पर आज...

उसने आते ही कहा—"बस, छुट्टी लो दफ़्तर से। अभी। कोई ऐसा बहाना बनाओ कि मिनिट न लगे।"... और उसने चुटकी बजाकर कहा—"बस यूँ।"

मैं समझ गया, उसे कहीं से रुपये मिले होंगे। अच्छी बड़ी रक़म। तभी तो उसके हाथ में चारमीनार की बजाय आज गोल्ड फ्लेक सिगरेट थी। जब भी उसे कहीं से अच्छी रक़म हाथ लगती, वह रह न सकता। दफ़्तर या घर में — मैं जहाँ भी होता, वहाँ पहुँच जाता। मेरे साथ दिन भर का प्रोग्राम बनाता और उस दिन अपनी सारी तलख़ियाँ भुला देता।

"आख़िर बात क्या है? ख़ैर तो है"? मैंने मुस्करा कर कहा—"बस, दो-अढ़ाई घंटे और हैं, छुट्टी हो ही जायेगी।"

पर वह न माना! जेब में से दस-दस के नोट निकाल कर दिखाते हुए कहने लगा—"यह देखो, पचासी रुपये मिले हैं। पचासी। तीन कहानियों के पचासी! बस छुट्टी लो और चलें। मैंने सारा प्रोग्राम बनाया हुआ है।"

सुनकर मुझे कुछ हैरानी हुई। पचासी रुपये! सचमुच बहुत बड़ी रक़म थी। एक ही बार इकट्ठे इतने रुपये तो उसके हाथ में कभी नहीं आये थे।

मैंने छुट्टी के लिए चिट्ठी लिख कर ऊपर अफ़सर के पास भेजी।

बातें करते हुए मैंने एक बार ध्यान से उसके चेहरे को देखा— वह चेहरा जिसे मैं तीन वर्षों से देखता आया था। तीन वर्षों में वह चेहरा कितना क्षीण हो गया था। तीन वर्ष उस चेहरे पर से इस प्रकार गुज़रे थे कि उसकी हड्डियों को उभार गये थे। और इन तीन वर्षों में देखते-देखते उसके बाल आधे से ज्यादा सफ़ेद हो गये थे। सत्ताईस वर्ष की आयु कोई इतनी अधिक तो नहीं होती।

उसने होठों में की सिगरेट के साथ नई सिगरेट सुलगाते हुए कहा—"बस, मज़ा ही आ गया आज तो। सुबह घर से निकला तो लगता था, आज

अनुक्रमणिका

किसी से लड़कर रहूँगा। जेब में मुश्किल से पाँच-सात आने थे। ... पर दोपहर होते-होते जेब में पचासी रुपये आ गये।" उसने एक बार दीवार पर लगे क्लाक की ओर देखा, फिर कहने लगा—"कई बार जहाँ से मिलने की बिल्कुल ही आशा नहीं होती, वहीं से रुपये मिल जाते हैं। इन पचासी रुपयों के पीछे भी एक लम्बी कहानी है, एक कड़वा स्वाद है..."

चेपरासी चिट्ठी का जवाब लेकर आया। राजेश्वर ने हाथ आगे बढ़ाकर उसके पास से चिट्ठी खुद पकड़ी। और पढ़ते ही उसका चेहरा खिल उठा—"वाह! मौज लग गई।" और उठ खड़ा हुआ।

जब हम दफ़्तर से बाहर आये तो उसने प्रोग्राम बताया—"पहले चलकर चाय पियेंगे। फिर पिक्चर देखेंगे,—'आइ विल क्राई टूमारो'। तुमने तो नहीं देखी होगी। मैं फिर दूसरी बार देख सकता हूँ। एक गायिका की सच्ची कहानी है। अमरीका की बहुत मशहूर गाने वाली थी। एक बार जीवन की तलख़ियों में वह शराब पीना शुरू करती है। और फिर सारा जीवन शराब में डुबो देती है। पर अन्त में...। सूसन हेवर्ड ने उसका रोल किया है। एक दर्द है उसमें। एक दर्द है..." वह चुप कर गया।

मुझे लगा, जैसे वह मुझसे कहीं दूर चला गया था। कुछ अन्यमनस्क-सा वह उस दर्द के बारे में सोच रहा था और उस गायिका को या सूसन हेवर्ड को देख रहा था। काफ़ी देर तक वह कुछ न बोला। फिर अचानक चौंका। कहने लगा—"हाँ, उसके बाद कुछ चीजें ख़रीदनी हैं। एक नये डिज़ाइन का बुशशर्ट। आसमानी रंग का, जिस पर सफ़ेद धारियों का डिज़ाईन है। और फिर कल मैं पूना जाऊँगा। कमला को मिलने के लिए। काश, किराये के लिए हर महीने ही कहीं से आठ-दस रुपये फालतू आ जाया करें तो हर महीने कमला को मिल सका करूँ। कमला मुझे देखेगी तो कितनी खुश होगी। ... वह अपनी वही नीले रंग की साड़ी पहनेगी जिसके बार्डर पर गहरे नीले रंग की कठपुतलियों का नाम है। जब पहले वह मुझे मिली थी, तो यही साड़ी वह पहने हुई थी। आज तक उसने इस साड़ी को सम्भाल कर रखा है।"

मैंने कहा—"इस बार कोई ऐसी सुर मिलाओ कि कमला यहीं आ जाये। ऐसे कब तक यह सिलसिला चलता रहेगा।"

"बस, और कुछ देर ही यह सिलसिला चलेगा।" उसकी आवाज़ में एक लम्बी उदासी थी। "और फिर सब कुछ खत्म हो जायेगा जैसे कि हुआ करता है। आदि काल से चली आ रही ट्रेजेडी।" वह चुप हो गया। फिर कुछ रुक कर जब वह बोला तो उसकी आवाज़ बहुत धीमी थी। उसमें एक स्निग्धता थी और एक दर्द था। वह कह रहा था—"और माँ के लिए एक बढ़िया-सी रेशमी साड़ी ख़रीद कर गाँव भेजूँगा। वह कितनी खुश होगी। सारे गाँव को दिखायेगी कि बेटे ने शहर से ख़रीद कर भेजी है। उसने सारी उम्र खद्दर के कपड़ों में ही काटी है। ... और इनमें से दस रुपये उस बुढ़िया को दूँगा — वही जो हमारे घर के पीछे रहती है। उससे मुझे एक कहानी मिली थी। तुमने सुनी है न? क्या नाम है उसका?" वह सोचता हुआ रुका।

मैंने हौले से कहा—"रात की आँखें।"

"हाँ, वह कहानी! उस बुढ़िया ने अपनी अन्धी पोती के बारे में एक घटना सुनाई थी। मैंने उससे कहा था, मैं यह कहानी लिखूँगा और रुपये मिलने पर उनमें से दस रुपये तुम्हें दूँगा। वह अपने पोपले मुँह से हँसी थी। उसे शायद विश्वास नहीं हुआ था। भला जो स्त्री लोगों के घरों में बर्तन घिस कर मुश्किल से महीने के दस-बारह रुपये कमाती है, उसे यूँ ही दस रुपये मिलने का क्योंकर विश्वास हो सकता था?... और तुम्हें पता है, यह कहानी छपने से पहले सात पत्रिकाओं से वापस आ चुकी थी?"

मैंने कहा—"यह भी ग़नीमत समझो कि आख़िर उसे किसी पत्रिका ने छापा है। और वह भी पारिश्रमिक देनेवाली पत्रिका ने। वरना वह कहानी...।"

....'बिस्ट्रो' आ गया था। अन्दर चाय पीने बैठे। बिल्कुल नये डिज़ाइन का होटल था। राजेश्वर कहने लगा—"बड़े मॉडर्न किस्म के लोग ऐसे मॉडर्न किस्म के होटलों में बैठ कर चाय का स्वाद तो ले सकते हैं। पर वे मॉडर्न किस्म की कहानी का स्वाद नहीं ले सकते। उस पर हँसते हैं, नाक चढ़ाते हैं, मेरी वह रंगों वाली एक्सपेरीमेंटल कहानी तुमने सुनी हुई है न? क्या नाम है उसका ...?"

राजेश्वर की कहानियों से भी कहीं बढ़कर स्वाद मुझे उसकी उन बातों में आता है, जो कभी तल्लीन होकर वह अपनी कहानियों के बारे में कहता है।

बातों-बातों में न उसे ख्याल रहा, न मुझे कि सिनेमा देखना है। और जब ख्याल आया तो शो का समय गुज़र चुका था। अब क्या किया जाये? शाम होने से पहले धूप के ये दो-तीन घंटे कैसे कटेंगे?

आख़िर राजेश्वर को सूझी। कहने लगा—"आर्ट गैलरी में चित्रों की प्रदर्शिनी लगी है। वहीं क्यों न चलें। आसानी से दो घंटे निकल जायेंगे। फिर बाज़ार में घूमेंगे और चीज़ें ख़रीदेंगे। और फिर रात का प्रोग्राम तो है ही।..."

हम प्रदर्शिनी देखने चल पड़े।

यह दो चित्रकारों की इकट्ठी प्रदर्शिनी थी। दोनों ही नये उभरे चित्रकार थे। इनमें से एक की चर्चा हमने पिछले दिनों अख़बारों में पढ़ी थी। उसके दो-तीन अजीब से चित्र छपे भी थे।

गैलरी की एक दीवार पर इस चित्रकार के चित्र टँगे हुए थे, दूसरी दीवार पर दूसरे चित्रकार के। दोनों ने अपने प्रत्येक चित्र का मूल्य चालीस रुपये रखा था। इस दूसरे चित्रकार के सभी चित्र लैंडस्केप थे। — नदियाँ, झीलें, पहाड़, वृक्ष, फूल, पक्षी.... । हम पहले यही चित्र देखने लगे। प्रकृति के विभिन्न रूप थे। बहुत सुन्दर रंग थे। फिर भी कोई चीज़ थी जो उनमें नहीं थी। और वह चीज़ जो उनमें नहीं थी, उसे मैं भी देख रहा था, राजेश्वर भी देख रहा था। जिस तरह की प्रकृति चारों ओर दिखाई देती है, इन चित्रों में बस वैसी ही दिख रही थी। बिल्कुल वैसी की वैसी। पर फिर भी वैसी नहीं। कलाकार के सृजन में से गुज़र कर भी प्रकृति ने अपना रूप नहीं बदला था। फिर बाहर की वास्तविक प्रकृति और इन चित्रों में की प्रकृति में क्या अन्तर था? दोनों में कलाकार कहाँ था ....?

चित्र देखते हुए न राजेश्वर कुछ बोला, न मैं कुछ बोला। चित्रों के सामने से हम धीरे-धीरे चलते हुए आगे बढ़ते गये। हाँ, उन कुछ एक चित्रों के सामने कुछ देर के लिए रुके, जिन पर 'बिक चुका है' का लेबल लगा होता। कुल पैंतालीस चित्र थे। उनमें से सोलह बिक चुके थे।





मैंने राजेश्वर से कहा–" इस चित्रकार के लिए यह प्रदर्शिनी फायदेमंद ही रही है। छः सौ चालीस रुपये के चित्र बिके हैं। हॉल के दो सौ रुपये किराये में से सौ रुपये उसके हिस्से जायेंगे। वह देकर पाँच सौ चालीस बच गये।"

राजेश्वर कुछ नहीं बोला।

फिर दूसरी दीवार पर लगे चित्रों के सामने रुक-रुक कर धीरे-धीरे चलते हुए हमने पाँच–छः चित्र देखे। वे ठीक तरह से समझ में नहीं आ रहे थे। कुछ-कुछ समझ आते थे। फिर समझ उनमें उलझ जाती थी। ऐसे लगता था, जैसे हर चित्र का दूसरे से कुछ-कुछ सम्बन्ध है। हमने फिर शुरू से उन्हें देखना आरम्भ किया। पर फिर भी पूरी तरह समझ न आई। आखिर राजेश्वर ने कहा–" चित्रकार को साथ लेकर देखें तो अच्छा रहेगा।"

उस समय दोनों चित्रकार गैलरी के दरवाज़े के सामने कुर्सियों पर बैठे हुए थे। इनमें से एक, काग़ज़ पर कुछ हिसाब लगा रहा था। दूसरा, मेज़ पर अंगुली से यूँ ही रेखाएँ खींच रहा था। हमें पता नहीं था कि उन दोनों में से कौन इन चित्रों का कलाकार था। पूछने पर, वह जो मेज़ पर अंगुली से यूँ ही रेखाएँ खींच रहा था, उठा। उसने नीले रंग की बुशशर्ट पहनी हुई थी और खाकी पतलून। अनायास ही मेरी दृष्टि दूसरे चित्रकार की ओर घूम गई। उसकी दूधिया सफ़ेद कमीज़ और नसवारी रंग की गर्म पतलून को मैंने मन-ही-मन सराहा।

...उस पहले चित्रकार के साथ हम उसके चित्र देखने लगे। जब उसने बताया कि उसने इन चित्रों में कालिदास के 'मेघदूत' को चित्रित किया है, तो वे चित्र जो पहले समझ नहीं आ रहे थे, अब बिल्कुल स्पष्ट हो गये। अब उनमें कोई उलझन न रही। हर शक्ल अपनी पूर्ण रूप-रेखा के साथ उभर आई। पर फिर भी हर चित्र में कविता वाली अस्पष्टता थी, जो समझ आ जाने पर भी पूरी तरह समझ नहीं आती और आदमी बार-बार उसे देखता है, उसे पकड़ने की कोशिश करता है। और फिर इन रेखाओं, रंगों और कम्पोज़ीशनों का अपना ही जादू था...

चित्रकार हमें चित्र समझा रहा था। वह समझा कर हटता तो अगले चित्र की ओर बढ़ता। पर हम कुछ देर उस पहले चित्र के सामने ही खड़े रहते। दस-बारह चित्र देखने के पश्चात् राजेश्वर ने जैसे अपने आप में खोये हुए धीमे से कहा–" काश, कहीं कालीदास आज जीवित होता!"

उसी क्षण चित्रकार ने मुड़कर हमारी ओर देखा। शायद राजेश्वर की बात उसने सुन ली। उसकी छोटी आँखों में एक चमक थी।

यह कुल इक्कीस चित्र थे। सभी चित्र देख चुकने पर हम एक बार फिर उन्हें शुरू से देखने लगे। तब चित्रकार हमें समझा नहीं रहा था। वह हमारे पीछे-पीछे हमारे साथ रुक-रुक कर, चल रहा था। जब हम अन्तिम चित्र के पास पहुँचे तो राजेश्वर चित्रकार की ओर मुड़ा और कहने लगा–" मेघदूत को मैंने कई बार पढ़ा है, पर तृप्ति नहीं हुई। इन चित्रों को भी मैं कई बार देख सकता हूँ, पर तृप्ति नहीं हो सकती।"

उत्तर में चित्रकार ने धन्यवाद देना चाहा तो शब्द जैसे उसके कण्ठ में फँसे रह गये, वह साफ़ तौर पर बोल न सका। यद्यपि उसका कोई चित्र नहीं बिका था। पर उस समय उसे अपने सभी चित्रों के बिक जानेकी-सी प्रसन्नता थी। आखिर वह हम से विदा होकर अपने साथी के पास चला गया।

मैं राजेश्वर से पूछनेवाला था कि अब क्या प्रोग्राम है, पर उसकी चुप्पी को देख कर कुछ न बोला।

मुझे लगा उसके चेहरे पर एक तल्ख़ी थी और एक उदासी। अब उसका चेहरा वह नहीं था जो कुछ समय पहले था। न ही उसकी आँखें पहलेवाली आँखें थीं।

वह काफ़ी देर चुप खड़ा रहा। उसकी दृष्टि यद्यपि सामने के चित्र पर थी, वह उसे नहीं देख रहा था।

मुझे पता था, इस समय उसके अन्दर जो उदासी थी, वह आसानी से दूर नहीं होगी। बस यहाँ से निकल चलना चाहिए। बाहर चलकर चाय पीने, बुशशर्ट ख़रीदने, पूना कमला से मिलने और रात के प्रोग्राम की बातें करने से शायद वह इस 'मूड' में से निकल सके।

हम वहाँ से चले तो उसकी चाल में बेहद थकावट थी।

गैलरी में से बाहर निकलते समय वह एक क्षण के लिए उस चित्रकार के पास रुका; फिर उसके सामने कुर्सी पर बैठ गया और उससे बातें करने लगा–उसके व्यक्तिगत जीवन के बारे में, उसकी शिक्षा के बारे में, उसकी कला के बारे में...

बातें करते समय मैंने देखा, राजेश्वर धीमे-धीमे अपने उस मूड में से निकल रहा था। मुझे बहुत खुशी थी कि शुक्र है यह शाम ख़राब होने से बच गई है।

आखिर चलने से पहले राजेश्वर ने चित्रकार से कहा–" दोस्त, दिल चाहता है, तुम्हारे ये सभी चित्र अपनी कोठरी की दीवारों पर लगा लूँ और इन्हें रोज देखा करूँ। पर इन्हें ख़रीदने लायक मेरे पास रुपये नहीं है।–" वह एक क्षण के लिए रुका और फिर जेब में से नोट निकाल-कर कहने लगा–" मेरे पास यह अस्सी रुपये ही हैं। तीन कहानियों के मिले हैं। इनके बदले अपने कोई भी दो चित्र मुझे दे दो। कभी अच्छे दिन आये तो तुम्हारे बाक़ी के चित्र भी ख़रीद लूँगा।"

चित्रकार ज्यों-का-त्यों बैठा राजेश्वर की ओर देखता रहा। उसे जैसे उसकी बात पर विश्वास नहीं हो रहा था। दूसरा चित्रकार भी हैरान था। मैं भी हैरान बना राजेश्वर को देख रहा था। यह इसे क्या हो गया था।

आखिर राजेश्वर के दूसरी बार कहने पर चित्रकार उठा। उसकी सलाह से राजेश्वर जब दो चित्र पसन्द कर चुका, तो फिर एक तीसरे चित्र की ओर संकेत करते हुए चित्रकार ने कहा–" यह चित्र मेरी ओर से उपहार के रूप में स्वीकार करें। आज प्रदर्शिनी बन्द हो जायेगी। सो शामको या कल सुबह ये तीनों चित्र ले जाइये...।"

चित्रकार और भी कुछ कहना चाहता था, पर बोल न सका।

आखिर हम वहाँ से बाहर निकले तो राजेश्वर ने जैसे अपने आप में खोये हुए हौले से कहा–" कमला इन चित्रों को देखेगी तो कितनी खुश होगी! कितनी खुश होगी!"

उस समय वह भी बहुत खुश था।

अनुक्रमणिका





...और, उनके मस्तक पर शोभित हो गया है यह भाग्यशाली द्वितीया का चंद्रमा। क्या छवि है मेरे प्रभु की। कोटि-कोटि सौंदर्य पराजित हैं मेरे आराध्य की नख-चन्द्र-ज्योति के सामने..



स्वामी अमरानंदजी ने समाधि ले ली। आसपास के सभी गाँवों में हवा की तरह यह खबर फैल गयी। आबाल-वृद्ध नर-नारी का ताँता लग गया। अंतिम दर्शनों के लिए दूर-दूर से लोग दौड़े आ रहे थे—प्रत्येक साँस विचलित थी, प्रत्येक चेहरा इस आकस्मिक प्रहार से संतप्त था।

शाम को जब सूरज अस्ताचल के तोरण-द्वार में प्रवेश कर रहा था, तो स्वामी अमरानंदजी ने अपने आसपास बैठे व्यक्तियों को पश्चिम दिशा की ओर उन्मुख करके कहा था—"उधर आसमान के उस किनारे पर देखो। वह बारह घोड़ों का स्वर्ण-रथ, जिस पर चढ़कर सूर्यदेव ने पृथ्वी-परिक्रमा की है—वह जीर्ण-शीर्ण होकर जोड़-जोड़ में से बिखर गया है। त्याग दिया है उसे सूर्यदेव ने। किस काम का रह गया है वह रथ, जो उनकी यात्रा को नहीं साध सके? अब वे नया रथ लेंगे, जिसमें नये घोड़े होंगे, नया सारथी होगा—सवेरे फिर वे परिक्रमा के लिए आ जायेंगे।"

देखनेवालों ने देखा तो सही, किंतु सबकी आँखों से आँसू की धाराएँ बहने लगीं। सबकी आँखें स्वामीजी के अविचल-स्थिर चेहरे पर लगी हुई थीं—उस चेहरे पर जो उस समय हेमंत के निरभ्र आकाश की भाँति स्वयं अपने-आपको ही प्रतिबिंबित कर रहा था। आत्मा का सारा अनंत उस अंत में उद्भासित हो रहा था।

स्वामीजी शांति की अतल गहराई से जैसे बाहर आये। पास बैठे व्यक्तियों की ओर देखे बिना ही बोले—"जंगल-जंगल घूमकर गायें घर आ रही हैं, अपने खूँटे पर उन्हें पहुँचना है। वहाँ उनकी ममता है। रात से सुरक्षा है और निश्चित विश्राम है। कितना सुख है घर पहुँचने में—कभी कोई गाय ऐसी भी देखी है जो जान-बूझकर घर नहीं आती?"

वाणी अमृतमयी थी—तत्व-रस का स्रोत उससे मुक्त बह रहा था, किंतु जिसके भी कान में पड़ी, उसके हृदय को पिघलाये बिना न रही। सबके गले रुंधे हुए थे। कोई 'हाँ' भी नहीं कह पा रहा था। भरी निगाहों से सब स्वामीजी को ताक रहे थे।

स्वामीजी अधलेटी अवस्था में दीवार के सहारे बैठे थे। जिस चबूतरे पर वे बैठे थे, वहाँ से बहुत दूर तक गाँव का राजमार्ग देखा जा सकता था। स्वामीजी ने अपनी दृष्टि उधर फेरी। एक-दो मिनिट तक वे उस रास्ते को देखते रहे जिस पर गायों और भेड़ों के झुंड गाँव में प्रवेश कर रहे थे। एक किनारे पर पनिहारिनें आ रही थीं—सिरों पर पानी से भरे घड़े रखे थे, कुछ मिट्टी के, कुछ पीतल के। स्वामीजी अपने में डूबे-से अनिमेष देखते रहे पनिहारिनों की उस लम्बी कतार को। मुग्धभाव की तरंगें उनके मुख पर आने-जाने लगीं।

दस-बारह आदमी जो उन्हें घेरे बैठे थे, सबके-सब अचल मौन साधे थे, किंतु सुखद नहीं था वह मौन। दुःख ही उससे आभासित हो रहा था—ऐसा दुःख जो प्रत्यक्ष तो नहीं था, किंतु प्रचंड बाढ़ के रूप में उन पर फूट पड़ने ही वाला था। मार्ग की ओर ही देखते-देखते स्वामीजी के मुख से शब्द निकले—"और, यह आखिरी पनहारिन भी पनघट से घर आ रही

हैं। जहाँ से गागर भरी, उस पनघट से जरा भी मोह नहीं? सब उसे सूनी छोड़कर घर आ गयी हैं–कोई राग-अनुराग नहीं? कोई ताप–परिताप नहीं?–मगर क्यों हो पनघट से मोह? क्षणिक से मोह क्यों? फ़र्क कितना है पनघट में और घर में! पनघट तो क्षणभर का प्रवास है, गागर भरी कि नाता खत्म–साँझ हो या सवेरे। मगर घर तो रात–दिन का बसेरा है। हर पाँव की आखिरी गति घर ही है।— कदम बढ़ाओ पनहारिन, घर जाओ। गागर उतारने के लिए नेह-नागर द्वार पर खड़े होंगे।"

शुक्ल-पक्ष की द्वितीया का चंद्रमा आकाश में उदित हुआ। गोधूलि ने एक और भूरी चादर ओढ़ ली। चबूतरे के आसपास, ऊपर और नीचे, काफ़ी लोग जमा हो गये थे। स्वामीजी की देह निरावरण थी। एक अधोवस्त्र-मात्र वे पहने हुए थे। पिछले बीस बरस से उनकी वेशभूषा यही थी। इस झीने-झीने अंधकार में उनकी नग्न देह प्रातःकालीन प्राची की भाँति प्रकाशित हो रही थी। रोग के दारूण प्रहार उनके शरीर को जरा भी क्लांत नहीं कर पाये थे। काया की कांति सदैव कुंदन की तरह ही दमकती रही। उस सूरज पर आजीवन ग्रहण नहीं लगा।

—चंद्रोदय के साथ-साथ ही मंद-मंद पवन बहने लगा और उस पवन की तरंगों पर एक भीनी-भीनी सौरभ संतरण करने लगी। अभूतपूर्व थी वह गंध। न जाने कहाँ से आ रही थी वह। स्वामीजी ने अपने दोनों हाथ फैलाये और दोनों हाथों से अभयदान देते हुए बोले– "भगवान् की वाणी बोल रहा हूँ–'सबका कल्याण हो, सब अभय प्राप्त करें, सबको शांति मिले।' बीस बरस पहले वरुण लोक के जिस क़ैदखाने में स्वयं भगवान् ने आकर मेरे बंधन खोले थे, वे करुणामय आज मेरे सामने खड़े हैं। वे उनके चरण-कमल हैं–धरती के इस कीचड़ में कमल की तरह खिले हुए हैं, इस सारे अंतरिक्ष में उनकी देहराशि फैली हुई है–विराट् काया। और, उनके मस्तक पर शोभित हो गया है यह भाग्यशाली द्वितीया का चंद्रमा। क्या छवि है मेरे प्रभु की। कोटि–कोटि सौंदर्य पराजित हैं मेरे आराध्य की नख-चंद्र-ज्योति के सामने। वह देखो, अनंत जीवन के वे हीरक–कपाट मेरे प्रभु ने खोल दिये हैं। अपरिमित स्नेह-भरे नेत्रों से वे मेरी प्रतीक्षा कर रहे हैं उस द्वार पर। जो परम दुर्लभ था, वह परम सुलभ हो गया है। अब तो जाना ही होगा मुझे—"

अंतिम वाक्य कहते-कहते स्वामीजी का कंठ भावावेश में रुंध गया। पुलक–प्रदीप्त मुख पर आँसू ढुलकने लगे। तरल माधुर्य में बोले— "बड़ी भूल हो रही है, तुम्हें अभय देने के लिए मेरे बाहु फैले हैं, किंतु किसको अभय दूँ मैं? किस पर आशीर्वाद की वर्षा करूँ? तुम सभी तो मेरे भगवान् की आभा से आभासित हो। तुम सभी की देह में तो भगवान् का रूप उतर रहा है–ओहो! मेरे आराध्य के सिवाय यहाँ और कुछ भी तो नहीं है। पिंड-पिंड परमेश्वर हो गया है।—और यह लो, मैं भी तो वही हूँ–अब कौन किसको प्रणाम करे? कौन किसको अभय दे? कौन किससे विदा माँगे? सारा खेल ही खत्म हो गया–दर्शक स्वयं दृश्य

हो गया... ”

शरीर वैसे ही स्थिर टिका था, मुख-मंडल पर वैसे ही आह्लाद आलोकित था, सबकी आँखें वैसे ही सारी शक्तियाँ समेटकर उन्हें अपलक देख रही थीं और उस सम्मोहित वायु-मंडल में उनकी वाणी भी वैसे ही प्रतिध्वनित हो रही थी–यद्यपि स्वामीजी स्वयं वहाँ नहीं थे–वे इस घट की सीमा से बाहर निकल कर निःसीम हो गये थे।

लेकिन क्या वे मरकर ही निःसीम हुए, जीते-जी नहीं थे क्या? यह प्रश्न बार-बार मेरे मन में आया है और कान पकड़कर मैंने अपनी ग़लती मानी है। स्वामी अमरानंदजी जैसे व्यक्ति तो अपने जीवन-काल में ही सारी सीमाएँ विच्छिन्न करके असीम हो जाते हैं। सौरभ की तरह सूक्ष्म होकर वह हर प्राणोच्छ्वास में समाते हैं और जीवन की कई बुझती बत्तियाँ उनके अगोचर स्पर्श से फिर से जलने लगती हैं। सीमाएँ उनसे हारी हैं। विस्तार उनसे हारा है। स्वयं काल ने उनसे पराजय मानी है।

उपस्थित जन-समुदाय ने छाती पीट ली। धाड़ मारकर नर-नारी रो पड़े। जिस देह के द्वारा स्वामी अमरानंदजी ने पिंड के भीतर परमेश्वर की पूजा करते हुए यह अमरत्व प्राप्त किया था, उस देह को यहीं क्षय होने के लिए छोड़कर वे अमरों के लोक में चले गये। एक बार उन्होंने लोगों से कहा था — “ तुम लोग मुझे प्रणाम थोड़े ही करते हो, तुम तो मेरे शरीर को प्रणाम करते हो। मुझसे नहीं, मेरे शरीर से ही तुम्हें प्रेम है। ”

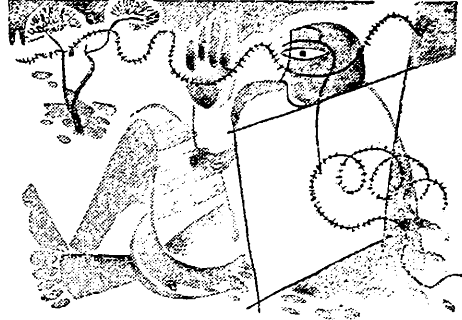
लोगों ने सुना तो उन्हें अखरा। कुछ बोले- “ ऐसा तो नहीं है महाराज। हमारी भक्ति आपके प्रति है — आप जो भी वास्तविक हैं, उनके प्रति। ”

स्वामीजी फिर उसी शिकायत के स्वर में बोले — “ तो फिर तुम सबको — मनुष्य-मात्र को ऐसे ही प्रेम से प्रणाम क्यों नहीं करते? जो जल इस घट में है, वह कौन से घट में नहीं है? ”

मगर ऐसी तत्त्वदृष्टि क्या कभी इतनी आसानी से प्राप्त हो सकी है? संत आते हैं, पैगम्बर अवतार लेते हैं और उनकी साधना के रूप में धरती के एक छोर से दूसरे छोर तक कई आध्यात्मिक रसायन-शालाएँ खुलती हैं, जिनमें यह निरर्थक काया, यदि चाहे, तो पारस के एक ही स्पर्श से सार्थक कुंदन बन जाये, किंतु गिनती की आँखें ही तो उन्हें देखती हैं, गिनती के कान ही तो उन्हें सुनते हैं... बाकी तो सब अंधे और बहरे बने रहते हैं।

स्वामी अमरानंदजी को बचपन से ही ऐसी तत्वदृष्टि की तलाश थी। दुनिया के रास्ते वे निभा नहीं पा रहे थे। छल–छद्म से उनके हृदय को बड़ी पीड़ा पहुँचती थी। अजहद बूरीग़रीबी की मज में मनुष्य का जो नारकीय पतन उन्होंने देखा था उससे उनका अंतःकरण जगह–जगह से विदीर्ण हो चुका था। मनुष्य ने मनुष्य को जो निदारुण संताप दे रखा है, उसके दर्शन ने मनुष्यता के प्रति उनकी सारी श्रद्धा को पंगु कर दिया था।

अट्ठाइस बरस की उम्र होते-न-होते अमरानंदजी घर छोड़कर तीर्थयात्रा के लिए निकल भागे। ब्याह किया नहीं था। परिवार में सबसे छोटे थे, सबसे उपेक्षित भी। क्षत्रिय



हुः शूल

दीपनारायण ‘ कमलेश ’

ईश्वर के नाम पर,
है मिला स्वर्ण-प्रासाद, नित मिल रहा खीर, लड्डू, बधिर मूक पाषाण को;
औ ’ इधर मिल रहा भात जूठा, मिला है हवादार फुटपाथ इन्सान को।
साहित्य के नाम पर,
थोपकर भाव की मिट्टियाँ, सत्य को कल्पना से रँगा है गया इस तरह;
आदमी हो गया देवता व्योम का, देवता बन शिला है गया आज रह
कला के नाम पर,
दे दिया है गया रूप साकार मन की दबी वासना को शिला काट कर;
नग्न चित्रित किया है गया नारियों को गुफा-गात्र, मंदिर-शिखर द्वार पर।
वाद के नाम पर,
काट कर जीभ, सी कर अधर, सैंकड़ों नव सुदृढ़ बंधनों में नियम के जकड़;
पार्टियों के विविध सभ्य-साँचे बना नित्य ढाला गया आदमी को पकड़
प्रगति के नाम पर,
कर बढ़े नित्य, बेकार बढ़ते गये, बढ़ गई भुखमरी, भ्रष्टता है बढ़ी;
जाति औ ’ प्रान्त का पक्षपातित्व कर देश पीछे ढकेला गया हर घड़ी।
अहिंसा के नाम पर,
फिर न भूलें चलाना अरे, इसलिये तोड़ डाले गये सिर, चला लाठियाँ;
नित्य बन्दूक का लक्ष्य साधा गया, बस निहत्थे मनुज पर चला गोलियाँ।

कुटुम्ब था। छोटी-सी जागीर थी। बड़ी कठिनाई के साथ काम चल पाता था। उनके पाँचों बड़े भाइयों को दिन-रात परिश्रम करना पड़ता था — चोटी का पसीना एड़ी पर उतर आता था, किंतु इन पुरुषार्थी क्षत्रियों को यह रोटी अखरती नहीं थी। वे अपने प्रारब्ध से संतुष्ट थे — असंतोष के लिए न तो उनके पास मन था और न समय ही।

किंतु अमरानंदजी — पहले का नाम अमरसिंहजी — को अपने पाँच बड़े भाइयों की अपेक्षा यह संसार दुःख का स्रोत ही नज़र आता था। उनकी एक भावज अकसर उन्हें झकझोरा करती थी — "वीरजी, यह क्या हो गया है आपको? हर फूल में आपको कीड़े ही नज़र आते हैं — हर पूनम में अमावस।"

पूरे बारह बरस तक अमरानंदजी तीर्थों और आश्रमों के चक्कर काटते रहे। शास्त्र ही नहीं पढ़े, सत्संग के अमित लाभ के साथ प्रत्यक्ष अनुग्रह के अनुभव भी उन्होंने प्राप्त किये; किंतु उनका मन-भ्रमर जिस परिमल को खोज रहा था, वह उन्हें कहीं नहीं मिला। अतः आत्मा के परिताप का शूल घटने के बजाय और बढ़ता ही गया। रामेश्वरम्, कन्याकुमारी और पांडेचेरी के यात्रा-काल में वे अरुणाचल भी गये थे। वहाँ उन्होंने महर्षि रमण के दर्शन किये थे और उनके मौन प्रसाद की तीव्र आकांक्षा भी की थी, किंतु उनके अंतरस्थ प्रश्न का उत्तर उन्हें कहीं नहीं मिला। अतल नैराश्य में डूबे और अपरिमित आत्म-ग्लानि में दग्ध वे घर लौटे।

घर के लोग प्रसन्न हुए, किंतु शीघ्र ही उनकी यह प्रसन्नता पीड़ा में बदल गयी। अमरसिंहजी के शरीर का दिन-ब-दिन घुलना, घंटों बैठे रोते रहना, और बार-बार अन्न-जल छोड़ देना, परिवार के लिए ही नहीं, सारे गाँव के लिए संताप का विषय बन गया और ऐसे में ही एक सवेरे अमरसिंहजी भयंकर बाढ़ में उफनती नदी में कूद पड़े।

लोगों ने देखा — पाँचों भाई भी किनारे तक दौड़े, किंतु महाकाली के उस विकराल मुख में कौन अपने को फेंक देता। बाढ़ के तट पर ही सब खड़े-खड़े आँसू बहाते रहे, सिर पीटते रहे। नदी अमरसिंहजी को बहा ले गयी।

बहते-बहते अमरसिंहजी कहाँ गये, यह अब उनके ही मुख से सुनिये। पूरे पाँच बरस के मौन के बाद अमरसिंहजी ने इस यात्रा का विवरण हमें सुनाया था :—

•

"नदी में गिरते ही, विशाल लहरों ने मुझे एक तरफ़ उछाल फेंका। मैं एक भँवर में जा गिरा और एक तिनके की भाँति उसमें चक्कर खाने लगा। क्षणमात्र में ही एक बड़ी हिलोर आयी और मुझे उठाकर ऐसे ले चली, जैसे अबाबील चिड़िया को चील झपटकर ले जाती है। चारों तरफ़ अंधेरा छा गया, मुझे लगा जैसे रात हो गयी है। यह अंधकार धुएँ की तरह मेरे आसपास गहराई पकड़ने लगा — मेरा दम घुटने लगा। मैं छटपटाने लगा। बस, पल भर यह स्थिति रही। इसके बाद अंधेरा भेदता हुआ एक तीव्र प्रकाश मेरे आसपास फैलने लगा। मगर सफ़ेद या सुनहरे के बजाय इस प्रकाश का रंग हलका नीला था। जहाँ तक मेरी दृष्टि जाती थी, वहाँ तक इस नीले प्रकाश का ही प्रसार था।





मैं आश्चर्य-चकित उस प्रकाश को देख ही रहा था कि उस प्रकाश में तैरती हुई एक नौका मेरे सामने आयी। नौका का रंग मयूरपक्षी था – बड़ा चमकीला था और उसके प्रतिबिंब से सारे वातावरण का रंग उद्दीत हो उठा था। नौका के ठहरते ही दो स्त्रियाँ उसमें से नीचे उतरीं। नाव में दो स्त्रियाँ और थीं जो उसी में बैठी रहीं। चारों स्त्रियों के वस्त्र लाल रंग के थे और सिर-से-पैर तक वे हीरे-मोती के आभूषणों से लदी हुई थीं। उन दो स्त्रियों ने मुझे नौका में बैठने का संकेत किया।

मेरे बैठते ही नौका चल दी। बड़ी तेज़ रफ़्तार थी। उस हल्के नीले प्रकाश को पार कर तब हम हल्के हरे रंग के प्रकाश में पहुँचे। मुझे वह एक बगीचा जैसा लगा। नाना प्रकार की वनस्पतियाँ उसमें उग रही थीं। फूल भी थे मगर सभी फूल चम्पई रंग के ही थे। यहाँ एक भवन के किनारे हमारी नाव रुकी। वे चारों स्त्रियाँ वहीं उतर गयीं और दो भयावह पुरुषों ने नाव में प्रवेश किया। इन व्यक्तियों के मुंड मनुष्य के थे और धड़ साँप के। काले-काले चेहरोंवाले इन मल्लाहों की आँखें बड़ी भयावनी थीं। सिर पर बड़े-बड़े बाल थे और मुझे देखकर जब वे क्रोध में हुंकारते थे तो उनकी सघन-लम्बी मूँछें भय से मुझे कंपा देती थीं।

कुछ देर में हमने एक और समुद्र पार किया। यह अत्यंत उज्ज्वल पीले रंग का था — बिलकुल तरोई के फूल-जैसा पीला रंग। इस पीली रोशनी में उन दोनों नाविकों के काले कपड़े और चेहरे बड़े भयानक लग रहे थे। वे निरंतर मुझे घूर रहे थे।

बड़ी तेज़ी से चल रही हमारी नौका सहसा एक प्रचंड प्रपात के किनारे पहुँची। वहाँ इतना शोर हो रहा था कि मेरे कान बहरे हो गये और इसी भयानक शोर के बीच हमारी नौका प्रपात के साथ नीचे पानी में गिरी। निरंतर तुमुल घोष के साथ गिर रहे उस प्रपात की अगणित धाराओं का रंग बड़ा मनमोहक था मानों सहस्रों इंद्रधनुष्य उस प्रपात में उतर आये हों। नौका नीचे गिरते ही एक प्रलयंकर भँवर में जा फँसी और उसमें मंडराती हुई बड़ी तेज़ गति से उत्तरोत्तर नीचे डूबने लगी। मेरा सिर अविराम घूम रहा था।

काफ़ी देर तक नीचे जाने के बाद हम लोग एक उद्यान के द्वार पर पहुँचे। नौका वहाँ रुकी। वे दोनों नाविक नीचे उतरे। उनके उतरते ही वह नौका अंतर्धान हो गयी और मैंने अपने को उस उद्यान के दरवाज़े पर खड़े पाया। दो गगनचुम्बी थूहर के वृक्षों से वह दरवाज़ा बना था। जिस पर भाँति-भाँति के फूलों की बेलें छा रही थीं।

मेरी दृष्टि ऊपर उठी तो मैंने देखा कि दरवाज़े के भीतर कोई पंद्रह-बीस फुट की दूरी से चार विशालकाय मगर मेरी तरफ़ दौड़े आ रहे हैं। ऐसे विकराल जबड़ोंवाले मगर मैंने पहले कभी नहीं देखे थे। उन्हें मुँह-फाड़े आगे बढ़ते देख, मैंने भय से आँखें मींच लीं। मेरा रोम-रोम थरथराने लगा, शरीर पसीने-पसीने हो गया। मैं गला फाड़कर चिल्लाया।

इसी भयातिरेक में ये शब्द मेरे कान में पड़े. "—इतना डरते हो तो आत्महत्या करने क्यों गये थे?"

मेरे अहंकार के लिए यह चुनौती असह्य थी। मैंने अमर्ष एवं उपेक्षा मिश्रित भाव से उत्तर दिया—"मैं डरता बिलकुल नहीं हूँ। संसार में रहने के कारण यह दोष मेरे भीतर आ गया है। ऐसे कई दोषों से बचने के लिए ही मैंने अपने शरीर को संसार से अलग किया है। संसार सारे दुःखों की खान है—यह मेरे परिपक्व अनुभवों का निष्कर्ष है।"

उस अगोचर वक्ता ने तत्काल कहा—"मैं इसे मान लूँगा अगर तुम मुझे यह बता दो कि यह संसार क्या है?"

मैंने झुंझलाहट के साथ उत्तर दिया—"इस धरती पर जो कुछ है और हो रहा है, वह, सब संसार ही है—यह कैसा प्रश्न है आपका?"

"तुम्हें कैसे मालूम कि वह संसार है?"

"क्यों? मैं इसे देखता हूँ, सुनता हूँ, अनुभव करता हूँ।"

"अगर तुम उसे देखो नहीं, सुनो नहीं और अनुभव नहीं करो तो क्या होगा? संसार रहेगा या नहीं?"

"संसार तो रहेगा, मगर मेरा संबंध उससे नहीं रहेगा।"

"अर्थात् संसार के और तुम्हारे बीच जो सम्बंध है वह तुम्हारे शरीर का नहीं, विचार का है, चित्त का है और इसका प्रमाण भी तुम्हारे सामने प्रत्यक्ष है कि संसार से शरीर का सम्बंध टूट जाने पर भी संसार के प्रति तुम्हारी घृणा जैसी थी वैसी ही है। इस तर्क से तो शरीर को नष्ट करना तुम्हारी भूल थी। यह तो उस आदमी-जैसी मूर्खता हो गयी कि घर में साँप घुस गया था इसलिए उसने घर ही फूँक डाला।"

"ख़ैर, शरीर की ग़लती नहीं तो चित्त की ग़लती सही।"

"नहीं। ग़लती तुम्हारी है, क्यों कि चित्त के स्वामी तुम हो।"

"मान लेता हूँ इसे, किंतु संसार में रहकर संसार से विच्छिन्नता प्राप्त कर सकना असम्भव है।"

"यह भी सही नहीं है। प्रारम्भ में ही सब असम्भव लगता है, बाद में तो अभ्यास और संकल्प से सब कुछ सम्भव हो जाता है — मगर तुम इतना आगे क्यों जाते हो? थोड़ासा चित्त के कोण को ही बदल लो। चित्त का स्वामी इतना तो कर सकता है न?"

"कौन सा कोण? स्पष्ट कहिये। मैं इन उलझी-उलझी बातों से थक गया हूँ।"



"पहले इतना ही काफ़ी है कि चित्त के दास के रूप में नहीं, बल्कि स्वामी के रूप में तुम अपने को अनुभव करना सीखो। चित्त के चंचल घोड़े की लगाम कसकर पकड़ना सीखो।"

"कैसे करूँ इसे? क्या यह सम्भव है? क्या मेरे सोचने-मात्र से यह हो जायेगा?"

"क्यों नहीं हो जायेगा? यह सब कुछ सोचने का ही तो खेल है। एक क्षण शांत बैठकर सोचो तो — चित्त को आज्ञा तो दो कि तुम चाहो, वही देखे, तुम चाहो वही सुने, तुम चाहो वही अनुभव करे। विश्वास रखो, यदि निःसंशय आज्ञा दोगे तो चित्त जरूर मानेगा।"

"मगर मुझे क्या चाहना चाहिए? मेरे लिए, क्या श्रेय है, यह भी तो मुझे नहीं मालूम।"

"यह चिंता भी तुम्हारी व्यर्थ है। श्रेय क्या है, यह तो किसी को मालूम नहीं है — सिर्फ़ उसीको मालूम है जो सबका श्रेय-स्रोत है; जिसने भी पाया है, सबने उससे ही माँगा है। तुम भी उससे माँगो, पूछो। तुम्हें भी मिलेगा।"

"मैं तो माँग-माँग कर थक गया हूँ, मुझे कोई उत्तर नहीं मिला।"

"उत्तर की चिंता तो निपट संशय है। संशय कभी कुछ पाता नहीं है, उल्टा पास का ही गँवाता है। तुम केवल माँगकर निश्चित हो जाओ। जब दाता सर्व-समर्थ है, तो चिंता क्यों?"

"क्या समर्पण इतना आसान है? मेरे तो सारे प्रयत्न विफल हुए हैं।"

"एकदम आसान है। बालक इसे रोज़ करते हैं। माँ के भीतर सुरक्षा का पूरा विश्वास रखकर बालक उसकी गोद में सो जाता है — सारे भयों को भूलकर। वह बार-बार जाग कर देखता नहीं है कि उसकी माँ उसकी रक्षा कर रही है या नहीं।"

"इसे तो लोग अंध-श्रद्धा कहते हैं। क्या केवल आँख मींचने से सामने का अप्रिय मिट जायेगा?"

"और क्या आँख नहीं मींचने से मिट जायेगा? अप्रिय तो हर हालत में रहेगा, जब तक उसे निर्मूल न कर दिया जाये। और, तुम तो सोच ही बैठे हो कि निर्मूल करने की शक्ति तुम्हारे भीतर है नहीं, इसलिए व्यर्थ तड़फड़ाने से क्या फायदा? शक्ति अपने में पैदा करो। जब तुम स्वीकार कर चुके हो कि यह सारा खेल मन का है, तो मन से ही इस अप्रिय को नष्ट करवाओ और मन को यह मारक-शक्ति बाहर से नहीं, तुम्हारे अपने भीतर से ही मिलेगी —और जब तुम्हारे भीतर नहीं है, तो शक्ति के उस अक्षय-स्रोत से अपने को सम्बद्ध कर दो, उससे शक्ति माँगो जिसके तुम अभिन्न अंग हो। नहर अपने कपाट बंद करके अगर नदी को दोष दे तो गलती किसकी?"

इस प्रश्न के मेरे कान में पड़ते ही एक अजीब तरह की सिरहन मैंने अनुभव की। मेरी आँखें बंद थीं, तो भी मैंने देखा कि मेरे सारे रोम-स्रोत खुल गये हैं और उनसे सिमट-सिमट कर प्रकाश की धाराएँ मेरे हृदय की ओर बहती आ रही हैं। क्षण-भर में ही मेरा शरीर प्रकाश का महासागर बन गया। मैंने आँखें खोलीं तो देखा कि भगवान् रमण मेरे सम्मुख खड़े हैं—प्रातःकालीन सूर्य की तरह प्रकाशित। आकाश उनका मस्तक था और धरती उनकी चरण-पादुका। आश्चर्य-विमूढ़, मैं सिर भी नहीं नमा पाया। कब नमाता? क्षण-भर का ही तो सारा खेल था। करुणा के गंगाजल में मुझे नहलाकर वे चले गये, तत्काल अंतर्धान हो गये...

पलक झँपते ही मैंने अपने को पाया उस नौका में, जो मुझे यहाँ तक लाई थी। हाँ, इस बार नाविक एक ही था उसमें, जो मुझे बड़ी आत्मीयता की दृष्टि से देख रहा था।

जब नौका चलने लगी तो मैंने नाविक से पूछा—"नाविक, क्या तुम बता सकते हो, इस समय मैं कहाँ हूँ और तुम मुझे कहाँ ले जा रहे हो?"

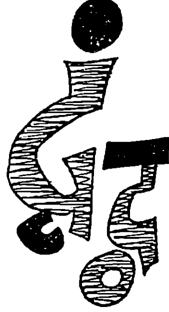
उसने मेरे सामने हाथ जोड़े और बोला— "प्रभु इस समय आप वरुण-लोक में हैं और मैं आपको स्वामी की आज्ञा से वापस भूलोक में छोड़ने जा रहा हूँ।"

यह है अमरसिंहजी के पुनर्जन्म की कहानी —काया के ही पुनर्जन्म की नहीं, आत्मा के भी पुनर्जन्म की।

जहाँ अमरसिंहजी गिरे थे, वहाँ से डेढ़ मील दूर, नदी के मोड़ पर, एक वृक्ष में वे उलझ गये। ग्वालों ने देखा, तो तत्काल उन्हें निकाला और शरीर से पानी निकालने के बाद उन्हें गाँव में ले गये जहाँ पूरे चौबीस घंटे बाद उन्हें होश आया।

अमरसिंहजी ने अपना शेष जीवन इसी गाँव में बिताया—यहीं तपस्या की अग्नि में तपकर वे अमरसिंह जी से अमरानंदजी बने। वे जीवनमुक्त योगी थे, किंतु उनकी परिपूर्ण विरक्ति के अचल हिमाचल से जो अनुरक्ति की धाराएँ बही थीं, उनसे आसपास के बीसियों गाँवों का लोकजीवन अलभ्य श्रेय-सिंचन प्राप्त करता था। • •

—भलेही वह गुस्ताखी हो, विचित्र वर्ताव करता हो, बच्चों जैसी हरकतें करता हो, आपटे के हर कार्य के पार्श्वमें एक खास मतलब छिपा हुआ है......उसे जानने की क्षमता हममें से किसी में नहीं......!"



वोकील ने नौकरी लगनेपर पहलेपहल जब हमारे दफ़्तर में आना शुरू किया तब आपटे के बारे में वह कुछ नहीं जानता था। पहले ही रोज़ सुबह आते ही वह सीधे साहब के कैबिन में घुसा और दस ही मिनटों के बाद बाहर आया। प्यून आगे और उसके पीछे वोकील। आकर सीधे एक खाली पड़ी कुर्सीपर बैठ गया। प्यून ने क़लम, दवात, कागज़ और कुछ दो-एक फ़ाइलें उसके टेबलपर ला पटकीं। किसी गंभीर काम का बहाना किए उसने फाइलें उलटना-पलटना शुरू किया। शायद उसका दिमाग़ उन कागज़ों में ही चक्कर खा रहा था क्यों कि काफ़ी समय तक उसने अपनी नज़र को ऊपर उठाया ही नहीं।

"अरे, यह कौन नयी बला आ धमकी यहाँ?" आपटे ने बड़ी आवाज़ में शिरसाट से पूछा।

आपटे का महाजन के मुंशी के ठाटमें आसन लगाये कुर्सीपर बैठना वोकील को नहीं जँचा। आपटे का वह प्रश्न भी उसे पसंद नहीं आया। मगर जवाब देनेकी प्रवृत्ति को दबाये वह अपने काम में ही मशगुल रहा।

शिरसाट ने बिलकुल धीमी आवाज़ में आपटे को जवाब दिया—"सम् वोकील।"

"कोकिल? तो फिर गोरा भला कैसा?" आपटे की बड़ी आवाज़ में प्रश्न सुनाई दिया।

वोकील ने आँखें लाल किये फिर एक बार आपटे की तरफ़ देखा। अब आपटे ने



विजय तेंडुलकर

थोड़ीसी तमाखू मुँह में डाल दी और हाथों को झटकते वह उसे धीरे-धीरे चबाने लगा। रूमाल की आड़ में अपनी हँसी को, शिरसाट और कुछ दो-चारोंने रोकने की कोशिश की। वोकील ने उसे सुना भी। फिर भी अनसुना कर दिया और वह काम का बहाना किये उसीमें लगा रहा।

"शायद कामवासना बड़ी जबरदस्त है!" आपटे बोल उठा। इस पर हम सब अपनी वाहियात हँसी को रोक न पाये।

"शट अप!" दबी पर बड़ी तेज़ आवाज़ में वोकील गरज उठा। क्रोध ने मानो उसके चेहरेपर मूर्तिमान दर्शन दिया हो। फिर एक बार अपने को दबाये वह काममें लगा रहा।

विजय तेंडुलकर :

छोटे-छोटे वाक्यों द्वारा प्रभावी चित्रण करनेवाले इने-गिने मराठी साहित्यकारों में से आप अेक हैं। आप कुशल नाटककार हैं। आपके कई नाटक बड़ी सफलताके साथ रंगमंचपर खेले गये हैं और बड़े लोक-प्रिय भी हैं। आपकी श्रुतिकाएँ भी आकाशवाणी से ध्वनिक्षेपित की जाती हैं।

मनोवैज्ञानिक चरित्र-चित्रण में आप सिद्धहस्त हैं। हालहीमें प्रकाशित आपके मराठी 'कथा-संग्रह' से उद्धृत एक श्रेष्ठ कहानी 'द्वंद्व' हम पाठकोंके लिए यहाँ प्रकाशित कर रहे हैं।

"शायद साहब है, नेटिव नहीं ! अँग्रेजी में यही 'शट् अप' या कुछ कहते हैं न, वैसा ही कुछ बक गया।" आपटे ने आलोचना की।

बोकील ने अपने होठों को ज़ोरों से काट लिया। बड़ी मुश्किल से वह अपने को रोक पाया। फिर भी उसने अपने टेबल पर पड़ा पेपरवेट उठाया, पटककर आवाज़ करके वहाँ जो कुछ चल रहा था उसके प्रति अपना तीव्र विरोध प्रकट किया।

मैंने तभी यह ताड़ लिया कि आपटे घनचक्कर है और बोकील भी कुछ कम स्वाभिमानी नहीं। मैंने गाँठ बाँध ली कि एक-न-एक रोज़ इन दोनों की भली चंगी ठनेगी।

हम सबने यह सोचा था कि पेपरवेट की आवाज़पर आपटे कुछ बोल भी उठेगा। पर वह तो चुप बैठा रहा। काफ़ी समयतक तमाखू मुँह में ही चबाता रहा। फिर बेसिन की तरफ़ जाकर थूँक आया।

किसी ने उसे जानबूझकर टोका—"क्यों भई आपटे, तुम्हारी कामवासना तो जाग्रत हो रही है ?"

आपटे ने गंभीरता से कहा—"भई, उसे कोई परेशान मत करो; वर्ना जानते हो, एक-एक का काम तमाम कर डालेगा वह। याद रखो, हाँ।"

नये-नये आये हुए बोकील ने बड़े आश्चर्य से इसकी ओर भी पूरी तरह से आनाकानी नहीं की। क्रोध अब उसके चेहरे से उतरने की कोशिश कर रहा था। उस चेहरेपर कुछ रहस्यमय नवीनता के भाव नज़र आने लगे।

आपटे ही अकेला था जो दोपहर की छुट्टी में अपनी कुर्सीपर ही बैठकर घर से लायी चीज़ें खाया करता था। बोकील और हम लोग कँटीन में बैठे हुऐ थे। बोकील चुपचाप अपनी नाक की सीध देखे खाना खा रहा था। ना किसीसे बात करता था, ना किसी की ओर देखता।

नगरकर पहचान बढ़ानेके इरादे से पूछ बैठा—"आप ही का नाम बोकील है न ?"

"जी !" बोकील ने खाते हुए जवाब दिया।

"पहले कहाँ थी नौकरी ?" जगताप ने पूछा।

"था ऐसा ही कहीं।" सारी बातें खुल्लमखुल्ला कम-से-कम इतनी थोड़ीसी पहचान में बताने की तैयारी बोकील ने नहीं दर्शायी। "याने नौकरी ही करते थे न तुम या कहीं किसी कॉलेज में ?" रणदिवे ने बड़ी जीवट से पूछा।

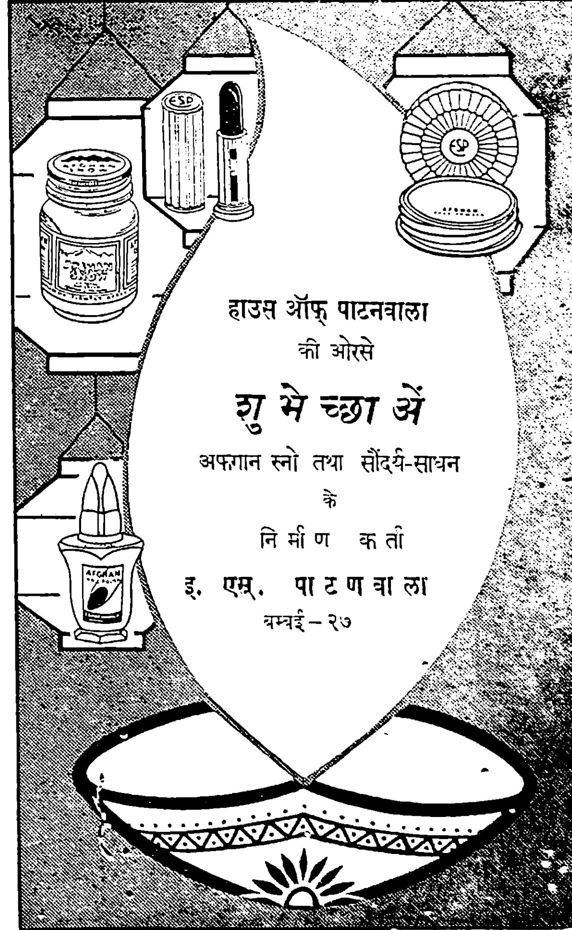
बोकील को ऐसी पूछताछ पसंद नहीं थी। वह ऐसी पहचान कराना नहीं चाहता था। वह अस्पष्ट-सा बोला—"हाँ, वैसा ही कुछ समझो।"

हम कामगारों की विचारधारा एक विशिष्ट साँचे में ढल गयी है। हम समझते हैं कि हर नया कामगार जो हमारे दफ्तर में आया करता है, उसे हमारी ही तरह बनना चाहिए। देशपांडे ने बोकील को कँटीन की 'सूर्ख रंगीन' चाय पिलायी। कँटीन के भजियों की तारीफ़ करते हुए खास बोकील के लिए और अपने लिए भी रणदिवे ने प्याज़ की गरमागरम भजियाँ मँगवायी। 'ना' 'ना' कहनेपर भी उसने बोकील को उनमेंसे दो-एक खानेको विवश किया। भजियाँ खतम हो ही रही थीं कि स्पेशल पान लिए रायकर ने वहाँ प्रवेश किया। बोकील ने साफ़ बताया कि उसे पान नहीं चाहिए। तिसपर बोकील को पान खाने को विवश करनेके लिए मानो होड़-सी लग गयी। मगर बोकील अपनी बात का पक्का रहा। उसने पान नहीं खाया। तो फिर क्या था, रायकर ने वह पान आदती की तरह, मुँहमें पहले के पान के साथ ठूँस दिया। इसके दरमियान हमारे और बोकील के बीच बातें शुरू हो चुकी थीं। उसने हमारे नाम पूछ लिए। हमने उसे ऑफिस के संबंध में सारी बातें बता दीं। बात यह है कि हर एक ऑफिस का अपना एक खास ढंग रहता है। काम में फ़रक नहीं, पर उसे टालने की पद्धतियाँ भिन्न-भिन्न होती हैं। साहबों के प्रकार समान; मगर दूसरों को संभालकर चलनेकी रीतियाँ अलग। रिवाज़ वही, पर साहबको खुश करना या उसे खुश करनेके तरीके अलग। फिर कहीं कामगारोंके सहकारियों में कोई 'सड़ियल' निकल आता है, कोई 'चुगल खोर' तो कोई 'ऊधमी' तो कोई 'छुपा कम्युनिस्ट' नहीं तो 'स्टॉच संविष्ट' ही निकलता है। अगर नया व्यक्ति यह सब जान ले तो बड़ा ही अच्छा होता है। हमने बोकील को काफ़ी बातें बताईं और उसने भी सुन लीं। आपटे के बारे में उसने कहा—"यह आदमी इतना भंगेडी भला कैसा ? ऑफिस के समय में तमाखू चबाता है, खाक़ी रंगकी आधी पँट पहने ऑफिस में चला आता है, यह सब कैसे चलता है यहाँ ? मान लिया कि यह सब कुछ हदतक ठीक है लेकिन यह तो कुर्सीपर आरामसे आसन लगाये बैठता है, बेतुकी, वाहियात बातें करता है। यह सब कैसे सहा जाता है ? किसी भी ऑफिस के उसूलोंमें यह कैसे आ सकता है ? या कोई साहब के पास इसकी शिकायत ही नहीं करता ?" वैसे देखा जाय तो आपटे बचपन से ही अजीब और विद्रोही स्वभाव का रहा है; और इसी कारण दो-एक बार उसपर नौकरी भी खो देने की नौबत आयी थी और एकबार तो उसका प्रमोशन भी रोक दिया गया था, तो भी हाल ही में वह पागलों के अस्पताल में छः महीने रहके आया है। यह बात हमने उसे साफ़-साफ़ बतायी। बोकील को काफ़ी ताज्जुब हुआ। उसने पूछा—"ऐसे पागल व्यक्ति को आपने नौकरीपर रख लिया ?" "वैसे तो ऑफिसके कामकाज में आपटे किसी प्रकारकी गड़बड़ी नहीं करता है।" मैंने अपनी तरफ़ से सफ़ाई प्रस्तुत की। इसलिए इस बर्ताव के कारण साहब भी ज़रा सहमे-सहमे रहता है—यह अंदर की बात भी जगताप ने सुना डाली। बोकील ने कहा—"जब वह काम ठीक करता है तो फिर यह पागलपन भला कैसा ?" इसपर देशपांडे ने आपटे के उग्र स्वभाव तथा पागलपन की कुछ चुनी बातें सुनाईं। बड़े ग़ौर से सुन रहा था बोकील वे सारीं। देशपांडे ने जो बातें बताई थीं वे आपटे की घरेलू थीं और वे भी अस्पताल जानेके पहले की थीं। एक छोटासा घर है, और आपटे मालिक है उसका। चारपाँच किरायेदार रहते हैं उसमें। एकमें वह खुद और बीवी-बच्चे रहते हैं। एक रोज़ उसे सनक आयी कि चलो, इस कमरेको "मंगल कार्यालय" बना डालें। किराया भी भला




मिलता है और आय भी होगी थोड़ीबहुत हमेशाके लिए। बड़ी सुबह वह उठा और कुदाल लिए काम शुरू करने लगा। छोटे-छोटे कमरोंकी दीवारें तोड़कर वह एक बड़ा हॉल बनानेवाला था । कुदालकी आवाज़ से उसकी पत्नी जाग उठी। बच्चे भी उठे। पत्नी ने उसे रोकनेकी कोशिश की। उसे ही वह कुदालसे पीटने दौड़ा और कहने लगा–"अभी वादा करो कि हम हवा खायेंगे, वल्कल पहने रहेंगे ? हमें तो अनाज चाहिए, कपड़ा चाहिए, गहने चाहिए और बच्चे चाहते हैं शिक्षा। मुझे तो महीने में दो सौ रुपये ही मिलेंगे, उससे ज्यादा भला कौन देगा? यह तो मैं भविष्य के लिए इंतज़ाम कर रहा हूँ। 'मंगल कार्यालय' का किराया तो नियमित रूपसे मिलेगा हमें !" इसपर आपटे की पत्नी ने पूछा–"तो फिर हम कहाँ रहेंगे ?"

"गुसलखानेमें !" आपटे ने कड़ाईसे जवाब दिया। अबतक कुदाल की आवाज़ सुनकर पासपड़ोस के किरायेदार जमा हो चुके थे। उन्होंने भी कोशिश की आपटे को रोकने की। तब तो आपटे बहुत ही चिढ़ उठा। चिल्लाकर बोला–"यह घर मेरा है। तुम कौन हो मुझे रोकनेवाले ? तुम मुझे पैसे थोड़े ही देनेवाले हो मुफ्तमें ? किराया तो पाँच-पाँच छः छः महीने नहीं मिला। मेरी आधी तनख्वाह तो सिर्फ़ मुकदमेबाजी में चली जाती है। निकल जाओ यहाँसे। अबतक मैं ही हूँ इसका मालिक। मेरा ही है यह घर।" आख़िर उन लोगोंको ज़बरदस्तीसे आपटे को कमरे में बंद करना पड़ा। काफ़ी समयतक दरवाज़ा खटखटाते रहा वह भीतरसे, दीवारोंको लताड़ते हुए बकते रहा। फिर कुछ समय बाद उसका पागलपन पूरी तरह उतर गया। तब कहीं पत्नी ने उसे बाहर निकाला। ऐसी ही और एक बात हुई। 'बचोंकी सेहत के लिए चाय पीना अच्छा नहीं, यह कहीं पढ़कर आपटे ने सबके ऊपर जबरदस्ती की कि हरी पाती की कड़वी चाय पिये। आपटे के पागलपन का यह ब्यौरा भी देशपांडे ने वोकील को दिया। जब एक बार पत्नी ने लुकछिपकर सादी चाय बना ली तब तो आपटेने उसे "कुलटा" "चांडालिन" ऐसे भयंकर अपशब्दोंसे उसका अपमान किया। और आधा दिन तक घरके बाहर रहनेको मजबूर किया। उसका कहना था —'आगे कुछ दिनों के बाद बचोंका डॉक्टर के पास जाना और सारा ख़र्च सहन करना उसके लिए मुश्किल होगा। कामगार के बचे आख़िर कामगार ही रहेंगे। मैं कम-से-कम छोटासा घरमालिक तो हूँ; आगे चलकर किरायेदार यदि उन्हें रहने दें तो ग़नीमत ही समझो। इसीलिए उनकी सेहत ठीक होनी चाहिए और इसके लिए दुध–घी खिलाना हमसे नहीं होगा, तो कम-से-कम पातीकी चाय पीकर वे तंदुरुस्त तो रहेंगे, पर उनकी माता मेरी कहाँ सुनेगी? वह तो उन्हें दूधकी बनी सुर्ख, विषैली चाय ही पिलाना चाहती है, चाय जैसी विषैली चीज़की लत लगानेवाली यही है आधुनिक जन्मदात्री!' ऐसा कहकर चिल्लाते बच्चोंको जबरदस्ती वह पातीकी कड़वी चाय उनके गलोंमें ठूँसनेकी कोशिश करते रहा। तब और एक बार उसे कमरेमें बंद करना पड़ा। फिर शांत होनेके बादही उसे पत्नी ने बाहर आने दिया। वही समय था जब आफिसमें भी उसने अजीब-अजीब चित्र खींचना शुरू किया था। नंगे आदमियों के चित्र निकालकर उनके नीचे अपने सहकारियोंके नाम लिख देता था। उनके सर की जगह वह फूलकी कुंड़ी निकालता, कान बकरी के, बैल के या गधे के निकालता, कभी-कभी पूँछ भी लगा देता। एकबार तो उसने साहब को भी शामिल किया इन चित्रोंमें। लंच टाइम में उनका एक चित्र निकालकर उसको दो सींग, नुकीली डाढ़ी, और भालेकी तरह एक पूँछ भी लगा दी। अपने साथियों को वह चित्र उसने दिखाया। बात अब इतनी बढ़ गई थी कि हातापाई होनेकी संभावना दिखने लगी। कोई आपटे को यह आव्हान भी दे बैठा कि मर्द हो तो भेज दो यह चित्र साहबके पास। आपटे तुरंत अपनी जगह से उठा और सीधे साहब के कैबिन में चला गया वह चित्र लिये। साहब के हाथमें वह चित्र बड़ी अदब से थमाते वह बोला–"सर, अंग्रेज़ीमें कहावत है न कि 'गिव्ह द डेव्हिल इटस् ड्यू।" साहब इसपर चिल्ला उठा–"पागल कहीं के! पहले अपना काम तो कर दो?" आपटे उलटे चिल्ला उठा–"मैं आपके बापका रिश्तेदार थोडे ही हूँ। मैं नौकरी के लिए आया तब मैंने आपको कोई रेहननामा लिखवा नहीं दिया है!" साहब ने पेपरवेट उठाया और मारने का पवित्रा लेते गुर्राया–"गेट आऊट?" आपटे ने अपनी आवाज़ को और ऊँचा बनाकर उलटे कहा–'सर, टेक केयर, आइ कम् फ्रॉम द रेस ऑफ गोडसेज़ ॲण्ड आपटेज!"



तब दो–चार साथियों ने आपटे को कैबिन से बाहर किसी-न-किसी तरह निकाला और घर भिजवा दिया। और कुछ दिनोंके बाद आपटे खुद पागलोंके अस्पताल में गया था; कुछ दिन वहाँ रहा भी।

देशपांडे ने ये सारी बातें बढ़ा-चढ़ाकर बताई थीं और बोकील उन्हें बड़े ग़ौरसे सुन रहा था। बोकील ने यह भी दो-तीनोंको बोलते सुना कि अस्पताल से आनेके बाद आपटे बडा ही शांत रहा करता है। उसने आपटे की कभी-कभी प्यूनसे यह कहने की रीति भी सुनी थी–" वह फाइल साहब के वॉर्ड में रख आओ!"

'आपटे का वह पहले का रूप अब नहीं रहा'–ऐसा चक्रदेव ने कहा। आख़िर में बोकील बोला—" कुछ भी हो, मेरा तो उससे अधिक परिचय नहीं। मेरी यह सूचना उसे कोई पहुँचा दे कि जिस प्रकार की बातें वह आज करता था, वैसी मुझे कलसे जँचेगी नहीं। अपना मुँह जरा बंद करके बैठे, वरना किसी रोज़ अनचाही बात हो जायगी?"

" हम भला क्यों आपटे को बतायें ", " हम थोड़े ही उससे जाकर कहेंगे " आदि कहनेवालों ने ही पहलेपहल ये सारी बातें आपटे को बढ़ा-चढ़ाकर बता दीं। वे देखना चाहते थे कि आपटे पर क्या परिणाम होता है उसका। बोकील की बात सुनते ही आपटे ने काग़ज़पर कुछ लिखा और वह काग़ज प्यून के हाथों बोकील के पास भिजवा दिया। बोकील ने वह चिट्ठी पढ़ ली और फाड़ डाली।

सभी यह जानने को बड़े उत्सुक बने हुए थे कि उस काग़ज़पर क्या लिखा था। ऑफिस बंद हुआ और हमने बोकील को घेरा। 'कुछ ख़ास नहीं था' बोकील ने हमेशा की तरह शांतता से जवाब दिया। एक–दो व्यक्ति तो जानबुझकर ऑफिस में कुछ समय रुके और सब के चले जानेपर उन्होंने बोकील का वेस्ट-पेपर बास्केट टटोला। वहाँ भी उनकी निराशा हुई। आपटे ने क्या लिखा था इसके बारेमें कुछ भी उन्हें मालूम नहीं हुआ। हम चुपचाप बैठ ही नहीं सके। दूसरे रोज़ बोकील के ऑफिसमें आते ही हम उससे मिले। अनुरोध करके पूछ लिया। तब कहीं बोकील को कहना ही पड़ा। उसने कहा—" आपटे ने बड़े हर्फोंमें सिर्फ़ इतनाही लिखा था —'कुहू'।"

" तो फिर आप चिढ़े जो नहीं ?" चक्रदेव ने पूछा।

" अरे, वह तो डायरेक्ट इन्सल्ट है !" साटम बोला।

" इसपर आप क्या करनेवाले हैं? कुछ कार्रवाई कीजिये! चुप क्यों बैठते हैं ?" शिरसाट ने सवाल किया। बोकिल बोला—" वह मेरी अपनी बात है, मैं आप देख लूँगा ?"

मगर बोकील ने तुरंत कुछ नहीं किया। बीच-बीचमें वह आपटेकी ओर ताका करता था और आपटे को इसकी कोई ख़बर भी नहीं थी। लेकिन एक-दो बार आपटे ने यह महसूस किया कि बोकील उसकी ओर ताका करता करता है। पड़ोस में बैठे शिरसाट से मुख़ातिब होकर उसने कहा–" शिऱ्या, कुहू !" और शिरसाट अपने सड़े दाँतोंका प्रदर्शन करते हुए हँस पड़ा। पर बोकील ने ऐसा दिखावा किया कि मानो उसका ध्यान ही नहीं इस ओर। इतना ही नहीं तो आगे कुछ दिनोंमें आपटे ने जानबुझकर बोकील को चिढ़ानेकी भरसक कोशिश की मगर बोकील बिल्कुल शांत रहा। उसने ध्यान ही नहीं दिया इस ओर। एक बार जगताप ने कहा—" बोकील बिल्कुल बेमतलब का आदमी है।" पर बोकील ने ऐसा दर्शाया मानों उसने कुछ सुना ही नहीं। बोकील ने मानों यह तय कर लिया था कि वह आपटे की इसी तरह उपेक्षा करेगा।

और एक रोज़ बोकील सुबह दफ़्तर में आकर सीधे गंदे-से जूते पर बैठा जो उसकी कुर्सीपर रखा गया था। जब वह यकायक उठ खड़ा हुआ तो उस जूतेका गीला सिक्का उसकी सफ़ेद पैंटपर अंकित हो गया। पड़ोस के सब लोग ठहाका मारकर हँस पड़े। बोकील की आँखें लाल हो गयीं। अपने हाथमें वह जूता उसने थाम लिया और सबको संबोधन करके वह बोला—" जिस आदमी ने यह नीच काम किया है वह इसी जूते से मार खायेगा दोपहर की छुट्टीमें।" वह जूता उसने टेबिल के नीचे रख दिया और आप काम में लग गया। यद्यपि उसने काम करना शुरू किया था तथापि दिल वहाँ लग नहीं रहा था। लगे भी कैसे? बिलकुल असंभव ही था। बोकील को बड़ी भारी चोट लग गयी थी उस घटना से। पड़ोस के लोगों में छिपे-छिपे धीरे-धीरे काना-फूसी भी हो रही थी और आँखोंसे इशारे। इसके कारण बोकील और भी परेशान था। कहीं-कहीं छुपी हास्य-रेखा भी निकल पड़ती थी। इन सारी बातों से बोकील को दुःख होते हुए भी उसने एक बार भी अपनी गर्दन ऊपर नहीं उठाई। साढ़े-बारह बज गये। साहब लंचके लिए चला गया। एक बजे छुट्टी हुई। बोकील ने जल्दबाजी की और हाथ में जूता लिये वह खड़ा रहा। एक नज़रसे उसने सब टेबलोंके नीचे लोगोंके पाँव देख लिये। और उसने देखा कि आपटे के पाँवों में जूते नहीं हैं। बोकील ने एक-दो बार अपनी लाल लाल आँखों से उसे अच्छी तरह देख लिया। बोकील की नज़रसे आपटे भी एक पल के लिये सहम-सा गया।

" आपटे, जरा आगे तो आ जाओ।" बोकील ने अपनी दबी मगर सरगर्मी की आवाज़ में कहा।

आपटे टस-से-मस नहीं हुआ।

सारा ऑफिस यह नज़ारा देख रहा था।

" आपटे, तुम आगे आओ !" बोकील फिर से गरज उठा। इसपर भी आपटे ने सुना नहीं। मगर उसके चेहरेसे यह दिखाई नहीं दे रहा था कि वह आगे बढ़ना ही नहीं चाहता। वह दुविधा में पड़ा रहा होगा।

अब बोकील ही वह जूता लिए अपनी टेबिल छोड़कर आगे बढ़ा।

" तुम्हारे जूते कहाँ हैं?" आपटे से बड़ी आवाज़ में उसने पूछा।

" घरमें।" आपटे बोला।

" मुझसे वाहियात बातें मत करो। बताओ कि यह तुम्हारा है या नहीं ?"

" मेरा नहीं।" आपटे ने जवाब दिया।

" तो फिर तुम्हारे जूते कहाँ गये?" बोकील ने पूछा।

" मेरे जूते घर पर हैं।"

" आपटे, मज़ाक मत करो। नतीजा बड़ा ही बुरा होगा, ध्यान में रखो। चुपचाप कह दो कि यह जूता तुम्हारा है !"

"मैंने कहा न, मेरा नहीं है वह जूता।"—आपटे बोला।

" तो फिर मैं यह समझूँ कि तुम बग़ैर जूते के ऑफिस आये हो !" बोकील गुस्से से बोला। " हाँ " आपटेने कहा। आपटे भी चिढ़ गया था। बोकील का रुख उसे पसंद नहीं आया। उसने कहा—" मैं भले ही नंगा आऊँ ऑफिस में। तुम कौन होते हो मुझसे पूछनेवाले?"

इसपर कहीं कोनेमें कोई हँसा और तुरंत उसने हँसीको रोक लिया।

बोकील अब गुस्से के मारे काँपने लगा। बोला—" बाहर तो आ जाओ आपटे, देखता हूँ।"





"क्यों नहीं आऊँगा बाहर!" कहकर आपटे सीधे निडरता से बाहर जाकर खड़ा रहा। बोकील भी उसके पीछे-पीछे अपने जूतोंसे आवाज़ करते हुए गया। हम भी पीछे हो लिये। साफ़ था कि बोकील अब आपटे को पीटनेवाला था। बोकील का इतना तेज़ मिजाज़ देखकर सबको आश्चर्य हुआ! मैंने सपने में भी यह नहीं सोचा था।

शिरसाट ने बोकील को रोका। बड़ी मुश्किल से उसके हाथ से जूता निकाल लिया। "छोड़ो। उस पाजी को एक बार चेतावनी दे रखता हूँ।" "छोड़ दो मुझे..." बोकील चिल्लाने लगा।

वह दुबला-पतला आपटे कमरपर दोनों हाथ रखे बग़ैर जूतेके सामने खड़ा था। शिरसाट ने जूता छीनकर जब आपटे की तरफ़ फेंक दिया, तब बोकील बोला-"डाल लो अपने पाँवोंमें, डरपोक कहीं का! जो खुद किया उसे मंजूर करनेकी भी हिम्मत नहीं। नादान, बुज़दिल कहींका!"

यह सारा देख कर आपटे भी गुस्से से जल उठा। उसका चेहरा लाल हुआ। उसने एक ही झटके से बोकील को शिरसाट की पकड़ से छुड़ा दिया और कहा- "क्या कहना चाहते हो तुम? अब कहो तो सही।"

इसपर बोकील भी थोड़ासा सहम गया। पर गुस्सा कम नहीं हो रहा था। उसने आपटे को चुनौती-सी दी- "मंजूर करो कि वह जूता तुम्हारा है।"

"मेरा क्योंकर?" आपटे ने पूछा।

"तुम्हारे पाँवोंमें जूते जो नहीं!" बोकील बोला।

"तो फिर क्या तुम यह कबूल करोगे कि तुम्हारी पत्नी धंधा करने गयी है, क्यों कि वह अब तुम्हारे पास नहीं?"

"सम्भल के बोलो आपटे। कचुमर निकालूँगा तुम्हारा।" बोकील बोला।

"तो फिर पहले यह साबित करो वह जूता मेरा है, वर्ना मैं ही तुम्हारा कचुमर निकालूँगा।" आपटे बोला।

बोकील ने अपने को आपटे की पकड़ से छुड़वा लिया और जगताप से चिल्लाकर कहा- "वह जूता दो?" जगताप ने डरते-डरते वह जूता लाकर उसके सामने धर दिया। बोकील ने उसे आपटे के सामने पटका। ..."पहनो इसे।" उसने आपटे से कहा- "कहा न मैंने एकबार कि पहनो इसे।"

आपटे ने अपना पाँव धीरे से जूते में घुसाया। ज़्यादा आगेतक पाँव जा न सका। जूता छोटा था, आपटे के साईज़ का नहीं था। निश्चित आपटे का जूता नहीं था वह।

कुछ समय के लिए वहाँ के वातावरण में अजीब-सी स्तब्धता छा गयी। आपटे ने पाँव निकाल लिया अपना। जूता उठाया और बोकील से उसने कहा- "अब तो कचुमर असल में तुम्हारा निकालना चाहिए? क्यों।"

बोकील भौंचक्का-सा रह गया। अपने हाथों को छातीपर थामे वह चुपचाप आपटे के सामने अपराधी के भाँति खड़ा रहा। उसे अब यह मंज़ूर करना पड़ा था कि वह जूता आपटे का नहीं है।

अनजान में बोकील के मुँह से निकल पड़ा- "तो फिर किसका है यह जूता, बताओ?"

आपटे ने जूता बिलकुल दूर फेंक दिया। चिढ़कर वह चिल्लाया- "अरे, ऐसी चुग़लखोरी करनेके लिए मैं कोई कीड़ा-मकोड़ा थोड़ेही हूँ तुम्हारी तरह। मैं आपटे हूँ समझे! गणगापूरमें, ग़रीबीकी हालतमें रहनेवाले मेरे दादा ने सरकार का पुरस्कार भी ठुकरा दिया; मगर बुखार से पीड़ित और आश्रित बने हुए वासुदेव बलवंत के साथ उन्होंने बेईमानी नहीं की। जानते भी हो तुम यह? मेरे पिताजी ने सारी दुनिया की बदनामी और अपने रिश्तेदारों की निर्भर्त्सना को सहन किया और गुनहगार बनकर वे पाँच साल कैदमें चक्की पीसते रहे; परंतु ऑफिसमें रुपये ग़बन करनेवाले के नाम के बारेमें चूँ तक न किया। और आखिर गलीका भिखमंगा जिस तरह मरता है, उस तरह पागलपन की हालत में रास्तेमें भटकते-भटकते मोटर के नीचे कुचले जाकर मर गये मेरे पिताजी!! दो दिनों तक हमें इसकी ख़बर भी नहीं थी। जब मालूम हुआ तब मेरी माँ ने ठँडी साँस भरते हुए अपने सुहाग का चिन्ह कुंकुम-तिलक मिटा डाला। मेरे भाई-बहन ख़ुश हुए। मगर..... मगर मैं उस रात तकियेमें सर छिपाये सिसक-सिसक कर रोता ही रहा। दहारे मारकर, छाती पीटते मैं रोया अपने पिताजी के लिए। और उस रात मैं अपना बाप बन गया। तब से......तब से बोकील मैं अपना बाप हूँ। और मेरे पिताजी मेरे दादा थे। मैं हरामज़ादा नहीं बनूँगा। पाजीपन मैं नहीं करूँगा। तुम मुझसे वह बात मत कहो। मैं बिलकुल वह सुनना नहीं चाहता।" इतना सारा कहकर आपटे बोकील के सामने से सीधे चला गया। फिर कुछ समय तक बोकील ठक-सा रहा। हम भी सब दंग रह गये।

उस घटनाके बाद एक ही दिन में आपटे फिरसे सुधर गया। याने पहले जैसा ही हो गया। उसका नटखटपन, बकबक, विचित्र बर्ताव, बेमतलबकी दिल्लगी आदि बातें फिर से शुरू हुईं। और वे भी पहले जैसे उत्साह के साथ। परंतु बोकील बड़ा ही गंभीर बन गया। आपटे की तरफ़ जो दृष्टिकोण उसने आज तक रखा था वह पूरा बदल गया। आपटे की वह अब कद्र करने लगा। उसके व्यवहार से दिखाई देता था कि अन्य कामगारों की अपेक्षा आपटे के प्रति उसकी कुछ विशेष भावनाएँ हैं और उसके दिलमें आपटेके लिए कोई ख़ास जगह भी है। उस घटना के दिन से आपटे के हर कार्य के पीछे, भले ही वह गुस्ताखी हो, विचित्र बर्ताव करता हो, बच्चों जैसी हरकतें करता हो-एक ख़ास मतलब छिपा हुआ महसूस करता था बोकील। यह बात आपटे को भी मालूम हुई। यदि कोई पूछता भी तो उसे आपटे कदापि मंज़ूर न करता; तो भी सबको मालूम हुआ था। इसलिए उसने ज़िद्दी बनकर बोकील की हर क्रियाका जवाब सीधे-सीधे बदनामी करते हुए या गुस्ताख़ बनकर देनेकी मानों ठान ली। आपटेको मानो यह सहन ही नहीं हो रहा था कि बोकील के दिल में अपने प्रति थोड़ासा अपनापन हो; अपने साथ बात करते समय वह अधिक समझदारी से बात करे। बोकील के दिल में आपटे के बारे में जो कद्र थी वह खुद आपटे को ही असुविधाजनक महसूस हो रही थी। बोकील की दिल्लगी कोई करता हो तो आपटे बुद्धू की तरह उनकी बातोंमें हिस्सा लेने लगा। बिना बुलाये ही वह बोकील के बारेमें होनेवाली चर्चा में हिस्सा लेता और बोकील के विरुद्ध कुछ मूर्खतापूर्ण बकबक करता रहता। इसके पार्श्वमें हेतु यही था कि बोकील ज़रा चिढ़ जाये। कोई नया झगड़ा ठने। एक बार तो उसने 'Ass' ये शब्द लिखकर एक काग़ज़ बोकील की कुर्सीकी पीठमें चिपकाया और जब बोकील के ध्यानमें यह आया तब सभी लोग हँस पड़े। उनकी हँसी में आपटे अगुआ बना हुआ था। भद्दे, गंदे कॉमेन्टस किया करता था। बोकील का इन बातोंकी ओर गंभीरतासे ध्यान न

अनुक्रमणिका

अनुक्रमणिका

देना जब आपटे को ज्ञात हुआ तब उसे और स्फूर्ति मिली। वह चिल्लाया– "अरे भई, बोकील में ज़रा भी हिम्मत नहीं। बिलकुल बुज़दिल है वह! सच कहूँ–यदि मैं उसकी जगहपर होता न, तो ऐसी आलोचना करनेवाले को छट्ठी का दूध याद दिला देता।"

बोकील बिलकुल शांत अपने काम में लगा रहा।

आपटे ने कहा– "किसी के रुबरू कोई उसे गधा कहे तो बात अलग है और इस प्रकार का पाजीपन अलग। जो कहना चाहता है वह सीधे बोकील के सामने जाकर मर्द की तरह उसे गधा क्यों नहीं कहता भला! अच्छा, हम यह मान भी लें कि एक आदमी गधा है, तो भी उसकी खिल्ली भला क्यों इस तरह उड़ाई जाये?" हमने ठहाका मारा; मगर बोकील ने ऐसा दिखावा किया कि मानो उसका ध्यान ही नहीं। आपटे को और भी फ़ूर्ति मिली। वह बोला– "इसपर बोक्या कुछ भी करे तो मैं यही कहूँगा कि वह बे-माँका बेटा है!"

इस समय बोकील ने कलम एक बार टेबिलपर पटक दी और फिर उठाकर अपने सामने रखे काग़ज़ोंपर लिखना शुरू किया।

आपटे ने सब को संबोधन करके कहा—"देखा आप सबने? मैं तो समझता हूँ कि इस बोकील में हिम्मत नाम के लिए भी नहीं। है मर्द मगर मर्दानगी उसमें बिलकुल नहीं। इसका मतलब यह हुआ कि..."

काम रोक कर बोकील ने अपनी ही जगहपर बैठकर अपने अंगोंको ढीला कर लिया। मगर फिर उसने कुछ भी नहीं किया जिसकी अपेक्षा आपटे को थी। वह कुर्सीपर से उठा और पेशाब करने गया।

उसके लौटनेतक आपटे की स्फूर्ति काफ़ी कम हुई थी। बोकील लौटा तो भी अपनी स्फूर्ति को वह फ़िरसे जाग्रत नहीं कर पाया।

बोकील जब खुद चाय लेता तब चुपचाप आपटे के टेबिलपर भी एक चाय भिजवाया करता। कभी-कभी दोपहरकी छुट्टी में, घरसे लाई कोई चीज़ आपटे के पास भिजवाया करता था। आपटे ऑफिस में न आये या उसे आनेमें देरी हो जाये तो बोकील खुद चुपचाप साहब के पास जाकर आपटे को संभाल लेता था। उसका काम भी वह खुद किया करता था, मगर चुपचाप! आपटे ने एक-दो गलतियाँ की थीं; उसने साहब के सामने इस प्रकार बताया कि मानों वे गलतियाँ उसीने खुद की थीं। इसपर साहब की डाँट भी उसने सहन की। इन सारी बातों के पीछे खुद बोकील है, यह कभी आपटे को मालूम होता और कभी नहीं भी। जब उसे मालूम हुआ कि बोकील ने उसकी मदद की है तब आपटे ने साफ़-साफ़ उसके प्रति अनिच्छा प्रकट की। बोकील पर इसका भी कोई परिणाम नहीं हुआ। शायद वह इसकी अपेक्षा ही किये हुए था।

आपटे की कृतघ्नता की सीमारेखा यहाँ तक ही नहीं रही। एक बार बड़ी अपूर्व उदारता से उसने ऑफिस के पूरे स्टाफको चॉकलेट बाँटे; मगर जानबूझकर बोकील को वंचित रखा। एक बार बोकील की उपस्थिति में उसने अपने खर्च से शिरसाट को चाय पिलाई और खुद भी बड़ी रुचि से पी। कभी-कभी अकारण वह बोकील के आसपास जाकर कानाफूसी किया करता था और उसकी ओर देखकर हँसा करता था। आपटे के बर्ताव की चरम सीमा तब हुई जब उसने अपने पुत्र के उपनयन-संस्कार की निमंत्रण-पत्रिकाएँ ऑफिस के साहब से लेकर प्यून तक को बाँटीं मगर बोकील को नहीं दी।



ऊपर क्या है?

—अनन्त कुमार पाषाण

मेरी ही थकान पहाड़-सी सीढ़ियाँ बन सामने खड़ी है।
मेरा ही अभिमान मरे हुए कुत्ते-सा सामने पड़ा है।
मटमैली शाम ने हमेशा की तरह आसमान रंग दिया,
गत्ते के पीले मकान वह अधफटे खड़े हैं,
लम्बी क़तार है, सड़क का उतार है,
फेंके हुए गजरे में सूखा हुआ प्यार है,
सड़क है, सड़क है, सड़क में सड़क में सड़क है,
जिस पर मैं खड़ा रहूँ ऐसी ज़मीन का टुकड़ा कहाँ है!
सिंका सन्नाटा है और फिर हार है,
किसी खोमचेवाले की खोखली पुकार है!

सामने के छज्जे पर हमेशा की तरह धुली 'सनलाइट' से
धोती पहने हुए
तीस-बत्तीस बरस की खड़ी है कुमारिका—
सूनी है, उजड़ी है, फिर भी तो खड़ी है,
नाटी है, बिला वजह मोटी है,
उसकी उन आँखों के साये में शहर के लोगों के
बिखरते जुलूस हैं,
उचटी उकतायी है, बेसुरे राग में गुनगुना रही है,
दूर किसी प्रियतम को गीत सुना रही है—
'बंसीवाले स्याम बंसुरिया बजा जा!'
बंसीवाले स्याम......

रात तो आयेगी दो घंटे बाद ही—
सदा रात आयी है, सदा प्रात आया है,
शाम के मटमैले पानी में
उसकी वह रागिनी
मक्खी-सी डूब कर मर जायेगी—
रात तभी आयेगी! लड़की सो जायेगी!
रात जब आयेगी, लड़की तब दफ़्तर को जायेगी!

अनुक्रमणिका

दफ़्तर के रास्ते में 'क्यू' है 'बसों' की और
मैं भी हूँ, तुम भी हो, वे भी हैं, मिले-जुले
जनता के लोग हैं—
जनता जनार्दनाय......

मेरे दो फेफड़े हैं जिनमें अच्छी तरह
भर कर अंगार खाँसी उनको सी चुकी है,
जूतों में मोज़े हैं, मोज़ों में कुचले हुए पंजे हैं,
दबे हुए जूतों से टूटे नाखून हैं—
और मैं ट्रामों की लाइन हूँ सीमा हूँ, बंधन हूँ,
मगर मैं स्याम को पुकारती इस उजड़ी लड़की से दूर हूँ,
मैं तो इस नगर की आत्मा हूँ,
लड़की शरीर है!

कल सुबह होगी फिर! बस में मैं बैठ कर
सुबह की रसीली धूप पानी पीती चिड़िया
के समान मुँह ऊपर को करके बूँद-बूँद पी लूँगा!
टूटी हुई चप्पल के तस्मे को
दाबे अँगूठे से वह अपने दफ्तर को पैदल ही चल देगी!
मैं तो उसे देखूँगा, वह न मुझे देखेगी—
आत्मा शरीर को देखती है, पर शरीर अंधा है,
सुखी है!

प्रेम निस्सीम है—
सीमा एक बंधन है—
बंसीवाले स्याम...
प्रेम अव्यक्त है, अभिव्यक्ति एक सीमा है—
"भेजूँ मैं लिख-लिख कर पतियाँ,
कह न सकूँ पर मन की बतियाँ!"
प्रेम निर्लज्ज है, लज्जा एक बाधा है—
"लोकलाज की गठरी फेंकी, मिलने आयी पियारे!"
प्रेम निर्लक्ष्य है, लक्ष्य मात्र अन्त है—
"कहाँ चले इश्क में यह जानते नहीं!"

प्रेम निस्तब्ध है! रात की चीज़ है रात ही निस्तब्ध है!
नीचे मकान है, पान की दुकान है,
होटल है, होटल में बजता रेडिओ है,
मोटर है, बग्घी है, ट्रेन है, ट्राम है,
किसी लैम्प-पोस्ट की बाजू पर चुप बैठा
बूढ़ा-सा कौवा है,
औ' 'निऑन' लाइट है, सिनेमा के बोर्ड हैं,
कुत्ते की भरभरती भूँक है!
ऊपर क्या है यही जानने को आया हूँ,
शायद कुछ ठंढक है, शायद कुछ सुकून है,
क्रोध है, प्यार है! जीत है, हार है!
और उस लड़की का
किसी कल्पित प्रेमी के नाम लिखा
एक करुण पत्र है!

अब तक यद्यपि बोकील ने आपटे के इस बर्ताव को नटखटपन समझा था तथापि इस घटना से बोकील के हृदय में बड़ी चोट हुई होगी। क्यों कि वह खुद उस उपनयन-संस्कार के समारोह में गया तो नहीं और आपटे के पुत्र को कुछ भेंट-स्वरूप देने के बारेमें चर्चा करने के लिए हम सब मिलनेवाले थे, उसके पूर्व ही बोकील सीधे छुट्टी लेकर घर चला गया था; मगर दूसरे दिन इसके बाबत में उसके मन में कुछ बात घर किये हुए है यह जाहिर उसने नहीं किया। कोई समझेगा कि सचमुच बोकील बड़ा ही ढीला और बुद्दू होगा। उसके रीढ की हड्डी ही नहीं। स्वाभिमान वह कदापि नहीं रखता। मगर हम वैसा समझ नहीं रहे थे। क्यों कि जूते की घटना अब तक हमारे स्मृति–पटल से नहीं मिटी थी। ऐसी ही और कुछ छोटी-छोटी घटनाएँ हम जानते थे। आपटे के विरुद्ध बोकील को चिढ़ाने की जानबूझकर कोशिश हममें से कुछेक लोगों ने की; मगर बोकील ने उनकी परवाह नहीं की। वह एक बार सिर्फ़ यही बोला–"शायद हममें से किसीने आपटे को अब तक ठीक पहचाना नहीं होगा। हममें उसे पहचानने की क्षमता ही नहीं।"

और एक बार आपटे ने एक भयंकर भूल की। अस्पताल से लौटने के बाद कम-से-कम ऑफिस के काम के बारेमें वह व्यवस्थित रहा था। वह भूल थी एक चेक के संबंधमें। भूल बड़ी ही ज़बरदस्त थी। और साहब यदि गंभीरता से इस बात को लेता तो शायद आपटे पर ग़बन का इलज़ाम लगाया जा सकता था। एक बात मज़ेकी यह हुई कि ठीक उसी रोज़ आपटे गैरहाज़िर रहा था। जब यह भूल की बात साहबके सम्मुख चली गयी तो वह खुश हो गया आपटे के विरुद्ध कुछ करनेकी कल्पना से। हममें से कुछ लोगों को भी इस बात का मन-ही-मन हर्ष हुआ कि अब उस दुष्ट आपटे को अच्छा दण्ड मिलेगा। सिर्फ़ ऊपरी तौरपर डर, सहानुभूति प्रकट किये सभी धड़कते दिलों से इसका इन्तजार कर रहे थे कि आगे क्या होनेवाला है। हममें से कुछ यह भी कह रहे थे कि हो सकता है आपटे ने वह भूल जानबूझकर ही की हो। ऐसा तर्क करनेवालों में से आपटे के बिलकुल पास बैठनेवाला और ख़ास दोस्त के रूपमें गिना जानेवाला शिरसाट भी था। ऐसी अफवाहें फैलने लगीं कि यह बात अब ऑफिस के उच्च अधिकारियों के पास जायगी और फिर सीधे पुलिस के हाथोंमें सौंप दी जायगी। 'साहब ने पुलिस को टेलिफोन किया है' यह बात भी फैलने में देर नहीं लगी; पर तुरंत यह भी सिद्ध हुआ कि टेलिफोन की बात केवल अफ़वाह ही है। उस रोज़ पितृपक्ष का कार्य होनेके कारण बोकील देरी से ऑफिस में आया। अफ़वाह जब उसके कानों तक पहुँची तब वह बड़ा ही अस्वस्थ बना। मानों उसमें कोई भूत सवार हुआ हो। जल्दबाज़ी करके वह लगभग हम सबसे मिला और उसने सबको जता दिया कि हम सबको संघठित होकर आपटे को बचाना चाहिए। जिसने आनाकानी-सी की उसे सौम्य पर सूचक शब्दों में डाँटा। इसपर भी जिन्होंने कहा–"ना, ना, हम नहीं आयेंगे भाई"—उन्हें साफ़-साफ़ बताया— "देखो, इसका नतीजा बुरा होगा। पाला मुझसे है तुम्हारा, ध्यानमें रखो।"—और चुप बिठाया। इतनी सारी तैयारी करके वह सीधे साहब के पास गया। साहबसे उसने कहा–"अकेले आपटे की यह भूल नहीं। यह भूल हम सबकी है, सारे स्टाफ की है। आप दण्ड देना चाहते हैं तो सबको दीजिये। आप यदि अकेले आपटे ही पर कोई कार्रवाई करनेवाले हों तो पूरा स्टाफ उसका विरोध करेगा।" साहब ने

अनुक्रमणिका

कहा – “ इसमें स्टाफ का कोई संबंध नहीं। कंपनी और आपटे आपस में देख लेंगे। ” बोकील ने कहा – “ स्टाफ यह मानता है कि आपटे उन्हींमें से एक है। और आपटे की ईनामदारी के बारेमें स्टाफ को जरा भी शक़ नहीं। हो सक़ता है उससे भूल हुई हो, मगर उसने जानबूझकर तो कुछ नहीं किया है। ऐसी हालत में, उसपर सिर्फ़ बदले की भावना से कोई इल्जाम लगाया जाता हो,तो वह स्टाफ सहन नहीं कर पायेगा।” साहब ने कहा– “ तो फिर वह अनुशासनहीनता होगी। ” बोकीलने कहा–“ लाचारी से ही क्यों न हो वह करना होगा। आप यह बात पक्की गाँठ में बाँध लीजिये कि यदि सारे स्टाफ की गवाहियाँ ली जायें तो सारी की सारी आपटे के पक्षकी होंगी। इतना ही नहीं तो स्टाफ अपने खर्चेसे आवश्यकता पड़नेपर न्यायालय में केस लड़ानेको भी तैयार है।” साहब सिटपिटाया; बोला–“ यह सब तुम कह तो रहे हो, मगर इसके नतीज़े के बारेमें तुमने ख्याल भी किया है ? ” बोकील ने कहा–“ पूरी तरहसे। मगर स्टाफ आशा करता है कि आप भी आगे कदम बढ़ाते समय अपनी सद्स-द्विवेक बुद्धिनुसार तथा आगे के परिणामों का विचार करेंगे। ”

बोकील लौटा। वातावरण और गंभीर हुआ। आपटे का खाली पड़ा हुआ टेबल सबकी आँखोंमें खटकने लगा। लोग यहाँतक बोलने लगे कि बोकील को भी अच्छा दण्ड मिलेगा। सबकी आँखें साहब के कैबिन की तरफ़ लगी हुई थीं। हरेक यह समझ रहा था कि मैं बच जाऊँ तो बस ! हाथ काम कर नहीं रहे थे ; मुँह भी सबके बंद थे। बोकील ने ही सबके मुँह को मानों ताले लगा दिये थे। शाम हुई। कोई ख़ास बात नहीं हुई। साहब, उसे लिवा लेनेको आई हुई पत्नीके साथ बातें करते-करते घर चला गया। उसके चेहरेपर इस बातका धुँधला प्रकाश भी नज़र नहीं आ रहा था। दूसरे रोज़ आपटे हमेशा की तरह आफिसमें में आया। शायद उससे बोकील ने या और किसीने कहा होगा या हो सकता है वह खुद-ब-खुद आया हों। उसमें किसी प्रकार का फर्क नहीं था। हमेशा की तरह उसकी हरकतें ज़ारी थीं; हँसी, दिल्लगी; बकबक और अजीब बातें ! आपटे का 'यह बर्ताव देखकर कुछ लोगोंने यह समझा कि शायद आपटे अपनी भूल के बारेमें कुछ भी नहीं जानता होगा।

आपटे दफ्तर में आया तब उसके प्रति लोगोंकी जो शंकाएँ थीं, बदले की भावना थी, वह धीरे-धीरे लुप्त होने लगीं थीं। वातावरण में फर्क दिखाई देने लगा। आपटे किसी काम की वजह साहबके कैबिनमें भी जाकर आया पाँच मिनटोंके लिये, मगर उसके चेहरेपर कोई फर्क नजर नहीं आया। इसका परिणाम यह हुआ कि पहले दिन का जो एक निराले प्रकार का वातावरण था वह अब न रहा। शिरसाट ने इसपर एक उपाय किया। आपटे से वह लॅव्हेटरी में मिला और सारी बातें उससे कहीं। मगर ये बातें आपटे जानता था या नहीं यह पहचानना मुश्किल था; क्यों कि आपटे के चेहरेपर इसकी कोई प्रतिक्रिया नज़र नहीं आई। आपटे वैसा तो प्रतिक्रियाएँ कभी ज़ाहिर ही नहीं करता था। शिरसाट ने इन सारी बातोंका इल्जाम अप्रत्यक्ष रूपमें बोकील पर ही लगाया और उसमेंसे आपटे को बचानेका श्रेय बड़ी कुशलता से स्टाफ को दिया। उस समय आपटे तुरंत बोल उठा–“ तुम सबको मैं पहचाने हुए हूँ। मैं जानता हूँ कि इस ऑफिस में मेरी तरफ़से झगडनेवाला कौन है। तुम व्यर्थ की झूठ-मूठ बातें मत करो !। '

दो दिनों के बाद ज्ञात हुआ कि साहब ने यह सारा मामला दबा डाला है। आपटे पर उन्होंने कोई कारवायी नहीं की। बोकील भी अछूता रह गया। न मेमो दिया न लिखित माफी माँगी। आपटे हमेशा की तरह एक उन्मत्त वीर के समान ऑफिसमें घूमा करता था और बोकील बड़ी शांति से अपना काम करता था।

और एक रोज़ बोकील ऑफीस में नहीं आया। लगता था कि वह दूसरे रोज़ जरूर आयेगा, पर वह नहीं आया। उसने एक चिट्ठी भेजी थी कि सेहत बिगड़ गयी है इसलिए उसे पंद्रह दिनोंकी छुट्टी देकर उपकृत किया जाए। बोकील को १५ दिनोंकी छुट्टी सँक्शन की गयी। पंद्रह दिन बीत गये पर बोकील ऑफिसमें नहीं आया। उसने और छुट्टी माँगी। वह भी जब ख़त्म हुई तब उसने बिना-वेतन की छुट्टी माँगी। स्टाफ ने अबतक बोकीलकी छुट्टी के बारेमें विशेष उत्साह नहीं दिखाया था; मगर अब वे लोग बार-बार चर्चा करने लगे। बोकील की अनुपस्थिति यदि किसीको कम खटकी होगी तो वह था आपटे। कम-से-कम वैसा उसके बर्ताव से नज़र आता था। मगर अब आपटे भी बोकील के बारेमें की गयी चर्चा बड़े गौरसे सुनने लगा। कभी-कभी एकाध सवाल भी पूछ बैठता। जैसे “ बोक्या कल रात को मर गया, क्या यह ख़बर ठीक है ? ” या “ अरे जगताप, मैंने आज सुबह अखबार में पढ़ा कि बोकील को हैजा हुआ ? तुमने भी कुछ सुना है ? ” आपटे के सवाल विचित्र तो थे ही, मगर यह बात सत्य थी कि बोकील की अनुपस्थिति के कारण आपटे क़ाफ़ी बैचेन बना था और इसलिये बोकील की सही हालत जान लेनेकी उत्सुकता उसमें पर्याप्त थी।

और एक रोज़ ॲटम बम की तरह बोकील का त्यागपत्र दफ्तरमें आया। बड़ी खलबली मच गयी सारे ऑफिस में। आपटे जैसा व्यक्ति भी कुछ क्षणों के लिए चकित रह गया। अब एक ही सवाल सबको तंग कर रहा था कि “ बोकील को आख़िर हुआ क्या है ? ” दो-चार लोग अब बोकील के घर जानेकी बात का विचार करने लगे। आपटे उन्हें प्रेरित किये जा रहा था। और उसके लिए अपनी हमेशा की हँसी-दिल्लगी की बात को कुछ समय के लिये दूर रखा था उसने।

और बोकील के घर जानेवालों में से सर्वप्रथम थे चक्रधर और देश-पांडे। उस रोज़ जब वे ऑफिसमें आये तब उनकी हालत बड़ी ही विचित्र-सी बन गयी थी। जब मालूम हुआ वे दोनों बोकील से मिलकर आये हैं तो उनको सबने घेर लिया। और सबने उन दोनोंसे पूछना शुरू किया, “ क्या हुआ उसे, कैसा है अब ? नौकरी कहाँ मिली ? ” इस सब गड़बड़ी में आपटे बिलकुल पीछे खड़ा रहा। वह कुछ पूछ तो नहीं रहा था मगर सारा सुन रहा था।

सबको चुप करते हुए और परेशानी बताते देशपांडे बोला—“ बोकील के मनपर कोई जबरदस्त असर हुआ है। ”

“ कैसा असर ? ” जगताप ने पूछा।

“ वह तो मैं नहीं जानता। ” चक्रदेवने कहा।

“ वह कुछ बोलता ही नहीं। चुप बैठा रहता है। डाढ़ी बढ़ा ली है उसने। बालों को बिलकुल छोटा बना लिया है। उनपर तेल नहीं डालता या पानी भी नहीं। इतना ही नहीं बल्कि वह पहचाना भी नहीं जाता। बड़ा ही अजीब दिखता है। हमारे साथ भी वह ऐसा पेश-आया जैसे हम कोई अपरिचित हैं; पर हमें वह पहचानता है। क्यों कि एक ही बार





उसने हमें नामसे पुकारा। "क्यों देशपांडे" "कहो चक्रदेव" ऐसे सवाल किये। उसका बोलना बिल्कुल निरुत्साही, निर्जीव सा बना हुआ था। यंत्रवत् बोलता था वह। और वह भी बिल्कुल थोड़ासा। जब हमने उससे पूछा–"ऑफिसमें क्यों नहीं आते?" तब वह जरासा हँस दिया। उसको हँसी कहना भी उचित न होगा। रोना भी न था वह। जब मैंने उससे पूछा–"त्यागपत्र क्यों दिया तुमने?" तब उसने कुछ जवाब नहीं दिया; पर अपनी आँखें बंद कर लीं। और जब खोलीं तो सुर्ख बनी हुई थीं।

देशपांडे ने कहा — "सच कहूँ, तो क्षणभर मुझे महसूस हुआ कि मैं भी रो पड़ूँगा। और थोड़ासा डर भी गया मैं —। वह पहले का बोकील नहीं रहा था और एक मजेकी बात यह हुई कि हम बाहर बैठे बोल ही रहे थे कि भीतरसे एक सिसकने की आवाज आयी।"

"हाँ, मैंने सुनी थी वह। स्त्री की थी वह आवाज।" चक्रदेव बोला।

"पत्नी ही की आवाज थी वह।" यह सारा सुनते हुए जगताप कुड़बुड़ाया — "पिछले ही साल तो बोकील की शादी हुई थी। ..."

कुछ क्षणों के लिए एक अजीब-सी स्तब्धता फैल गयी चारों ओर।

"तो फिर कहना क्या है तुम्हारा?" आपटे पीछे से कर्कश आवाजमें चिल्लाया — "यही न कि बोक्या पागल हुआ! उसका सर चकरा गया? बड़ा अच्छा हुआ। चलो, गनीमत हुई।"

हम सबने मिलकर आपटे के इस विधान के प्रति नाराजी दिखायी। आपटे का इस प्रकार कहना रीति और समय के अनुकूल नहीं था। यह बड़े जोरोंसे जब हमने आपटे को समझाया तब आपटे बिल्कुल चुप रह गया। फिर उसने कभी ऐसा सवाल नहीं किया। मुँह बिल्कुल बंद रखा उसने। वह बड़ा ही गंभीर बन गया। वही नहीं, देखा जाये तो सारा ऑफिस गंभीर हो गया। प्यून भी चुपचाप कुछ सोचते– विचारते बैठे हुए थे। एक बात निःसंशय थी कि बेचारे बोकील की जो कुछ हालत हुई थी वह ठीक नहीं थी। बोकील जैसे की हालत इस प्रकार नहीं होनी चाहिए थी।

फिर रोज, या दो दिनमें एक बार कोई बोकील के घर जाता और उसकी हालत देखके आता। ऑफिसमें आकर उसका बढ़ा-चढ़ा वर्णन करने लगता। हररोज बोकील के प्रति नयी-नयी सहानुभूति प्रकट की जाने लगी। बोकील की हालतमें सुधार नहीं हो रहा था। कोई कहता कि कल उसकी किसी स्पेशलिस्ट से जाँच की गयी। कोई कहता अब उसपर मांत्रिक इलाज करेगा। उसके ससुर का कहना है कि उसे भूतबाधा या ऐसाही कुछ हुआ होगा। और किसीने कहा कि उसे शिर्डी ले जानेवाले हैं। किसीने आकर यह भी बता दिया कि बोकील को 'इलेक्ट्रिक शाक' दिये जानेवाले हैं; उसके बिना उसका सुधरना मुश्किल है। ऐसा स्पेशलिस्ट का मत है। इसी समय सबको मालूम हुआ कि पत्नी और ससुराल के लोगोंके अतिरिक्त बोकील का अपना कोई नहीं। और भी बातें मालूम हुईं कि ससुर से बोकीलकी अनबन तो थी ही, मगर अपने दामादकी ऐसी हालत देखकर अपनी बेटी के पास, सारा झगड़ा भूलकर ससुर रहने आया है।— बोकील की पत्नी गर्भवती है चार महीनोंकी। और बोकील में जरा भी सुधार नहीं यह बात बिल्कुल स्पष्ट थी। वह चुप बैठा रहता। आजकल वह सिगरेट काफी पीने लगा था। वह न पढ़ता था, न लिखता था। नींदकी मात्रा भी उसकी कम हो गयी थी। किसी बात के विचार में ही सिगरेट पीते-पीते वह सारा दिन गुजारा करता था। थाली में खाना परोसा हो, तो बिल्कुल थोड़ा खाता। चाय दी जाय तो वह पीता। स्नान करनेको चलनेकी सूचना मिलनेपर ही चलकर नहाता। मगर इन बातों में उसका दिल नहीं लग रहा था। दिल कहाँ लग रहा था, यह भी मालूम नहीं था। क्यों कि वह कुछ बोलताही न था। एक ही जगह पर बैठे-बैठे उसका शरीर स्थूल बन रहा था। जब मैं गया तब मुझे नामसे वह पहचान न सका। सिर्फ व्यक्तिरेखा वह थोड़ीसी पहचान सका बस!! फिर वह भी भूल गया। फिर मुझे वहाँ बैठना बड़ा मुश्किल हो गया। और मैं चुपचाप चला आया वहाँसे।

इस बीचमें हम सब कम-से-कम एक ही बार क्यों न हो बोकील के घर हो आये थे उसे देखने; पर आपटे उससे मिलने एक बार भी नहीं गया था। किसीके कहनेपर वह बोकील की बातें बड़े गौरसे सुनता था और उनपर विचार किया करता था। भूलसे भी उसने कभी यह प्रकट नहीं किया कि वह बोकील से मिलना चाहता है। इतनाही नहीं तो बोकील के बारेमें जानने की उत्सुकता भी उसने नहीं दर्शायी। मगर वह इन सारी बातों की ओरसे बेफिक्र नहीं था। इस मामलेपर वह अपनी ही पद्धतिसे विचार कर रहा था। इसके सबूत के लिए यही बताना पड़ेगा कि उसकी ऑफिस में की जानेवाली हमेशा की बकबक कम हो चुकी थी। अब उसमें पहला उत्साह नहीं बचा था। जब उसे अपने अजीब वर्ताव की याद आती तो वह मानो जानबूझकर ही वैसा वर्ताव करनेकी चेष्टा करता।

और एक रोज आपटे चुपचाप, ऑफिससे निकलकर सीधे बोकील के घर पहुँचा। उसने सुना था कि कोई मांत्रिक बोकील के घर आनेवाला था। मांत्रिक जिसपर इलाज करता है उसकी हालत कितनी खराब होती है, वह किसी प्रकार अधमरा बन जाता है, यह उसने ऑफिसमें ही सुना था। उसने उसके भयंकर वर्णन सुने और अब तक निग्रही बना हुआ आपटे, बोकील के घर जा पहुँचा।

आपटे जब दरवाजेपर आकर खड़ा रहा, तब बोकील पार्टिशन किये हुए सिंगल रूम में नीचे चटाईपर बैठा हुआ था। बोकील में इतना फ़र्क़ हुआ था कि आपटे उसे पहचान भी न पाया। उसका चेहरा बड़ा ही उदास दिख रहा था। उसी रोज उसने डाढ़ी करवा ली थी और बालोंको कटवा कर छोटा बनवा लिया था। उसकी आँखोंमें सुर्खी थी और इर्दगिर्द जले सिगरेट के टुकड़ों की राख और सिगरेट के पाकिटों की राशि नजर आती थी।

आपटे दरवाजे के पास ही जरा गड़बड़ा गया; और फिर सीधे बोकील के सामने जाकर बैठ गया। वह बोकील की तरफ़ बड़े गौर से ताकता रहा। जिस प्रकार एक दर्जी दूसरे दर्जी के सिलाये कपड़ोंके अस्तरको उलट-पलट कर देखा करता है, उसी प्रकार बड़े गौरसे आपटे बोकील का आंतरिक अस्तर, अच्छी तरह देख रहा था। उसकी नजर एक भी सिलाई का भाग छूटने देना नहीं चाहती थी।

बोकील कुछ नहीं बोला। आपटे की उपेक्षा करते हुए सिगरेट मुँहमें लेकर धुआँ निकालते हुए वह दरवाजे के बाहर की तरफ़ आराम से देख रहा था। और उस तरफ़ उसके ससुर पढ़नेका बहाना किये, यहाँ ध्यान लगाये हुए बैठे थे।

"क्यों जी?" आपटे ने पूछा।

बोकील के होंठों का स्पंदन हुआ; मगर वह कुछ बोला नहीं। सिगरेट का एक कश उसने खिंचा और कश के कारण ठसक लगी।





और वह खाँसता ही रहा। उसकी खाँसी ठहरनेपर आपटे ने पूछा– "तुम्हें हुआ क्या है ?"

आपटे की ओर देखने की वोकील ने कोशिश की; और फिर उस कोशिश को छोड़ भी दिया और चटाई की ओर निहारते बैठा।

आपटे ने फिरसे कहा– "मैं पूछ जो रहा हूँ ? तुम्हें हुआ क्या है ?"

वोकील उसी स्थिति में बैठा रहा।

आपटे के चेहरेपर ज़रासी चिढ़ नज़र आने लगी। उसके मनमें एक अपमानजनक विचार उठा। मैं गला फाड़कर पूछ रहा हूँ और यह आदमी जवाब भी नहीं दे रहा है? फिर एक बार कश लेनके लिये वोकील ने सिगरेट अपने होठों के पास ले ली; और उसी समय आपटेने उसकी कलाई पकड़ ली और ज़ोरोंसे नीचे की तरफ़ खिंच ली।

"मैं तुमसे पूछ जो रहा हूँ ?" वोकील ने झगड़ा करनेकी आवाज़ में पूछा—"तुम तो जवाब ही नहीं दे रहे हो ?"

अब आपटे की आँखोंमें खून चढ़ आया। एक झटकेसे उसने वोकील का हाथ छोड़ दिया। अपना मुँह आपटे ने बिलकुल उसके पास ले लिया और वोकील की आँखों में देखते वह गुर्राया— "तुम पागल हो तो मैं दस पागल हूँ। वोक्या, तुम निर्लज्ज बने हुए होगे अब; मगर मैं जन्म से घनचक्कर हूँ। तुम कुछ-न-कुछ बोलो तो। वर्ना याद रखो। तुम जानते हो न मैं कौन हूँ ? आपटे हूँ मैं, हाँ !!" यह सब बोलते हुए आपटे बड़ा ही जोशीला बना हुआ था और उस जोश के मारे वह काँप रहा था। वह फिर बोल उठा—"बोलो वोक्या, यह सारा तुमने क्या बना रखा है ?"

अब वोकील के चेहरेपर थोड़ीसी हलचल नज़र आयी। लगा कि वह बोलेगा। उसके ओठों में स्पंदन हुआ एक बार। मगर वह बोला नहीं। कुछ ही पलोंमें वह फिर उदास – निराश बन गया। शुष्क बन गया।

वोकील मुर्दे की तरह चुप बैठा रहा। ससुर यह सारा देख रहे थे। वोकील की पत्नी दरवाज़े की आड़ में, साड़ी के छोर में मुँह छिपाये खड़ी थी। लेकिन आपटेका ध्यान यहाँ कहीं भी न था। उसे इसका कुछ अर्थ मालूम ही न था। वह जानता था सिर्फ़ वोकील को। वह देखता था सिर्फ़ वोकीलको। दाँतोंको किटकिटाते निर्विकार बने वोकील से वह बोला— "नालायक़, हरामज़ादे कहीं के ! तुम मेरा खात्मा ही करना चाहते हो ? मुझे बुद्दू बनाना चाहते हो ? तुम चाहते हो कि सारी दुनिया मेरा मज़ाक उड़ाये और हँसते रहे मुझपर ? बदला लेना चाहते हो न तुम ? पर याद रखो तुम्हारा बाप भी वह कर न पायेगा ? आपटे किसीका अपना आदमी भी हो सकता है और न भी हो सकता है। देखना चाहते हो तुम ? अरे उससे यही अच्छा कि तुम ज़हर पी लो। बोलो वोक्या, तुम मुझे सारा बता दो। अपने मनमें कुछ मत रखो; भीतर ही भीतर कुढ़ो नहीं। कम ऑन, बोल दो, करो शुरूआत, शूट !! पागलपन का यह बहाना बहुत हो चुका। सच्चा पागलपन मैं जानता हूँ। और कोई धोका खा सकता है, पर यह आपटे कदापि धोका नहीं खायेगा। जानते हो क्यों ? क्यों कि यह सच्चा पागल था। और अब भी पूरी तरह से दुरुस्त नहीं हुआ है यह !! मेरे ही सामने मुझे धोका ? नहीं चलेगा। चुपचाप सारा बता दो, वर्ना तमाचा जड़ दूँगा। ज़िंदगीभर याद रखोगे, हाँ !! बोलो ! वोक्या बोलो भी !!"

आपटे की आँखोंमें अब पागलपन का नशा चढ़ने लगा। उसका चेहरा फ़ीका पड़ने लगा। होंठ टेढ़े – मेढ़े बनने लगे। "काड्‌ काड्‌" आपटे का दाँया घूँसा निर्विकार, शुष्क बनी हुई वोकील की दो आँखोंके बीचमें टकराया। वह नाक, गालोंसे, कानपर फिर-फिर टकराने लगा। और वोकील ने अपने दोनों हाथोंसे अपना चेहरा दृढ़ता से ढँक लिया। वोकील के ससुरजी ने उसे रोका वर्ना आपटे उसे और भी मारता। वोकील सुन्न बैठा हुआ था। मानों धीरे-धीरे बेहोशी से होश में आ रहा हो। उसकी नासिकाओंसे खून की धाराएँ बहने लगीं। उन धाराओंसे वोकील के कपड़े भीगकर लाल बन रहे थे। उसके सामने जो चटाई थी उसे जलती सिगरेट के कारण आग लग गयी थी और वह धीरे-धीरे जल रही थी। उन्मत्त बने हुए मगर दुबले-पतले आपटे को वोकील के ससुरजी ने बड़ी चालाकीसे पकड़ रखा था और वे मदद के लिये पुकार रहे थे।

लोगोंने आपटे को पकड़ लिया और रास्तेपर लाकर उसे छोड़ दिया। वह बोले बिना, चुपचाप गर्दन झुकाये चला गया। वोकील को घरमें सुलाया गया जमीनपर और उसके माथेपर बर्फ रखा गया। यह सब हो रहा था मगर वोकील खुद बड़ा ही शांत था। चुप था। निर्विकार था। बगलमें उसकी पत्नी सिसक रही थी और उसके ससुर उस जंगली आपटे को गालियाँ सुना रहे थे।

उसके बाद आपटे ने कभी पागल की तरह बर्ताव नहीं किया। वह बगैरे जूते के ऑफीसमें नहीं आया। उसने खाकी आधी पँट कभी नहीं पहनी। पाजी की तरह बकबक उसने नहीं की। बेमतलबकी हँसी वह कभी हँसा नहीं या तमाखु उसने कभी मुहँमें नहीं डाली। आपटे का अस्तित्व नहीं के बराबर ही था।

और वोकील ? बिजली के इलाज से उसे सुधारा गया। इन बेकारीके दिनोंमें एक मामूली सी नौकरी भी उसे मिल गयी। पेकिंग का जैसा ही कुछ काम करता है वह। कभी वह किसीसे नहीं मिलता है। किसीके मिलनेपर वह हमेशा इसी कोशिश में रहता है कि उससे चार-आठ आनोंसे लेकर दो-चार रुपयों तक की रकम उधार माँगे। पैसे कोई दे तो वह लाचारी की हँसी, हँस देता है। पैसा न देनेपर भी वही हँसी। दूसरे किसी प्रकारकी हँसी वह जानता ही नहीं जैसे। और हँसी के अतिरिक्त वह कुछ करना ही मानो नहीं जानता – लेकिन पेकिंग के अतिरिक्त।

बेचारा वोकील पागल क्यों हुआ ! हालही में मुझे जो मालूम हुआ वह इस प्रकार था —आपटे ने चेक के बारेमें जो भूल की थी वह जान्‌-बूझकर की थी, ऐसा वोकील को बादमें मालूम हो गया और तभी वह पागल हुआ। कुछ यह भी सुना गया कि आपटे ने साहबसे व्यक्तिगत भेंट लेकर अपनी बीवी–बच्चोंकी तरफ़से माफ़ी माँगते हुए उसके पाव पकड़े और यह वोकील को जब मालूम हुआ तभी वह पागल हो गया।

इसके बाबत में हक़ीक़त तो सिर्फ़ आपटे ही बता सकता है। और वह कहता नहीं...। • •

अनु:– वसंत प्रयागकर



मैं धन नहीं चाहता। लोग तो केवल अपने बिल के पैसे मेरे पास जमा किया करते हैं और मैं.... मैं तो भाओी अपने बिल कभी नहीं चुकाता।



डी. एस. सी. (डिस्ट्रिक्ट स्टील कन्ट्रोलर) श्रीवास्तव साहब और एरिया इंस्पेक्टर कुमार बाबू का उद्योग नगर से एक साथ तबादला हुआ। गत पाँच वर्षों से ये दोनों अधिकारी भारत सरकार द्वारा प्रस्थापित इस औद्योगिक कालनी में लघु–उद्योगों के अल्प साधनों-वाले उद्योगपतियों में बड़े लोकप्रिय रहे थे। इनके कार्यकाल में बहुत से लोग छोटे-छोटे कारखाने लगाने की ओर प्रवृत्त हुए। जगह-जगह पर मजदूर ठोंकपीट करते नजर आने लगे। पाँच साल पहले मैन्यूफेक्चरर्स एसोसिएशन के सदस्यों की संख्या बड़ी मुश्किल से बीस-बाइस थी, इन पाँच सालों में वह संख्या सवा सौ के ऊपर पहुँच चुकी थी।

दोनों अफसरों को विदाई देने के लिए एक पार्टी का आयोजन किया गया। असल में यह केवल समारोह ही नहीं था। नए डी. एस. सी. सराया साहब और नए एरिया इन्स्पेक्टर सिद्धांती साहब का स्वागत समारोह भी था।

खाना-पीना हो चुकने के बाद एसोसिएशन के अध्यक्ष स. अमरीक सिंह बोलने के लिए खड़े हुए — "प्यारे दोस्तो, आज हमारे लिए गमी का दिन भी है और खुशी का भी। गमी का इसलिए कि हमारे पुराने अफ़सर साहबान हमें छोड़ कर दूसरी जगह जा रहे हैं और खुशी का इसलिए कि उनकी जगह हमें नए अफसरों से मिलने का मौक़ा मिल रहा है। आप सब साहबान अच्छी तरह जानते हैं कि श्रीवास्तव साहब और कुमार साहब ने हम छोटे-छोटे मैन्यूफेक्चरर्स की कितनी हेल्प की। हमारे मुल्क में इन्डस्ट्री की अभी कितनी तरक्की होनी है, आप सब लोग जानते हैं। हम लोग अपने मुल्क को बहुत ऊँचा उठाना चाहते हैं पर यह तभी पासीबल हो सकता है जब गौरमेन्ट हमारी पूरी हेल्प करे। आप सब जानते हैं कि आजकल स्टील की कितनी दिक्कत है। बिना स्टील के कोई कारखाना नहीं चल सकता। श्रीवास्तव साहब और कुमार साहब ने हमारी मुश्किलों को आसान करने की पूरी कोशिश की। हम सब उनके बहुत धन्यवादी हैं। परन्तु हमारे कोटे अभी भी बहुत कम हैं। हमें और स्टील चाहिए। सरकार हमें जितना बड़ा कोटा देगी, हम अपने मुल्क की उतनी ही सेवा कर सकेंगे।"

हॉल तालियों की गड़गड़ाहट से भर गया। हियर-हियर की दो-एक आवाजें सुनाई दीं। किसी ने कानाफूसी की– 'सरदार जी को ५० टन का कोटा मिलता है। हर तिमाही उसे ब्लेक में बेचकर तीन हजार पीट देते हैं।

अनुक्रमणिका

..."क्या कोई चीज़ हमारी आज़ादी से भी ज़्यादा कीमती है। यह तो सोने का एक छोटा-सा टुकड़ा है, जो एक बड़े देशसेवक की ओरसे एक युवक देशसेवक को समर्पित है"... और सिद्धान्ती उस चमकती हुई अँगूठी में अपनी दृष्टि की चमक खोता हुआ निहारता रहा... ।

म ही प सिं ह

लेकिन मुल्क की उन्नति तभी होगी जब उनका कोटा सौ टन का कर दिया जाए।'

सरदारजी ने अपना भाषण समाप्त करते हुए कहा– "हमें पूरा भरोसा है, हमारे नए अफसरान साहब हम पर अपनी मेहर भरी नज़र रखेंगे। अपनी ओर से और एसोसिएशन की ओर से में उन्हें सब तरह की सेवा का पूरा भरोसा दिलाता हूँ।"

तालियों की गड़गड़ाहट फिर हुई और एसोसिएशन के मंत्री रोहतगी साहब खड़े हुए–"फ्रेन्ड्स, हमारे प्रेसीडेन्ट सरदार अमरीक सिंह की स्पीच के बाद बोलने के लिए कुछ रह गया है, आई डोन्ट थिंक। हम स्माल मेन्यूफेक्चरर्स की डिफीकल्टीज की तरफ़ हमारे प्रेसीडेन्ट ने न्यू आफीसर्स का अटेन्शन ड्रा किया है। वी सिंसियरली होप दे विल कोआ-परेट विद अस। मैं आप सबकी तरफ़ से इस इंडस्ट्रीयल कालनी में उनका स्वागत करता हूँ। साथ ही आऊट गोईंग आफीसर्स मि. श्री-वास्तव और मि. कुमार के हम बहुत ग्रेटफुल हैं। वे अपनी लाइफ में और बड़े आफीसर बनें, हमारी गुडविशज उनके साथ हैं।"

तालियों की फिर गड़गड़ाहट हुई।

इसके बाद श्रीवास्तव साहब बोले; उन्होंने कहा– "हम तो देश के सेवक हैं, जहाँ भी जायेंगे देश की सेवा ही करेंगे।"

पीछे फुसफुसाहट हुई– "साला पचास हजार हार्ड कैश बना कर जा रहा है।"

कुमार बाबू ने कहा– "देश की उन्नति का सारा भार आप लोगों पर है..."

फिर फुसफुसाहट हुई – 'और आपकी उन्नति का सारा भार भी तो हम पर है।"

कुमार बाबू कह रहे थे– "आप लोगों ने जिस तरह हमारे साथ कोआपरेट किया है, हमें पूरी आशा है आप उसी तरह हमारे सक्सेसरों के साथ भी करेंगे..."

पीछे से धीरे से किसी ने कहा– "जी हाँ, जिस तरह आपका पेट भरा है, उसी तरह आपके सक्सेसरों का भी भरेंगे।"

भाषण समाप्त हो गए; पुराने अफसरों ने नए अफसरों से सभी का परिचय कराया।

दूसरे दिन सराया साहब से मिलकर सरदार जी बाहर आए तो बाहर प्रतीक्षा करते हुए रोहतगी बाबू और गुप्ता जी ने पूछा– "कहिए, कैसी रही ?"

"साला सौ रुपये टन माँगता है।"

"आपने कहा नहीं हम लोग श्रीवास्तव को पचास रुपये टन देते थे।"

"कहा तो।" सरदार जी बोले–"पर, वह कहता है कि मुझे इससे मतलब नहीं कि श्रीवास्तव साहब क्या लेते-देते थे, मेरा तो यही रेट है।"

रोहतगी बाबू बोले– "ठीक है। वी शेल पे हिम हन्ड्रेड रुपीज पर टन। पर उसे हमारा कोटा डबल करना पड़ेगा।"

गुप्ता जी ने कहा– 'यह ठीक है।'

सरदार जी ने कहा– "आइए, तीनों चलकर उससे बात करें।"

तीनों को एक साथ देख कर सराया साहब मुस्करा दिए – "कहिए, आपकी क्या सेवा कर सकता हूँ।"

गुप्ता जी बोले– "साहब सेवक तो हम हैं। आप कुछ टुकड़े फेंक देते हैं, हम उठा कर अपना और अपने बाल-बच्चों का पेट भर लेते हैं।"

रोहतगी बाबू को गुप्ता जी की यह अति विनम्रता खली। उनकी यही शिकायत है कि ये पुराने ढंग के मुड़िया छाप व्यापारी अपनी प्रेस्टीज का बिल्कुल ख़्याल नहीं रखते।

सरदारजी ने बात को सीधा रख दिया –"जी, आप जैसा कहेंगे हम वैसा ही करेंगे, पर आप हमारे कोटे तो बढ़वा दीजिए। आजकल तो गुज़ारा करना मुश्किल हो रहा है..."

"आपको कितना कोटा मिलता है ?" सराया साहब ने पूछा।

"पचास टन"

"और आपको ?"

"पेंतीस टन।" रोहतगी साहेब ने कहा।

सराया साहब की नज़र गुप्ताजी की ओर उठी। वे बोले–"चालीस टन"

"आप ऐसा कीजिए," सराया साहब बोले–" अपने कोटे इन्क्रीज कराने की एप्लीकेशन दे दीजिए...हाँ, इन्स्पेक्टर सिद्धान्ती से उसे रेक्मेन्ड करवा लीजिएगा।"

बाहर निकल कर गुप्ता जी बोले–" कुत्ता बड़े पेट का है।"

"दो रोटी ज़्यादा डाल दो" सरदारजी बोले–" पर देखो, गुर्राने न पाए।"

वहाँ से निकल कर तीनों सिद्धान्ती के पास पहुँचे। सिद्धान्ती नया नया ही इन्डस्ट्रीज विभाग में इन्सपेक्टर बना था। सब पुराने इन्सपेक्टर उद्योग नगर में आने की लालसा लिए ही रह गए और सिद्धान्ती की नियुक्ति हो गई। लोगों ने कहा–" लड़का सारी जिन्दगी की कमाई उद्योग नगर से कर लाएगा।"

तीनों ने एक-एक करके अपना रोना उसके सामने रोया। सारी बात सुन कर सिद्धांती ने संक्षिप्त-सा उत्तर दिया–" ठीक है। मैं आप लोगों की फैक्टरी में किसी समय आकर इन्स्पेक्शन करूँगा और यदि आप लोगों की जरूरत मुझे जायज़ लगी तो मैं ज़रूर रेक्मेन्ड कर दूँगा।"

अनुक्रमणिका

तीनों ने एक दूसरे की ओर देखा। सिद्धान्ती अपनी फाइलों में खोया हुआ था। सरदार जी ने गुप्ता को आँख मारते हुए ओठ विचकाए। मतलब था, बड़ा घुटा हुआ है।

रोहतगी साहब अपनी टाई ठीक करते हुए बोले–"क्यों साहब, आप कब विजिट करेंगे?"

"विज़िट?" सिद्धान्ती बोला–"इसी महीने में किसी दिन आ जाऊँगा।"

"मेरा मतलब है..." रोहतगी साहब कुछ रुकते हुए बोले–"अगर यह मालूम हो जाए कि आप किस दिन विजिट करेंगे तो गाड़ी भिजवा दूँ। खामख्वाह आपको क्यों तकलीफ़ हो।"

"नहीं, तकलीफ़ की ऐसी कोई बात नहीं।" सिद्धान्ती ने कहा–"हमारा तो काम ही यही है। और इन्सपेक्टर की विजिट तो सडन होनी चाहिए।"

तीनों उद्योगपतियों ने एक दूसरे की तरफ़ फिर देखा। सरदार जी ने फिर आँख मारी और मुँह बिचकाया।

गुप्ता जी ने बाजी संभालते हुए कहा–"आपकी बात तो ठीक है इन्स्पेक्टर साहब। ड्यूटी इज ड्यूटी। पर हमारी फैक्टरी तो शहर के बिलकुल बाहर है। आसपास ऐसी एक भी दुकान नहीं जहाँ से मँगवा कर किसी मेहमान को अच्छा जलपान भी करवाया जा सके। मेरा मतलब है यदि यह मालूम हो जाता कि आप कब आने वाले हैं तो कम-से-कम चाय-पानी का कुछ इंतज़ाम तो करवा रखते।"

"उसकी कोई जरूरत नहीं। जब भी आऊँगा, अधिक-से-अधिक जलपान ही करूँगा। और जल का प्रबन्ध तो आपने अपनी फैक्टरी में मजदूरों के लिए किया ही होगा।"

तीनों ने एक बार फिर एक दूसरे की तरफ़ देखा। एक-एक करके फिर तीनों ने अपना रोना रोया।

"देखिए साहब, स्टील नहीं मिलेगा तो फैक्टरियाँ कैसे चलेंगी?"

"हमने हजारों रुपये की मशीनें लगाई हैं। स्टील नहीं मिलेगा तो मशीनें जंग खा जाएंगी और हजारों रुपयों पर पानी फिर जाएगा।"



जंगली प्यार

सरदार जी की बात में मानवता का दर्द सबसे अधिक उभर कर आया–"मेरी फैक्टरी में डेढ़ सौ आदमी काम करते हैं। जब स्टील ही नहीं मिलेगा तो आप ही बताइए इन्स्पेक्टर साहब मैं इन्हें अपनी जेब से कितने दिन खिलाऊँगा। अभी एक हफ़्ते पहले मैंने बीस मजदूरों को जवाब दे दिया। साहब, मेरा दिल टुकड़े-टुकड़े हो गया। कितनी बेरोज़गारी है हमारे मुल्क में। उन बीस मजदूरों के बीवी-बच्चे मुझे हमेशा अपनी आँखों के सामने नाचते नज़र आते हैं। पर आप ही बताइए साहब, जब काम ही नहीं होगा तो इतने मजदूरों का बोझ कौन उठा सकता है?"

इन्स्पेक्टर सिद्धान्ती ने उन तीनों की बातें ध्यान से सुनीं और उनकी फैक्टरियों को शीघ्र ही विजिट करने का आश्वासन दे दिया।

सरदार अमरीक सिंह के आश्चर्य का ठिकाना न रहा जब उन्होंने देखा इन्स्पेक्टर सिद्धान्ती उस मुलाक़ात के दूसरे ही दिन दस बजते-बजते उनकी फैक्टरी में आ गया।

फैक्टरी में २५, ३० मज़दूर, जिनमें आधे से अधिक १५ वर्ष के आसपास के लड़के थे; इधर-उधर बैठे कुछ ठोंकपीट कर रहे थे। साइकिलों के कैरियर, स्टैंड बनाने की उनकी फैक्टरी थी। एक ओर टूटे-फूटे कैरियरों-स्टैंडों का ढेर लगा हुआ था।

एक कुर्सी की गर्द झाड़कर उन्होंने इन्स्पेक्टरको बैठाया–"आप आज ही आ जायेंगे इसकी तो बिलकुल उम्मीद नहीं थी।" उनका स्वर घबराहट में टूटता जा रहा था।

"जो काम करना हो उसमें मैं देर नहीं करता।" इन्स्पेक्टर बोला–"खैर..हाँ तो आपकी फैक्टरी में कितने मज़दूर हैं?"

इस प्रश्न से अमरीक सिंह और घबराए–"जी...मज़दूर तो बहुत हैं। पर आज बहुत से छुट्टी पर गए हैं। इन मज़दूरों का कुछ न पूछिए। हम आप इतने तिथि-त्यौहार नहीं मनाते इतने ये मनाते हैं।"

"आपकी डेली प्रोडक्शन कितनी है?"

"छे दर्जन कैरियर और छे दर्जन स्टैन्ड।" उनके मुँह से ऐसे ही निकल गया।

"अपना स्टाक रजिस्टर तो दिखाइए।"

अमरीक सिंह ने मेज़ों की दराज़ें खोलनी शुरू कीं। सब रजिस्टर उलट-पुलट डाले। फिर अल्मारियों को खोला। उनमें की फाइलों को इधर-उधर किया। फिर बड़ी दीनता से बोले—"देखिए इन्सपेक्टर साहब, आज हमारे मुनीम जी नहीं आए। वही सब हिसाब-किताब रखते हैं। आप जब कहें मैं स्टाक रजिस्टर लेकर आपके हजूर में हाजिर हो जाऊँ।"

इन्स्पेक्टर ने फैक्टरी में इधर-उधर घूमना शुरू किया। अमरीक सिंह ने एक नौकर भेजकर झटपट कुछ मिठाई और लस्सी का प्रबन्ध किया। परंतु वह जब इधर-उधर चक्कर लगा कर लौटा तो उसने केवल एक गिलास पानी पिया।

अमरीक सिंह ने साहस बाँधते हुए धीरे से कहा–"इनसपेक्टर साहब, कुमार बाबू तो हम लोगों पर बड़े मेहरबान रहते थे। आपको उन्होंने हमारे बारे में बताया ही होगा। जो सेवा हमसे बन पड़ती थी, हम उनकी करते थे। आप भी हमें सेवा का मौक़ा दीजिए।"

सिद्धान्ती ने एक बार घूर कर अमरीक सिंह की ओर देखा। फिर बोला–"देखिए सरदार जी, आप क्या कह रहे हैं यह मैं नहीं समझता।

राग मालकंस

अनुक्रमणिका

परंतु जो कुछ समझ रहा हूँ, चाहता हूँ, आपकी बात का वह मतलब न हो। दूसरी बात, कुमार बाबू की आप क्या सेवा करते थे, यह मैं नहीं जानता; पर मुझे किसी तरह की सेवा की जरूरत नहीं है।"

इन्स्पेक्टर सिद्धान्ती ने एक ही दिन में अमरीक सिंह, गुप्ता जी और रोहतगी साहब की फैक्टरियों का चक्कर लगा लिया और रिपोर्ट लिख कर डी. एस. सी. को दे दी, जिसका सारांश था —

"इन फैक्टरियों के स्टील का कोटा बढ़ाना उचित नहीं। इनके पास माल बनाने का कोई नियमित प्रबन्ध नहीं है, न ही कुशल कारीगर हैं और न ही बने हुए माल के निकासी का कोई अच्छा प्रबन्ध है। मेरा सुझाव तो यह है कि इस समय भी स्टील का जो कोटा इन्हें मिल रहा है, उसकी पूरी जाँच कराई जाए। मुझे पूरा शक़ है कि उस कोटे का भी इन लोगों द्वारा दुरुपयोग किया जाता है।"

सिद्धान्ती की यह रिपोर्ट सराया साहब के पास पहुँची तो उन्हें लगा कि उनकी कुर्सी की सीट एकाएक टूट गई है; उनके सामने लगी घड़ी का पैन्डुलम रुक गया है और आँखों के सामने नाचने वाले सौ–सौ के हरे–हरे नोट काले–काले धब्बे से बन कर नाच रहे हैं। कुछ आश्वस्त हुए तो सिद्धान्ती को बुला भेजा—"मि. सिद्धान्ती, इस रिपोर्ट में आपने क्या लिखा है ?"

'जो देखा वह लिख दिया, साहब।' सिद्धान्ती ने संक्षिप्त-सा उत्तर दिया, पर सराया साहब कुढ़ कर रह गए।

'तो आप रेकमेन्ड करते हैं कि इनका कोटा न बढ़ाया जाए ?'

'सराया साहब, मैं तो समझता हूँ कि जितना कोटा इन्हें मिलता है उसकी भी जाँच कराई जाए। फैक्टरियों के नाम पर इन्होंने दुकानें खोल रखी हैं। लगता है कि कोटा ये लोग ब्लेक में बेच लेते हैं और फैक्टरी के नाम पर दस–बीस आदमी लगा कर कुछ ठोंकपीट करते रहते हैं।'

'अच्छी बात है। मैं खुद जाँच करूँगा। आप जा सकते हैं।' सराया साहब खीझकर बोले।

सराया ने संदेश भेजकर तीनों व्यापारियों को बुलवाया और कहा — "देखिए, इन्स्पेक्टर सिद्धान्ती ने जो रिपोर्ट दी है उससे आपका कोटा बढ़ाना तो दरकिनार जो कोटा अभी मिलता है उसके भी जब्त हो जाने की संभावना है। आप लोग कैसे व्यापारी हैं ? सिद्धान्ती को पटाते क्यों नहीं ?"

अमरीक सिंह बोले—'साहब, हम तो अपनी पूरी कोशिश कर चुके। इशारे से यह भी कह दिया कि हम कुमार बाबू से ज़्यादा आपकी सेवा करने को तैयार हैं। पर वह है कि हाथ ही नहीं रखने देता।'

गुप्ता जी बोले—"मैंने आदमी दौड़ाकर शहर से बढ़िया मिठाई मँगवाई पर उसने हाथ नहीं लगाया।"

रोहतगी साहब ने सोचते हुए कहा—'डी. एस. सी. साहब, मुझे तो आदमी बड़ा छटा हुआ मालूम पड़ता है।'

"देखिए" सराया साहब बोले—"वह मेरा सबॉरडीनेट जरूर है। लेकिन मैं उस पर कोई जबरदस्ती नहीं कर सकता। आपका केस जब तक वह रेकमेंड नहीं करेगा, कोटा बढ़ाना बहुत मुश्किल है।"

तीनों ने मिलकर उसके विषय में बहुत कुछ सोचा, बहुत कुछ पता लगाया; पर पता यही लगा कि सिद्धान्ती अपने सिद्धान्तों का बहुत पक्का है।

दिवाली के दिन तीनों व्यापारियों ने दस–दस रुपये की बढ़िया मिठाई ली और सिद्धान्ती के घर पहुँचे। तीनों ने उसे दिवाली की बधाई दी और मिठाइयों के डिब्बे उसकी मेज़ पर रख दिए।

'यह क्या है ?' सिद्धान्ती ने पूछा।

'कुछ नहीं।' रोहतगी साहब बोले—'आज तो दिवाली है। खुशी का मौक़ा है। यह हम लोगों की तरफ़ से थोड़ी सी मिठाई है।'

सिद्धान्ती ने कुछ देर मिठाई से भरे उन डिब्बों को एकटक निहारा; फिर एक डिब्बा खोलकर मिठाई का एक छोटा–सा टुकड़ा निकाल लिया और बोला—"आपकी सद्भावना के लिए मैं बड़ा आभारी हूँ। पर इतनी मिठाई मैं स्वीकार नहीं कर सकता। आपने जो प्रेम दिखाया है उसकी इज्जत करते हुए मैंने यह टुकड़ा ले लिया है। बाक़ी आप वापस ले जाइए। वैसे भी मैं अकेला हूँ। इतनी सारी मिठाई मेरे क्या काम ? आपके बाल-बच्चों के काम आयगी।"

तीनों ने बड़ा जोर लगाया। हर एक ने अपना डिब्बा आगे रखकर उसे स्वीकार कर लेने का अनुरोध किया। परन्तु सिद्धान्ती अटल रहा। उसने उस टुकड़े के अतिरिक्त सारी मिठाई लौटा दी।

सराया साहब ने सुना तो आगबबूला हो गए, बड़ा सिद्धान्ती का बच्चा बना फिरता है न खुद खाता है। न खाने देता है। इतने में तो मैंने पाँच-दस हज़ार बना लिए होते।

जो फैक्टरियाँ दूसरे इन्स्पेक्टरों के कार्यक्षेत्र में थीं उनके कोटे भी बढ़ रहे थे और इन्स्पेक्टरों की जेब का बोझ भी बढ़ता जा रहा था। किंतु सिद्धान्ती ने किसी ऐसी फैक्टरी का कोटा या अन्य कोई सुविधा रेकमेन्ड नहीं की, जहाँ से उसे पूरा संतोष नहीं मिला। सिद्धान्ती शूल बन कर व्यापारियों को चुभने लगे। डी. एस. सी. सहित सभी व्यापारी अपनी कोशिश कर चुके, पर सिद्धान्ती टस-से-मस न हुआ।

अंत में गुप्ताजी ने एक योजना अपने साथियों के सम्मुख रखी। खर्च लगभग ६ सौ रुपये का था। तीनों ने दो-दो सौ रुपये डाले और सोने की अँगूठी बनवाई गई। उस अँगूठी में नीला नग लगा हुआ था जिसकी आकृति अशोक स्तम्भ जैसी थी। उस नग के नीचे सोने पर खुदा हुआ था–'सत्यमेव जयते।'

२६ जनवरी के दिन गुप्ताजी ने शुद्ध खद्दर की धोती पहनी। खद्दर का कुरता, खद्दर की नेहरू कट वास्केट और नावदार खद्दर की टोपी। अमरीक सिंह और रोहतगी साहब भी उसके साथ हुए। पर गुप्ताजी उन्हें सिद्धान्ती के घर नहीं ले गए। वे दोनों एक होटल में बैठ कर प्रतीक्षा करने लगे।

गुप्ताजी जिस समय पहुँचे, सिद्धान्ती चारपाई पर लेटा अखबार पढ़ रहा था और रेडियो पर नई दिल्ली से होनेवाली परेड की कॉमेन्ट्री सुन रहा था। गुप्ता जी ने पहुँचते ही कहा–" इन्स्पेक्टर साहब, गणतंत्र दिवस की बधाई देने आया हूँ। "

सिद्धान्ती ने उठकर उनकी आवभगत की। गुप्ताजी के कपड़ों से भीनी-भीनी खुशबू आ रही थी। उन्होंने वास्केट की जेब में हाथ डाला और एक चक्रांकित तिरंगे ध्वज का बिल्ला निकाल कर पिन से सिद्धान्ती की कमीज में खोंस दिया और बड़े गर्वयुक्त स्वर में बोले–" देखिए, इस झंडे की शान आप जैसे नवजवानों पर ही निर्भर है। इस देश का भविष्य आप जैसे कर्मठ सरकारी कर्मचारी ही बना सकते हैं। सच कहता हूँ इन्स्पेक्टर साहब, आप जैसे लोग ही हमारी आजादी के इस नाजुक पौधे को धूप और अतिवृष्टी से बचा सकते हैं। भगवान् आपको इस देश की सेवा करने के लिए लम्बी आयु दे। "

सिद्धान्ती गुप्ता जी के आशीर्वचन सुन कर गद्‌गद् हो गया। गुप्ताजी ने भी अपनी बातों के प्रभाव की झलक उसके चेहरे पर स्पष्ट देखी। फिर दोनों साथ बैठ कर देश-विदेश की कितनी ही बातों की चर्चा करते रहे। गुप्ताजी बार-बार कहते रहे, देश में किसी का चरित्र नहीं बचा है। यदि लोगों का चरित्र ऊँचा न किया गया तो देश अवश्य रसातल को चला जाएगा।

काफ़ी देर की चर्चा के बाद गुप्ताजी ने अँगूठी वाली डिब्बी निकाली।

" इन्स्पेक्टर साहब, इस शुभ राष्ट्रीय पर्व के अवसर पर आपको मेरी एक तुच्छ भेंट अवश्य स्वीकार करनी पड़ेगी। देखिए 'ना' न कीजिएगा। इससे मुझे तो चोट पहुँचेगी ही, मेरी राष्ट्रीय भावना पर भी आघात पहुँचेगा। "

कहते हुए उन्होंने अँगूठी उसके हाथ पर रख दी। अँगूठी देख कर सिद्धान्ती की आँखें चौंधिया गईं और बरबस उनके मुँह से निकल पड़ा, बहुत सुंदर, ब्यूटीफुल...!

" पर यह तो बड़ी कीमती मालूम होती है। " सिद्धान्ती ने गुप्ताजी की ओर बड़ी निरीह दृष्टि से देखते हुए पूछा—

'अरे, कैसी बातें करते हैं आप ?' गुप्ता जी भावावेग में बोले–" क्या कोई चीज हमारे देश से भी ज्यादा कीमती है, हमारी आजादी से भी ज्यादा कीमती है। यह तो सोने का एक छोटा-सा टुकड़ा है, जो एक बूढ़े देशसेवक की ओर से एक युवक देशसेवक को समर्पित है। सिद्धान्ती साहब, टुकड़े की कोई कीमत नहीं है; यदि कुछ कीमत है तो उन भावनाओं की जो इस टुकड़े के पीछे छिपी हुई है। "

सिद्धान्ती उस चमकती हुई अँगूठी में अपनी दृष्टि की चमक खोता हुआ निहारता रहा। गुप्ता जी को मुस्कराते हुए आता देखा तो सरदार अमरीक सिंह और रोहतगी बाबू लपक कर होटल से निकले!

'क्यों, ले लिया ?' दोनों ने एक साथ पूछा।

'और क्या...' गुप्ता जी ने विजय भरी मुस्कराहट बिखेरते हुए कहा–'जिस काम में गुप्ता हाथ डाले वह पूरा न हो, यह कैसे हो सकता है?'

'क्या कहा उसने ?' अमरीक सिंह ने पूछा।

'कहेगा क्या, बस चुपचाप रख ली।'

'मैं न कहता था'। रोहतगी बाबू दाँत पीसते हुए बोले–'बड़ा छटा हुआ मालूम पड़ता है। पर एक बात है...अगर उसने अब भी काम न किया तो...?'

" उसकी तुम फिकर न करो। अब तो उसका बाप भी करेगा "। गुप्ता जी ने अपनी टोपी उतार कर सिर पर हाथ फेरते हुए कहा– " अँगूठी उसके पास है तो क्या हुआ, उसकी रसीद तो मेरे पास है "।

तीनों ठहाका मार कर हँसे। फिर तीनों एक साथ चिल्लाए –

'सत्यमेव जयते!'

भारतीय युद्ध का सच्चा प्रणेता और नायक है दुर्योधन। खलनायक होने पर भी नायक वही है। लेकिन वैसे देखा जाय तो युद्ध के नायक ही कहाँ होते हैं? युद्ध होते हैं केवल खलनायक के कारण ही न?...



खोई व्यक्तिरेखा जिसकी

नारियल के पेड़ की जड़ें खुली हुई दिखती हैं। उखड़ा-पुखड़ा रंग होता है उनका। इतने सख़्त और ऊँचे पेड़ की वे छोटी-क्षुद्र जड़ें देखकर मेरा मन विषाद से भर जाता है। उसका उन्नत मस्तक गगन को स्पर्श करता है, यह बात ध्यान में नहीं रहती। उसके तने को किसी प्रकार का न आकार रहता है, न रंग। जल का सामीप्य यही उसका आधार; बालू का आलिंगन ही उसका पोषण। रेत की बंजर संगति में उसका जीवन व्यतीत होता है, यही रामकथा मानों वे जड़ें सबको सुनाती हैं।

ठीक इसी प्रकार की खिन्नता के भाव मेरे मन में निर्माण होते हैं जब दुर्योधन की आकृति मेरे मानस-पटल के समक्ष मूर्त होती है। उसके व्यक्तित्व की केवल हीन-दीन जड़ें दिखती हैं। एक ही रंग—सिर्फ़ दुष्टता का—व्यास ने उसके चरित्र में भर दिया है। और यह रंग भी इस खूबी से भरा है कि केवल उसकी विडम्बना का ही अंग दिखा कर जानबूझ कर कुरूप बनाया गया उसका चरित्र नींव में ढहता हुआ-सा लगता है। और व्यास ने अपनी दृष्टि उस नींव के पास स्थिर की है। वे ज़रा भी इधर-उधर नहीं ताकते। किन्तु कभी ऐसा क्षण आता है, तब व्यास प्रकाश का एक किरण इस पर डालते हैं। प्रकाश की उस छोटी मर्यादा में दुर्योधन का माथा ऊँचा उठा हुआ दिखता है। उसके पाँव भी व्यास ने नष्ट कर दिये हैं। कमर के नीचे का भाग किसी पाषाण के सदृश्य है। इसी जड़तापूर्ण व्याक्तित्व का दर्शन व्यास हमें सदैव करवाते हैं। व्यास की परिभाषा में दुर्योधन के सच्चे व्यक्तित्व का प्रतीक है उसकी जाँघें! उन जाँघों का उल्लेख द्रौपदी वस्त्रहरण के प्रसंग से लेकर अन्त तक व्यास ने किया है। आदि से अन्त तक दुर्योधन केवल खलपुरुष है। उसकी पाप-बुद्धि का विश्लेषण करते समय व्यास ने एक शब्द का बार-बार प्रयोग किया है—'मूर्ख'-'पागल'! बौद्ध कथाओं में 'गौतम बुद्ध' शुद्ध भावनाओं का और 'मार' पाप भावनाओं का प्रतीक दिखाया गया है। परन्तु मार तीक्ष्ण बुद्धि का है। वह कला-सौंदर्य का रसीक है। वह जीवन के विलास-तत्त्व का लगन से जतन एवं संवर्धन करनेवाला है। जीवन की उत्तेजना ही मार है। दुर्योधन भी विद्याभूषण था; कुशल योद्धा, अप्रतिम सारथी। अच्छा कर्तव्यनिष्ठ राजा था वह। राज्याधिकार के तेज का पारखी; और उस तेज को स्वयं में अबाधित संचित करने की ईर्ष्या करनेवाला। मगर वह सूक्ष्म बुद्धि का नहीं था। जैसे-जैसे उसके ढँके चरित्र के आवरण हटते जायेंगे, वैसे-वैसे उसकी मूर्खता—केवल मूर्खता ही—दृग्गित होती जायगी। कभी-कभी उसकी यह मूर्खता पागलपन की हद तक पहुँच जाती थी। और जब सब घटनाएँ आँखों के सामने आती हैं, तब दुर्योधन के प्रति एक तरह का दया-भाव पैदा होता है। उसकी बुद्धि पक्षी की उड़ान की तरह नाक की सीध में चलती थी। बुद्धि की गति जितनी वेगवान थी, उसका दायरा उतना ही छोटा था। उसमें भी उसकी बुद्धि 'सब कुछ चाहिए, सबका चाहिए, हरदम चाहिए' इस भावना से ओतप्रोत थी। बाल बुद्धि के प्रौढ़त्व का दुर्योधन प्रतिनिधि था। अपनी अभीप्सित वस्तु न मिलते देख नटखट-बालक हाथ में आयी हुई प्रत्येक चीज़ को तहसनहस करता है। मार खाता है; मगर हार नहीं खाता। वैसा ही चित्र है दुर्योधन का। उसका लड़कपन दो-तीन स्थानों पर तो बिलकुल स्पष्ट दिखाई देता है।

पांडव वन में गये, तथापि भविष्य में वे वापस आकर अपना राजपाट ले लेंगे, इस भय से दुर्योधन बेचैन रहता था। वह रोता—बड़बड़ाता था। एक बार उसने शकुनी से कहा—"यदि पांडवों को इंद्रप्रस्थ में लौटा हुआ देखूँ तो मैं अन्नत्याग कर अपने प्राण दे दूँगा। विष प्राशन करूँगा या फिर अग्निप्रवेश ही करूँगा। इस कल्पना मात्र को भी मैं सहन नहीं कर पाता कि वे लौटेंगे और उनका उत्कर्ष

दुर्गा भागवत

> दुर्गा भागवत :
>
> समाजशास्त्र तथा 'लोकवाङ्मय' आपके प्रिय विषय हैं।
> सर्वसाधारण विषयोंपर उत्कृष्ट चित्रांकन करनेकी आपकी शैली अनूठी है। 'दुर्योधन' के एक विशिष्ट पहलू पर इस लेखमें प्रकाश डाला है। दीपावली के पाठक इनसे अनभिज्ञ नहीं।

होगा। उस समय शकुनी साफ़-साफ़ उससे प्रत्युत्तर में कहता है—"राजा होकर तुम कैसी बच्चों जैसी बातें करते हो?"

राजसूय यज्ञ के पश्चात् बने पांडवोंके उत्कर्ष को देखकर मन-ही-मन जलनेवाले दुर्योधन की कल्पना में ऐसी ही बाल-सुलभ कोपलें फूटी थीं। अपनी कल्पनाएँ वह कर्ण को सुनाया करता था; अपने मन की कल्पनाओं को किसी दूसरे के पास व्यक्त किये बिना उसे शान्ति नहीं मिलती थी। मनमें विचार कर किसी एक दृढ़ निश्चय पर पहुँचने की शक्ति उसमें नहीं थी। और इसीसे वह दूसरों के परामर्श से चलनेवाला व्यक्ति था। किन्तु इसमें भी एक रहस्य की बात थी; और वह यह कि उसको दी जानेवाली सलाह उसकी कल्पना के अनुरूप रहनी ही चाहिए। विरोधी बातें सहन करना उसका स्वभाव नहीं था। पांडवों के वैभव के डाहसे उसने अपने ढंग से उनका सर्वनाश करने का उपाय खोज निकाला था। वह ऐसा था—पांडवों में आपस में झगड़े लगाना; सुंदर स्त्रियों का लालच दिखाकर सब भाइयोंको अलग-अलग स्थानों पर जाने के लिए विवश करना। नई-सौतें देखकर द्रौपदी डाह से जलने लगेगी और पांडवों के प्रति उसके मन में विरक्ति पैदा होगी; और धीरे-धीरे उसके मन की आसक्ति समाप्त हो जायगी। उसके मन की इस योजना में द्रौपदी के प्रति उसके मन में पाप-वासना भी नहीं थी, यह एक विशेष बात थी। दुर्योधन का कपटहीन, सीधासादा गणित सुन कर कर्ण ने उसकी बुद्धि का मखौल उड़ाया। उसे उसके अज्ञान की प्रतीति कर्ण ने करा दी और कहा—"पांडवों की एकता की बुनियाद द्रौपदी ही है; अनेक पतियों का सहवास स्त्री को सुखकर लगता है। द्रौपदी को यह अवसर सुलभता से मिला है। इस संजोग से वह कैसे मुँह मोड़ेगी? पति निर्धन थे, तब भी वह उनसे निस्सीम प्यार करती थी। फिर सुख-संपत्ति में वह उनका त्याग थोड़े ही करेगी?"

भीष्म, द्रोण, अश्वत्थामा, विदूर इनकी—और साथ ही साथ प्रत्यक्ष अपने पिता की दुर्योधन ने कभी परवाह नहीं की। केवल कर्ण की बात को वह टालता नहीं था; उसके सामने झुकता था। क्यों कि वह जानता था कि पांडवों में जो तेज है, जो वीरता है, जो बडप्पन है, वह सब अकेले कर्ण में ही—हमारे पक्ष में मौजूद है। इसे वह बालपन से हो महसूस किये हुए था।

दुर्योधन का स्वभाव इतना एकाकी, हठी, ईर्ष्यालु और सुख के सागर में रह कर भी उसके नष्ट होने की सदा शंका-कुशंकाओंकी विवंचना में पड़ने जैसा भीरू कैसे हुआ? इस प्रश्न की सुलझन में पहुँचते ही पता चल जायगा कि दुर्योधन का शिशु-सम व्यक्तित्व जैसा प्रतीत होता है, उतना सरल एवं सीधा वह नहीं है। उसके व्यक्तित्व में अनेक व्यक्तित्व समाविष्ट हुए हैं ऐसा मैं देखती हूँ। उन अनेक चरित्रों की निर्मिति याने स्वयं दुर्योधन है। दो बूढ़े अपाहिज दिल और दो शिशुओं के मन; धृतराष्ट्र-गांधारी इन दोनों के टूटे दिल; भीमसेन का उसे सदा भयभीत करनेवाला और वैसे ही चेतना प्रदीप्त करनेवाला आधा बाल-मन और आधा तरुण मन दुर्योधन के व्यक्तित्व से अलग नहीं किया जा सकता। चौथा बाल मन उसका अपना था। उसका यह मन प्रारंभ में भीम के मन जैसा ही था। भीम के मन में दिन-प्रति-दिन वृद्धि हो रही थी, परन्तु दुर्योधन का मन अविकासित ही रहा। असीम लाड़-प्यार में पलनेवाले बच्चे मन से कभी प्रौढ़ नहीं होते; वे बड़े होने पर भी मन से शिशु ही रहते हैं। वैसे ही उसका मन शिशु जैसा ही रहा। उसका विकास उसके माता-पिता ने ही रोका। लोभ के दलदल में फँसे हुए लोग दूर का देख ही नहीं सकते।

धृतराष्ट्र और गांधारी की मृत्यु दुर्योधन के मरने के कुछ वर्षों बाद ही हुई। मुझे ऐसा लगता है कि उन दोनों ने कभी पूरी जिन्दगी जीी ही नहीं। अधूरा व्यक्तित्व ही चल सकता है, पूर्ण व्यक्तित्व होता भी किसका? लेकिन इनके चरित्र विषमता के बोझ से दब गये थे; बहुत कमजोर बन गये थे। अपनी अस्थिर मनोभूमि को वे कभी स्थिर नहीं कर पाये। हवा के हल्के झोंके से जैसे सूखे पत्ते उड़ कर बिखर जाते हैं, उसी तरह उनके विचार चारों ओर फैल जाते थे। मन के गर्भ में—उसकी गहनता में सिर्फ़ एक ही बात थी और वह थी वात्सल्य। किन्तु इस वात्सल्य को भी संभ्रम ने चहुँ ओर से घेर लिया था। पांडवों के पराक्रम तथा जीवन का मध्य बिन्दु था कुन्ती का प्रेम। दुर्योधन के बाबत ऐसा नहीं था। माता-पिता का स्नेह जब माँगे तब मिलनेवाली साधारण वस्तु सिद्ध हो गयी उसकी तुलना में। एक प्रकार से कुन्ती का कर्ण के प्रति छिपा वात्सल्य और गांधारी का प्रकट भ्रमपूर्ण वात्सल्य—इन दोनों में एक-सी खिन्नता मुझे दिखती है। जब कुन्ती ने कर्ण के प्रति अपना मातृभाव प्रकट किया तब उसका मातृत्व व्यवहार की कसौटी पर निकम्मा साबित हुआ। गांधारी का स्नेह जब उसका लड़का जीवित था, तब भी अधूरा और निर्बल पड़ता था। उसका मन चिन्ता, लज्जा, दुःख से सदा बोझिल रहता था। बीच-बीच में धृतराष्ट्र को भी सन्ताप के झटके महसूस होते थे; उसकी वह विरक्ति कभी-कभी कृत्रिम भी रहा करती थी। परन्तु गांधारी की न्याय-निर्दयता उसमें लेशमात्र भी नहीं थी। वृद्धावस्था में गांधारी की अनुभूतियाँ धृतराष्ट्र के अनुभवों से बहुत बड़ी-चढ़ी थीं, सो बात नहीं; लेकिन धृतराष्ट्र की भावना में कभी दृढ़ता नहीं आ पायी। वह आये भी तो कैसे? अपाहिज की नियति से वह सदैव घिरा रहता था। हीन भावना का वह शिकार बन चुका था। हीन भावना का यह उत्तराधिकार ही दुर्योधन के पल्ले में पड़ा, लेकिन कुछ दूसरे रूप में।

अंधत्व के कारण मैं राज्य वैभव का सुखोपभोग नहीं ले सकता, उसका स्वामी नहीं हो सकता; यह काँटा सदाकदा धृतराष्ट्र के मन में चुभता था। विदूर ने हीन जन्म एवं सत्ताहीनता को अपना आभूषण बनाया। राजपाट अपनी स्वेच्छा से त्यागने की स्मृति ही भीष्म विस्मृत कर बैठे। 'जो आप देंगे सो मैं लूँगा; पिता का वंश चलाने के लिए मैं बड़ा-से-बड़ा त्याग करूँगा।' प्रतिज्ञा-पालन की इस मनोवृत्ति ने ही भीष्म में स्थैर्य निर्माण किया। लीनता में उन्हें मानसिक तुष्टि मिली। यह बात धृतराष्ट्र अपने जीवन में नहीं उतार सके। मन का विषाद विविध रूपों में तथा विविध मोड़ों से

अनुक्रमणिका

प्रवाहित रहा। उसकी भावना-विवशता महाभारत के किसी अन्य व्यक्ति की अपेक्षा अधिक बलवान थी। धृतराष्ट्र स्नेहशील था।

अंध व्यक्तियों को पराधीनता के कारण दूसरों पर अवलंबित रहना पड़ता है। लाचार होना पड़ता है। वैसाही वह परावलंबी बना हुआ था। विदूर, संजय, गांधारी और दुर्योधन को वह सम्बल के लिए मजबूती से पकड़ना चाहता था। लेकिन अंधों में अविश्वास और सन्देह की तेज़ धार रहती है। रक्षा की हमेशा जरूरत होने की वजह वह धार सदा तीक्ष्ण रहती थी। कभी-कभी वह कपट का रूप लेती है। नेत्रहीन धृतराष्ट्र ऐसा कपट करने की कोशिश करता था। अपाहिज की बात सच मानी जाती है। परन्तु जब व्यवहार में अपने अवगुणों से स्वार्थ साधने की बूरी आदत पड़ जाने पर, वह अपाहिज अपनी दुर्बलता को धूर्तता से लाभदायक बना लेनेकी चेष्टा करता है। यही हालत धृतराष्ट्र की थी। 'मैं राज्य से वंचित हुआ; मेरे पुत्र भी होंगे।' यह शंका दिन–रात उसके मन को त्रस्त करती थी। और तिसपर पांडू की मौत के बाद वह राज्यपद का दुर्लभ सुख प्रत्यक्ष उपभोगने लगा। यदि यह राज्य–सुख उसे न मिलता तो कदाचित् भीष्म आदि की सलाह को वह पत्थर की लकीर मानता। लेकिन दुष्प्राप्य सुख एक बार मिलने पर उसका त्याग सहज संभव नहीं होता। भीष्म के महान् त्याग को उसने भूला दिया था। वह उसकी मुँहदेखी प्रशंसा कर भीतरी मन से उसे अपना आश्रित समझता था। इसी वृत्ति की नकल दुर्योधन ने की। वैसे देखा जाय तो दुर्योधन धृतराष्ट्र की सुप्त आकांक्षाओं के व्यक्त कर्तव्य का रूपांतर मात्र है। दुर्योधन को अपनी माता से सुदृढ़ देह मिली; किन्तु पिता से कमज़ोर मन। पांडू की मृत्यु के बाद भीष्मादिजनों का पल–प्रति-पल शंका से ग्रसित रहनेवाले धृतराष्ट्र के मन पर जो प्रभाव था, वह शिथिल हुआ। दुर्योधन पर धृतराष्ट्र का कभी बंधन नहीं रहा। कानों सुनीं बातों को प्रमाण माननेवाला धृतराष्ट्र पुत्र–स्नेह से खुल्लमखुल्ला दुर्योधन की हाँ में हाँ मिलाने लगा। मुँह से वह कहता था- 'पांडव मेरे लिए पुत्र समान; उनसे भी अधिक प्रिय।' लेकिन सच यह था कि पांडवों के प्रति उसके मन में ज़रा भी प्यार-अपनापा नहीं था; इसीलिए वह पुनः–पुनः ऐसे उद्गार प्रकट किया करता था।

उसके इस भेदनीति का प्रारम्भ उसके पुत्रों के बचपन से हुआ। पांडू के अवसान के बाद पांडव हस्तिनापुर पहुँचे। तब तक कौरव–पांडवों को एक दूसरे के बारे में कुछ मालूम नहीं था। धृतराष्ट्र के मन की द्विधा न पहचान ने जितनी कुन्ती भोली नहीं थी। विधवा माता अपने बच्चों की हिफ़ाजत में चील से अधिक जागरूक रहती है। समय आ पड़ने पर निर्दय भी बन सकती है। कुन्ती ने अपने बचाव के लिए लगनेवाली क्रूर शक्ति का संवर्धन भीम के रूप में किया। किसी के ध्यान में यह बात नहीं आयी। धृतराष्ट्र में वही वृत्ति पायी जाती है। पांडवों में भीम सबसे अधिक शक्तिशाली-नटखट; अविवेकी और पेटू; जितना क्रोधी उतना ही स्नेहशील। जहाँ उसे सच्चा प्रेम नहीं मिलेगा, वहाँ वह नहीं फटकेगा। युधिष्ठिर और अर्जुन दोनों शान्त प्रकृति के थे। अतः पांडवों के बचपन का अगुआ वही बना। कौरवों की छेड़छाड़ न करने की चेतावनी उसे किसीने दी नहीं। हट्टाकट्टा बालक सबके कौतुहल का विषय बनता है। वैसे ही भीम का हुआ। कौरव-पांडवों के दो पक्ष बने। अभी तक सब कौरवों की बाल–लीला से मोहित होते थे; अब भीम ने सबको अपनी ओर आकर्षित कर लिया। वह कौरवों को जल में डूबोता; और जब भय से वे काँपने लगते तब उन्हें छोड़ कर हँसता था। जिस वृक्ष पर कौरव चढ़ते, उस वृक्ष को वह जोर-जोर से हिलाता जिससे कौरव नीचे गिर पड़ते। हर बात में भीम उन्हें पराजित करता था। एतदर्थ राजभवन में 'तू-तू; मैं-मैं' का वातावरण निर्माण होता था।

दुर्योधन इन्हीं अनुभवों से, पांडवों के अतिक्रमण और भविष्य में वे ही राज्याधिकारी हो जायेंगे इस चिंता से भीम का प्रतिद्वंदी बना। वह भीम से कमजोर था। परन्तु कमजोरों का वैर ही उन्हें कपटी और हिंसक बनाता है। दुर्योधन में भी यही प्रकृति संचारित हुयी। उसकी इस प्रकृति को उसके अंधे पिता का पूरा सहयोग है इसे वह जानता था। बच्चों के झगड़ों की भी एक सीमा होती है। दूसरों की तरह धृतराष्ट्र भी ऐसा ही समझता था। इसके अतिरिक्त अनेक वर्षोंतक के राज्योपभोग के बाद भी भीष्म आदि की कृपा से राज्य का आधा हिस्सा मुझे मिलेगा ही, इस विचार से धृतराष्ट्र सन्तुष्ट था। परन्तु जब भीम को ज़हर खिला कर दुर्योधन ने नदी में फेंक दिया, तब सब बुजुर्गों की आँखों ने कभी न मिटनेवाले वैरभाव के दर्शन किये। पांडव कुन्ती को लेकर चले गये। फिर भी दुर्योधन ने लाक्षागृह में उनको जीवित जला देने का षड्यंत्र रचा, जो सफल न हो सका। लाक्षागृह को कौरव-पांडवों के वैर का प्रतीक समझना चाहिए। उसके पश्चात् पांडवों के विवाह, उनका इन्द्रप्रस्थ में प्रवेश, उनके राज्य का आरंभ राजसूय यज्ञ, मयसभा — आदि सब घटनाएँ उनके अजेय पराक्रम तथा एकता के सबूत के लिए क़ाफ़ी थीं।

लाक्षागृह के षड्यंत्र की असफलता से दुर्योधन का साहस टूट गया। पिता की तरह आधे राज्य से उसे तसल्ली नहीं थी। मयसभा में जो अपमान हुआ उससे वह झुलस गया। द्रौपदी और भीम ने हँस कर उसमें तेल डाला— "धृतराष्ट्र के सपूत; देख, दरवाज़ा इस ओर है।" मयसभा की दीवार और दरवाजे उसे दिखाये गये। इस मखौल में जानबूझकर उसके पिता के अंधत्व को नोंचा गया। इस बहुत





उसके इस घोर अपमान की तरफ़ बड़े पांडवों, कुंती और कृष्ण ने दुर्लक्ष्य किया। लाक्षागृह को वे अभीतक भूल नहीं सके थे। इससे दुर्योधन की बचपन की दुश्मनी उछल आयी। इस बार जलाना, विष देना आदि मामूली उपायों को तज कर उसने पांडवों की संपत्ति के साथ-साथ द्रौपदी का हरण करनेका शकुनी के सुझाये हुए द्युत-मार्ग का अवलम्बन किया। शकुनी की कपट-नीति उसके अधिक योग्य थी। द्रौपदी का उपहास करते समय दुर्योधन ने अपनी जाँघें उसे दिखायी थीं; तथापि कीचक की नाईं उसके मनमें द्रौपदी के प्रति काम-वासना नहीं थी। उसके प्रति ईर्ष्या की भावना उसके मन में विद्यमान थी। और इस ईर्ष्या की परिसीमा उसे 'दासी' बनाने में ही है, यह वह समझा। मयसभा में हुए अपमान का उसने प्रतिशोध लिया। दुर्योधन के अनीतियुक्त, बर्बर बर्ताव का विरोध केवल उसके भाई विकर्ण ने किया; उसने दुर्योधन की कड़े शब्दों में निर्भर्त्सना की बिल्कुल वैसी जैसे भीम ने युधिष्ठिर की की। उसीने धृतराष्ट्र को द्रौपदी के सवाल का जवाब देनेको विवश किया और उसे धृतराष्ट्र से तीन वर दिलवाये। पांडव वन में चले गये और दुर्योधन के मन में अपने माता-पिता के प्रति जो मनमुटाव था वह व्यक्त हुआ। पांडवों के वनवास से धृतराष्ट्र मन में खुश ही हुआ। लेकिन न्याय का बाह्य नाटक उसे करना था। उसने पांडवों के वनगमन पर विदूर की राय पूछी। उसने धृतराष्ट्र से दुर्योधन जैसे पुत्र को त्यागने की सलाह दी। उस समय धृतराष्ट्र के सच्चे स्वरूप की पहचान हुई। उसने विदूर से कहा— 'तुम्हें पांडव प्रिय हैं, हम नहीं।' ऐसा कह कर उसे हकाल दिया। इतना सब होने पर भी उसका विदूर पर प्रेम था। विदूर के जानेका उसे पछतावा हुआ। उसने विदूर को वापस बुला कर क्षमा माँगी।

दुर्योधन को जब इसका पता चला तब उसे अपने बाप पर चिढ़ पैदा हुई। यह बूढ़ा पांडवों को कहीं वनवास से वापस न बुला ले, इस भयसे उसने पिता का खुल्लमखुल्ला विरोध किया। धृतराष्ट्र को निराश बनकर कहना ही पड़ा—'मैं अंधा हूँ। वह मेरी बात कैसे मानेगा?' इतना सब होने पर भी तथा गांधारी-व्यास के सत्परामर्श के बावजूद भी वह दुर्योधन को छोड़ने को राजी नहीं हुआ। पुत्र-मोह की निर्बलता उसने मान ली। "पुत्र-स्नेह के सामने मैं कुछ नहीं कर सकता।"—ऐसे उद्‌गार उसने निकाले। बुद्धिमान व्यास भी उसके उद्‌गार सुन कर चुप रहे। तब गांधारी ने पति को छेड़ा। पांडव वन में गये थे, तब दुर्योधन, दुःशासन, कर्ण और शकुनी को छोड़ सब रोये थे। जब द्रौपदी इसको भूल नहीं सकी, तब गांधारी इसे भूल गयी यह कैसे कहा जा सकता है? उनके नाश की चिंता उसे सताने लगी। भरी सभा में की हुई नीचता पर उसे चिढ़ आयी थी। उसकी न्यायभावना जाग्रत हुई। विदूर की तरह पांडवों को भी वन से वापस बुलवाकर उन्हें आधा राज्य दिया जाय, इसके लिए वह अनुरोध करने लगी।

उसीके आग्रह से दुर्योधन ने जो अनुद्यूत का हठ पकड़ा था, उसे धृतराष्ट्र ने अमान्य किया था। दुर्योधन के ध्यान में यह बात आ गयी। वह समझ गया कि इसके आगे पिता की तरह माता को वह अपने सामने नहीं झुका पायेगा। अतः वह उसे टालने लगा। पांडवों से समझौते की चर्चा करनेवाले प्रत्येक की वह प्रकट-अप्रकट निंदा करने लगा। इस कला में वह प्रवीण था। व्यास और पिता की सलाह उसने ठुकरा दी। विदूर और भीष्म पर उसने अभियोग लगाकर कहा —"हमारा ही अन्न खाकर तुम लोग पांडवों का गुणगान करते हो!" उसने भरे दरबार में यही उपदेश मैत्रेय को किया था और आवेश में अपनी जाँघें ठोंक कर अपना धिक्कार व्यक्त किया।

कर्ण की व्यथा सिर्फ़ अभिमानी दुर्योधन ही समझ सका। द्रौपदी-स्वयंवर में कर्ण के निरादर की बात सुनकर भी कुंती को बुरा नहीं लगा। परन्तु उसका दर्द दुर्योधन ने महसूस किया। क्षत्रियत्व के अभाव की पूर्ति करने के हेतु उसने कर्ण को अंग देश का अधिपति

बनाया और उससे आजीवन मित्रता की याचना की। कर्ण अन्त तक उसके इस ऋण को विस्मृत नहीं कर सका।

राजा का पद सुयोग्यता से निभा कर उसने अपनी प्रजा को सुख पहुँचाया, इसे युधिष्ठिर भी कबूल करते हैं। पांडवों को सुई के नोक जितनी भी जगह न देने का हठ उसने मरते दम तक निभाया। पराजय की वेदना सहते-सहते वह मरा; लेकिन अन्त में केवल पाँच पांडव ही बचे हैं, इस बात से उसे समाधान मिला। अश्वत्थामा को उसके कर्तव्य और निष्ठा के लिए धन्यवाद देना वह भूला नहीं। अपनी पराजय का उसने कभी दुःख दर्शाया नहीं। मौत को हँसते-हँसते वीर की भाँति उसने गले लगाया। मौत की अन्तिम घड़ी तक वह पांडवों का शत्रु रहा, इस अनुभूति से उसे संतोष हुआ। उसने माता-पिता को याद नहीं किया। उसकी आँखों ने किसी की भी याद में आँसू नहीं बहाये। सामने गिद्धों की चक्कर काटती हुई टोलियाँ देख कर वह भयभीत नहीं हुआ। दुर्योधन के चरित्र पर लोभ-लालच के अनेक दाग है; किन्तु उसकी मित्रता सदा निष्कलंक रही है। वर्ना माद्री का भाई शल्य उसके पक्ष में आता ही नहीं। दुर्योधन की ऐंठन बड़ी जबरदस्त थी; और इसी ऐंठन के कारण उसका व्यक्तित्व बौना नहीं लगता; नारियल के पेड़ की नाईं ऊँचा लगता है। उसके ठोस व्यक्तिमत्व में उसके अन्तिम कायर कृत्य ने दरार पैदा कर दी। पांडवों का सर्वनाश करने के लिए उसने नाना प्रकार के हीन उपाय अमल में लाये थे। इन उपायों के गर्भ में भय का बीज था; पर यह भय क्षम्य था। राज्यवैभव का सपना इस भीति के पार्श्व में छिपा हुआ था। भीष्म, द्रोण, कर्ण सभी पराजित हुए हैं, अब हार अटल है, ऐसे समय जलस्तंभन विद्या के द्वारा उसने अपने को जल में छिपा लिया—केवल मरने के भय से वह इतना डरपोक बन गया यह देख कर मन खिन्न हो जाता है। पहले कई बार उसने आत्महत्या के प्रयत्न किये थे। लेकिन साक्षात् मृत्यु को देखते ही उसका समस्त धैर्य गल गया और वह छिप गया। युद्धभूमि पर अपने सैनिकों के पास में सुख से अन्तिम नींद लेना अपना कर्तव्य है ऐसा मानने वाला राजा वह नहीं था। वह था एक अंधे माँ-बाप का बेटा सदा भीति में जीनेवाला। बौनी आकांक्षाओं का बड़े ध्यान से जतन करने वाला।

दुर्योधन कर्ण की तरह ऐंठा नहीं रह सका। प्रज्वलित वैर के बावजूद भी नहीं रह सका। वह अनिच्छा से जल से बाहर निकला। और फिर टूटा हुआ धागा जुड़ गया—एकरूप हो गया। व्यक्तित्व में पड़ी हुई दरार मिट गयी; बारीकी से देखनेवालों को कुछ पता नहीं लगेगा। उसके बाद उसका अन्त आया। बड़े अहंकार से उसने मृत्यु को स्वीकारा। यह राजा धरती पर सो गया; चारों ओर मृत परिजनों का संग लेकर। धीमी धड़कनें अन्तिम विदा लेने की प्रतीक्षा में थीं; ऐसे वक्त अश्वत्थामा ने उसे समस्त पांडवों के विनाश की सुखद वार्ता सुनायी जिससे उसके प्राण आँखों में तथा ओठों में लौट आये। अधरोंपर फीकी मुस्कान थी; मन में आर्द्रता, आँखों में सुख की झाँक। अपने परम मित्रों के लिए उसने कृतज्ञता व्यक्त की; और एक ही समय वैर तथा स्नेह की दो परस्पर विपरीत अनुभूतियाँ महसूस करते हुए उसने अपनी आँखें मूँद लीं।

बचपन से व्यक्तित्व की रेखा ही खोया हुआ यह आदमी। मगर इस अंतिम दृश्य के आधार से धूसर-नीली रणभूमिपर, वैर तथा मित्रता के काले-श्वेत धब्बोंसे अंकित आकारहीन परंतु एक अति विशाल आकृति मैं देखती हूँ। साधारण योद्धा की यह आकृति इतनी विशाल है कि उसमें रणभूमि के तमाम वीर समाये हुए हैं। और आश्चर्य की बात है कि यद्यपि इस वीर का अन्तरंग संकुचित है तथापि इस विशालता के कारण महाभारत का प्रत्येक चरित्र उसकी मित्रता से—उसकी शत्रुता से—सम्बन्धित है। इसके मन की लघुता की वजह से ही यह युद्ध का प्रतीक हुआ। क्रूरता, क्षुद्रत्व, विनाश यही युद्ध की विशेषताएँ हैं। यही उसकी विशेषता थी। अर्जुन को कृष्ण ने गीता सुनाई; और अर्जुन जीत गया इसीलिए बहुतों को वह भारतीय युद्ध का नायक लगता है। मैं ऐसा नहीं समझती। भारतीय युद्ध का सच्चा प्रणेता और नायक है दुर्योधन। खलनायक होने पर भी नायक वही है। लेकिन वैसे देखा जाय तो युद्ध के नायक ही कहाँ होते हैं? युद्ध होते हैं केवल खल नायक के कारण ही न? •

अनु.: बाबा पुरळेकर



सखि, दीप धरो !

महेन्द्र भटनागर

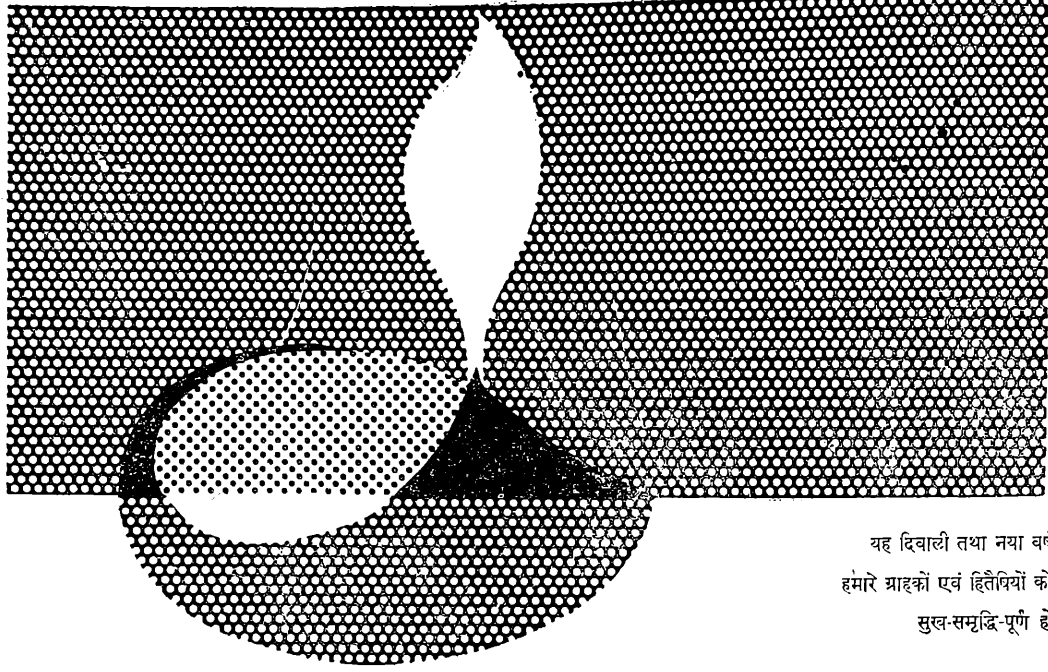
काली–काली अब रात न हो,
घनघोर–तिमिर बरसात न हो,
बुझते दीपों में हौले–हौले
सखि, स्नेह भरो !
सखि, दीप धरो !

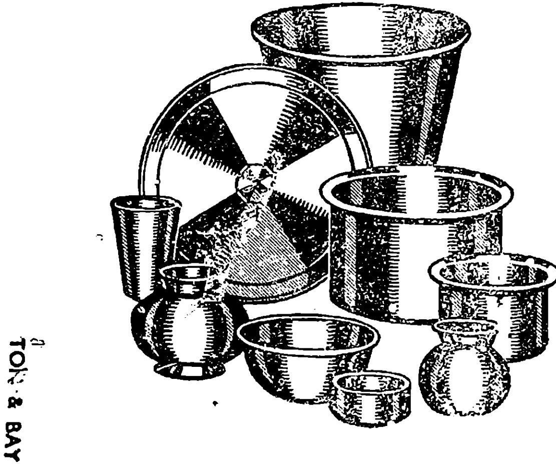
दमके प्रिय आनन हास लिए,
आगत नवयुग की आस लिए,
अरुणिम अधरों से हौले–हौले
सखि, बात करो !
सखि, दीप धरो !

बीते [illegible]हा के सजल बरस,
गूँजे मंगल नव गीत सरस,
घर आये प्रियतम, हौले-हौले
सखि, हीय हरो !
सखि, दीप धरो !





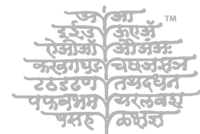





HAKAMCHAND
POONA


मराठीचा विकास: महाराष्ट्राचा विकास




मराठीचा विकास: महाराष्ट्राचा विकास



धूप के सुनहरे जाल में जगमग –

अनुक्रमणिका